Prachin Bharatiya Saran Indohari

पाचीन भारतीय शासन-पद्धति

A.S. Altaker.

77/33

Ac No. 1440
Date Call No. 304

लेखक

प्रो. अनंत सदाशिव अळतेकर, एम. ए., एळ. एल. बो., डी. लिट् प्राचीन इतिहास और संस्कृति विभाग के प्रधानाध्यापक, काशी विश्व विद्यालय।

320.10954



Bonores,

भारत दर्पण ग्रंथमाला ( प्रंथ संख्या १ )

प्रकाशक तथा विकेता भारती भंडार जीडर प्रेस, प्रयाग ।

> प्रथम संस्करण मृल्य— ४) संवत २००४

> मुद्रक सदाशिवराव चितळे आदर्श शेष, बनारस ।

1349 6au 20....934/ALT...

# प्रम्तावना

मेरे अंथ अभीतक प्रायः पहले श्रंप्रेजी में प्रकाशित हुए थे। पीछे उनका संस्करण मैंने अपनी मानुभाषा मराठी में प्रकाशित किया। मगर 'प्राचीन भारतीय शासन-पढ़ित' सर्वप्रथम हिंदी में ही प्रकाशित हा रही है। अनेक कठिनाइयों के कारण इसका अंग्रेजी संस्करण अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका। मराठी संस्करण तैयार हो रहा है। प्रथ का सर्वप्रथम हिंदी में प्रकाशित होना इस समय उचित ही है। निकट भविष्य में हिंदो राष्ट्र-भाषा के पद पर आरु होगी। इसिलिये हिंदि वासियों के लिए यह आवश्यक सा हो गया है कि उनके मौतिक प्रथ सर्वप्रथम हिंदी में ही प्रकाशित हों।

प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पर हिंदी में कोई ऐसा मंथ श्रमीन तक प्रकाशित नहीं हुआ है जो उसका सांगोपांग निरूपण करें। श्रमेजी में इस निषय पर अनक मंथ हैं किंतु वे उसके अनेक पहलुओं में से एक या कुछ पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। मगर भारतीयों के राज्यशासन निषयक तत्वों और सिद्धांतों का सांगोपांग निवेचन करके उनकी शासन-पद्धति का साधार और संपूर्ण वर्णन करनेवाला मंथ अब तक श्रमेजी में भी नहीं है। प्रस्तुत मंथ इस कमी को पूरा करने के दिए लिखा गया है।

इस प्रंथ की विशेषताओं पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना अनु चित न होगा। अथशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि के जो प्रंथ शासनपद्धति का विशेष रूप से विवेचन करते हैं, केवळ उन्हों के आधार पर यह प्रंथ नहीं लखा गया है। इन प्रंथों में अनेकविध व उपयुक्त साधन सामग्री तो मिछती है पर वह कहाँ तक वास्तविक थी और कहाँतक काल्पनिक इसके बारे में कभी-कभी संशय उत्पन्न हो सकता है। अतएव वैदिक, बौद्ध और जैन बाड्यय, राजतरंगिणी के समान प्राचीन इतिहास, मेगस्थेनीस, युआनच्वांग सदश विदेशी इतिहासकार तथा यात्रियों के वृत्तांत, प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों आदि साधनों से प्रत्यन्त ऐति-हासिक व सत्य से अधिक संबद्ध जो सामग्री प्राप्त होती है उसका भी सहारा छेकर प्राचीन भारतीय शासनपद्धित के साधार, सांगोपांग किंतु अनितिवस्तृत विवेचन करने का प्रयत्न हमने इस प्रथ में किया है। प्राचीन भारतीय इतिहास वैदिक, उपनिषद, मौर्य, गुप्त आदि कालखंडों में विभाजित है। विवेचित संस्थाओं और शासनतत्वों का विकास ऊपर निर्दिष्ट कालखंडों में किस प्रकार हुआ यह दिखाने का प्रयत्न प्रत्येक अध्याय में किया गया है। विभिन्न प्रांतों में शासनसंस्थाओं का विकास कभी कभी किस कारण भिन्न प्रकार से हुआ इस भी वतलाने का, जहाँ संभव था, प्रयत्न किया, गया है।

प्रथम श्रध्याय में प्राचीन भारत के राज्यशासन के प्रंथों का इतिहास देकर उनका स्वरूप और उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया हैं। राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई, उसके कौन-कौन से प्रकार थे, उनका स्वरूप क्या था, राज्य का ध्येय और कार्य क्या होना चाहिये आदि प्रश्नों के विषय में प्राचीन भारतीयों के क्या विचार थे, उनका परिचय द्वितीय और तृतीय अध्यायों में दिया गया है। चौथे अध्याय में राज्य और नागरिकों के परस्पर संबंध तथा विदेशियों और नागरिकों के भेदभाव किस प्रकार के थे, नागरिकों की विभिन्न श्रीणयों के अधिकार कहाँतक समान थे—इन विषयों का विवेचन किया गया है। इन अध्यायों का संबध इस प्रकार राज्यशासन के मूल सिद्धांतों से हैं।

इन अध्यायों में राज्यशासन के मूलभूत सिद्धांतों का विवेचन करके पंचम अध्याय से शासनपद्धति का वर्णन प्रारम्भ होता है। पंचम अध्याय में नृपतंत्र का विवेचन है। नृपपद का विकास कैसे हुआ, काळांतर में किस मर्थादा तक वह देवी माना जाने लगा, राजा के अधिकार कैसे सीमित किये जाते थे, उसम कितनी सफळता मिळती थी, आदि विषयों की चर्चा इस अध्याय में की गयी है।

गणतंत्रों या प्रजासत्तात्मक राज्यों की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, उनका विकास किस प्रकार हुआ, उनमें वास्तविक राज्य-सत्ता सामान्य जनता के हाथ में किस अंश तक थी, उनके कौन-कौन से प्रकार थे, तथा सरकार खौर लोकसभा एक दूसरे से किस प्रकार संबद्ध थे, गणतंत्रों का हास और विनाश कब और क्यों हुआ इत्यादि विषयों की चर्चा षष्ठ सध्याय में की गयी है। केंद्रीय लोकसभा के अधिकारों का विवेचन सप्तम अध्याय में है।

केंद्रीय सरकार की रूपरेखा का दिग्दर्शन अष्टम और नवम अध्यायों में है। मंत्रिमंडल की उत्पत्ति, सत्ता और कार्यपद्धित का वर्णन अष्टम अध्याय में दिया है। केंद्रीय सरकार और शासनाधिकारी कार्यसंचाळन किस प्रकार करते थे, प्रांतीय और जिले के शासकों का निरीचण, नियंत्रण और पर्यवेक्षण कैसे किया जाता था, श्रनेक शिलालेखों और प्रंथों में बिखरी हुई सामग्री के श्राधार पर, इन प्रश्नों का उत्तर इस अध्याय में दिया गया है।

दशम और एकादश अध्यायों में प्रांतों, जिलों, नगरें। और प्रामों के शासनप्रबंध का वर्णन और इतिहास दिया है। विभिन्न प्रांतों में इस विषय में कीन कीन से भेद थे इस प्रश्न का उत्तर भी, शिला लेखों से उपलब्ध सामग्री के आधार पर, इन्हीं अध्यायों में दिया गया है।

त्रयोदश अध्याय में सम्राट् भौर करद सामंतों के संबंध पर प्रधाश डाला गया है और यह भी बतलाया गया है कि स्वतंत्र राज्य परस्पर कैसा व्यवहार करते थे।

राजा, गणतंत्र, केंद्रीय सभा, इत्यादि जो राज्ययंत्र के विविध अंग है उनका विकास प्राचीन भारत में एक कालखंड से दूसरे कालखंड में केंसे हुआ उसका सम्यक ज्ञान पाठकों को पहले तेरह अध्यायों से ठीक तरह होगा। किंतु विविध कालखंडों में संपूर्ण राज्ययंत्र किस प्रकार था, इसका ज्ञान न होगा। इस प्रश्न का उत्तर चतुर्दश अध्याय के प्रथम खंड में दिया गया है।

प्राचीन इतिहास और संस्थाओं का ज्ञान हमें केवल ज्ञान के लिए ही प्राप्त न करना चाहिये; वरन इसलिए भी कि आधुनिक समस्याओं के हल करने में हमें उनसे कहाँतक सहायता मिल सकता है। अतएव अंतम अध्याय के दूसरे खंड में प्राचीन भारतीय शासनपद्धति के गुण दोष, उनसे राष्ट्र को क्या लाभ पहुँचा और कौन सी हानि हुई, स्वतंत्र भारत के नव विधान के निर्माण में हमें उनसे कुड़ लाभ हो सकता है या नहीं, इन प्रश्नों का विवेचन किया गया है।

यह पुस्तक एक संशोधनात्मक यंथ है। आशा है कि इसमें विशेषज्ञों को भी अनेक विषयों के बारे में कुछ नये सिद्धांत और निष्कर्ष ज्ञात होंगे। यंथ में प्रतिपादित सब महत्व के सिद्धांतें। और विधानों के लिये मूछ आधारभूत यंथों के संदर्भ या उद्धरण पादिष्यिणयों में दिये गये हैं। इनसे अन्वेषकों को अधिक अध्ययन की सामग्री मिलेगी। किंतु प्रंथ का छेखन तथा विषयप्रतिपादन इस ढंग से किया है कि साधारण सुशिक्तित लोग भी उसे पढ़ कर समक्त सकें तथा छाभ उठा सकें। संशोधनात्मक प्रंथ रोचक एवं सुबोध भाषा में लिखने का यह प्रयक्त कहाँतक सफछ हुआ है इसका निर्णय पाठक हो करेंगे।

मातृभाषा हिंदी न होने, तथा उसमें लिखने के अभ्यास के अभाव के कारण मेरे लिए हिंदी में अंथ लिखना कष्टमाध्य सा था। किंतु इस काय में मुझे मेरे भृतपूर्व छात्र तथा लखनऊ के 'स्वतंत्र भारत' के विद्वान् संपादक श्रीयृत अशोकजी, एम० ए०, ने अनमोल सहायता दी। इसके लिये में उनका बहुत कृतज्ञ हूँ। संभव है कि पाठकों को कुछ स्थानां पर मराठी भाषा के विशिष्ट शब्दों (जैसे Trustee के लिये विश्वस्त. Tribute के लिए खंडणां) वा वाक्य-रचनाओं का आभास हो। जब हिंदी राष्ट्रभाषा होगी, और उसमें मराठी, गुजरातो, बंगाली आदि भाषाभाषी लिखने लगेंगे, तब कुछ अंश तक उसका स्वरूप बदलना अनिवाय सा हो जायगा। अमेरिका की अंग्रेजी में जैसे 'अमेरिकॅनिजम' आती है वैसे ही महाराष्ट्रियों का हिंदों में कुछ मराठीपन' अवश्य आयेगा। आशा है कि हिंदी को अंततोगत्वा उससे लाभ ही पहुँचेगा।

राज्यशास्त्र विषय के अनेक शब्दों के हिंदी प्रतिशब्द अभीतक निश्चित नहीं हुए हैं; Republic, Democracy, Oligarchy, Political obligations आदि शब्दों के हिंदी प्रतिशब्दों के विषय में अभी तक हिंदी लेखक एकमत नहीं है। ऐसे शब्दों के निर्माण तथा निश्चित करने में मुझे मेरे सहाध्यापक प्रो० कन्हैयानाल वर्मा, में केशवप्रसाद मिश्र, प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा और डॉ० राजवली पांडे से सहायता मिली। इसिलये में उनको धन्यवाद देना चाहता हूँ। नये बब्दों के निर्माण में स्वभावतः संस्कृत भाषा के शब्दमहार का आश्रय लेन। पड़ा। इन सब शब्दों की सूची परिशिष्ट नं० १ व २ में ग्रंथ के अंत में दी गयी है। पुस्तक पढ़ने के पूर्व यदि पाठक पहले हिंदी की श्रीर तत्पश्चात् अंग्रेजी की सूची देखें तो मुझे श्राशा है कि उन्हें ग्रंथपठन में सहायता मिलेगी।

संस्कृतादि भाषात्रों के प्राचीन मंथकारों व मंथों और प्राचीन इतिहास के अनेक राजात्रों और राजवशों का काल सामान्य पाठकों को विदित नहीं होता। मंथ में उनका अनेक बार उल्लेख करना आवश्यक था। अनेक स्थानां में उनका काल भी काष्टों में दिया गया है। कितु पाठकों के सुभीते के लिए परिशिष्ट ३ में इन सबको काल-सूचो अकारा दिक्रम से दी गयी है। आशा है उसके कारण पाठकों को अंथपठन में बड़ा सहायता मिलगी।

पाद टिप्पणियों में यंथों के नाम का उल्लेख संदोप में करना अपरि-हाय है। संक्षित यंथ-नामों की अकारादिकम से सूची परिशिष्ट ४ में दा गया है। उसे भी पाठक छपया प्रथम देखें! परिशिष्ट ४ में आधार-भूत संस्कृत नथा अंग्रेजी अंथों क नाम दिये गये हैं। परिशिष्ट ६ में विम्तुन वर्णानुकर्माणका दी गयी है जिससे पाठकों को प्रथांतगत कोई भी विषय असाना से मिल जायगा।

मरे सहाध्यापक और राज्यशास्त्र के अध्यापक तो कन्हें या छात वर्मा जा न इस ग्रंथ की पांडालिप संपूर्ण पढ़ा और उसका भाषा, शब्द याग और सिद्धांतां के बार में मुझे अनेक महत्व की सूचनाएँ दो। में उनका बहुत आभागी हूँ। मेरे दूसरे सह ध्य पक और भूतपूर्व शिष्य प्रो० अवध किशोर नारायण ज ने मुझे इस ग्रंथ के मुद्रिन (प्रफ) देखने में और शुद्धिपत्र बनाने में बहुत महायता की है, जिसके लिये मैं उनकी धन्यवाद देता हूँ।

इस मथ के सर्वप्रथम हिंदा में प्रकाणित होने का श्रेय मेरे मृतपूर्व छात्र और भारती संखर मथमाला के बिद्वान् संपादक पहित बासुदेव उपाध्याय जा को है। यदि वे प्रेमादर से इस मंथ के लखन म मुझे बलात् नियोजित न करते ने वह इतनी जल्दी प्रकाशित न होता। सुझे विश्वास है कि इस प्रथ के प्रकाशन से हिंदा भाषा-भाषियों का प्राचीन भारताय शासनपद्धति का संपूषा और साधार ज्ञान प्राप्त होगा और इमारा सम्झति के एक अग के गुग दार्षा का विश्वसनाय चित्रामलेगा।

काशः विश्वविद्यात्स्य बसंत पंचमी सं०२००४ १४-२-१९४=

अनंत सदाजिब अकतेकर

# विषय-सूची

अध्याय विषय				Ę.
🤋 राज्यशास्त्र के श्राचार ग्रन्थ	•		•	9
२ राज्य की उत्पत्ति और प्रकार				11
३ राज्य का उद्देश्य, स्वरूप श्रीर कार्यं .		•		२२
४ राज्य भीर नागरिक				30
🗴 नृपतंत्र		j•		४६
६ गणराज्य या प्रजातंत्र				६८
७ केंद्रीय छोक-समा				3.8
🛱 मंत्रि-मंदळ		11.		209
६ केन्द्रीय शासन-कार्यात्वय व शासन-विभाग	•			8 78
१० प्रांतीय, प्रादेशिक, जिका और नगर शासन व्यवस	था		* 15,00, *	१५३
११ प्राम-शासन-पद्धति .		• - 1	•	१६८
१२ भाव और व्यय				1=0
१३ अंतर-राष्ट्रीय संबंध				238
१४ सिंहावलोकन भीर गुणदोप विवेचन .	340			280
परिशिष्ट १, विशिष्टार्थक शब्दसूची-हिंदी-अंग्रेजी	10			388
परिशिष्ट २, विशिष्टार्थंक शब्दसूची-श्रंग्रेजी हिंदी				२५१
परिशिष्ट ३, काल-सूची				२४३
परिशिष्ट ४, संचित्र प्रय-नाम सुची .				२५६
परिशिष्ट ५, आधारभृत ग्रंथ				
परिशिष्ठ ६, वर्षानुक्रमणिका				२१⊏
परिशिष्ट 💌 शुद्धिपत्र		•		949
प्रस्तुत प्रंथकार के अन्य ग्रंथ	*		•	₹@\$
नामान अनवार के अत्य प्रय				308

# प्राचीन भारतीय शासन पद्धात

## अध्याय १

#### राज्य-शास्त्र के आधार-ग्रंथ

इस ग्रंथका विषय प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र और ज्ञासन की रूप-रेखा है। उसको ग्रुरू करने से पहले यह बताना आवश्यक है कि किन ग्रंथों और साधन-सामग्री के सहायता से हमको इस विषय का ज्ञान हो सकता है। इससे पता चल जायगा कि इस कार्य में हमें किन कठिनाइयों का सामना करना और किन सीमाओं के भीतर रहना है।

खास राज्य-शास्त्र का वाङ्मय हमें ५०० ई० पू० के पहले नहीं मिलता। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि व्याकरण निरुक्त और ज्योतिष ऐसे अर्ध-लौकिक और अर्ध-धार्मिक विषयों के स्वतंत्र वाङ्मय का विकास भी ८०० ई०पू० के आसपास ही आरंभ हुआ। अतः ६०० ई०पू० के पहिले राज्यशास्त्र के स्वतंत्र वाङ्मय की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

वैदिक और ब्राह्मण काळ में राज्यशास्त्र के ग्रंथ न होने पर भी वैदिक वाङ्मय भर में इतस्ततः स्फुट वचन मिलते हैं जिनसे तत्कालीन राज्यशास्त्र और व्यवस्था का थोड़ा परिचय मिल जाता है। ऋग्वेद में तो राज्यशास्त्र विषयक उल्लेख बहुत कम हैं । पर अथर्व वेद में उनकी संख्या पर्याप्त है। परंतु उनका संबंध मायः राजा से ही अधिक है । यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मणों में राज्याभिषेक तथा राज्यारोहण या उसके बाद किये जाने वाले यज्ञों

१ निम्निकिसित स्थल विशेष महत्व के हैं। १०.१६१; १०.१७६; १०.१६६; १०.१२४.८; १०.६७,६; १०.७८.१; ४.४२; १.६२,६; ७.६,४; ६.२८. ६; ४.४; १; ३.४१.४; १.२४.१०—१४; १.६७. १; १.२४.८; तथा १,१६०-१।

२ निम्नकिखित स्थान महत्व के हैं। ३,४-४; ६.८८; ४,१६; ७,१२;६,४०,२; २०,१२७;४,२२;१६.३१; ८,१०;८,१३.

का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। इसके राजपद की प्रतिष्ठा कैसी थी, राजकर्मचारी कीन थे, प्रजा से कौन-कौन से कर वस्ल किये जाते थे इत्यादि विषय में बहुत अच्छी जानकारी प्राप्त होती है । इनमें बहुत से ऐसे स्थल भो हैं जिनमें विभिन्न जातियां के परस्पर संबंध, अधिकार और स्थिति का विवेचन है जिससे भी राज्यतंत्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

ई० पू० ८ वीं शताब्दी से व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष आदि विषयों का विशेषाध्ययन शुरू हुआ। इन विषयों के पंडित अपने-अपने विषयों पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखने लगे जिनसे अध्ययन-अध्यापन का कार्य सुकर होने लगा। राज्यशास्त्र का आरंभ भी इसी युग में हुआ, परंतु उपर्युक्त विषयों के बाद संभवतः धर्मशास्त्र के साथ। दुर्भाग्यवश इस विषय के सब प्राचीनतम ग्रंथ जो संभवतः ई० पू० छठीं शताब्दी में रचे गये, नष्ट हो गये।

राज्यशास्त्र के निर्माताओं के सिर्दातां और ग्रंथों के परिचय हमें केवल महाभारत और कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही होता है। यद्यपि इन दोनों ग्रंथों के विषय, रूप, दृष्टिकोण और परंपराएँ भिन्न हैं फिर भी इनमें उल्लिखित पूर्व सूरियों के नामों में त्रांतर नहीं है। महाभारत का इस विषय का वृत्तांत प्रायः दंतकथात्मक ही है। इसमें कहा गया है कि प्रारंभ में ब्रह्माजी ने उस समय फेली हुई अराजकता का अंत करके समाज व्यवस्था पुनः स्थापित करने के बाद १ लाख क्लोकों में विशाल राज्यशास्त्र की रचना की। इसे क्रमशः शिव विशालाज्ञ, इंद्र, बृहस्पित तथा शुक्र ने संचेप किया । राज्यशास्त्र के अन्य ग्रंथकारों में मनु, भारद्वाज और गौरशिरस का भी उल्लेख है।

इन देवताओं के नामों से यह न समझ लेना चाहिये कि इन प्रंथों का अस्तित्व केवल महाभारतकार अथवा कौटिल्य की कत्पना में ही था। प्राचीन भारत के लेखकों की यह प्रथा थी कि वे बहुषा स्वयं अशात रहकर अपने प्रंथों पर देवताओं या पौराणिक ऋषियों के नाम दे दिया करते थे। मनुस्मृति, याज्ञवल्यस्मृति, पराश्चरस्मृति तथा शुक्रनीति आदि ग्रंथों के नाम इसके उदाहरण हैं।

इस निष्कर्ष की पुष्टि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी होती है; जिसमें

१ ते० स० ३.४-४; द.९.१; का० सं० ३१.१०; १४.४; श० त्रा० १.७.३.४; ४.३.१.१; ३.३.६-६; ४.४.७; ६.३.४.४; १३.१.६.८; २.९.२-४; ४.७.१; ऐ० त्रा० १.१४; २.३३; ८.१०-१२; १४; २३; ३१; प० त्रा० १६.४.

२ इांतिपर्व ४७;४८.

श्रनेक स्थलों में विशालाच, इंड (बहुदंत), बृहस्पति, शुक्र, मनु, भारद्वाज और गौरशिरस् का उल्लेख करके इनके मंतव्यों पर विचार किया गया है। इनके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में पराशर, पिशुन, कौणपटंत, वातव्याधि, धोटमुख, कात्यायन, और चारायण आदि राज्यशास्त्र के प्रणेताश्रों की भी उल्लेख है।

अन्य शास्त्रों की माँति राज्यशास्त्र में भी विभिन्न परंपराएँ थीं । कुछ मनु प्रजापित को अपना गुरु मानते थे, कुछ देवगुरु बृहस्पित को, कुछ उनके प्रतिद्वंदी असुरों के आचार्य शुक्र उशनस् को। कुछ ब्रह्मा के अनुयायी थे तो कुछ इह के और कुछ शिव के। प्रारंभ में शास्त्र के प्रवेशार्थियों के लिए सूनों की रचना हुई होगी बाद में इन्हें विशद ग्रंथों का रूप दिया गया। ये ग्रंथ लिखे तो गये मनुष्यों द्वारा पर नाम इन पर देवताओं या ऋषियों के दिये गये।

दुर्भीग्यवश इनमें से कोई ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि कुछ ग्रंथों की सामग्री तो महामारत के शांतिपर्व के राजधर्म अध्याय में समाविष्ट कर ली गयी और बाकी ग्रंथ कौटिल्य की अनुपम रचना अर्थशास्त्र द्वारा पहले पिछाड़े गये ंऔर पीछे छप्त हो गये। फिर भी कुछ ९ वीं शताब्दी तक उपलब्ध थे, क्योंकि सुरेश्वराचार्य कृत याज्ञवलक्यस्मृति की बाल-कीड़ा टीका में विशालाच का एक श्लोक उद्धृत किया गया है?।

फिर भी अर्थशास्त्र के उल्हें खों से उपर्युक्त छुत ग्रंथों के स्वरूप का अंदाज लग जाता है। राज्यशास्त्र इस समय अध्ययन का नया विषय था इसलिए अनेक ग्रंथकार वेद, दर्शन तथा वार्ता के मुकाबले राज्यशास्त्र के महत्व की चर्चा से ही अपने ग्रंथ आरंभ करते थे। उशनस्तो यहाँ तक कह गये हैं कि संसार के सब शास्त्रों में केवल राज्यशास्त्र ही अध्ययन योग्य विषय है।

इन प्रंथों में नृपतंत्र का ही विवेचन है और आदर्श राजा के गुणों और उसकी शिचा के वर्णन ने ही अधिकांश स्थान ले लिया है। कोश, बल और दुर्गों के संबंध में उठनेवाली कठिनाइयों का भी सविस्तर वर्णन है। मंत्रिमंडल के कार्य और रूप रेखा का भी विशद वर्णन मिलता है और शांत दाता है कि मंत्रियों की संख्या और गुणों के बारे में काफी मतमेद था। राष्ट्रनीति के

१ देखिये पृष्ठ ६, १७, २७-२६, ३२-३, ६३, १७७, १९२, २४६, २४४, ३२२, ३२८-३०, ६७५, ३८२ ( अर्थेशास्त्र हा० शामशास्त्री संपादित द्वितीय संस्करण )

३ अर्थशास्त्र (त्रिवेदम् सं० सी०) भाग १ भूमिका पृष्ठ ६

सिद्धांतों की भी विवेचना की गयी है। भारद्वाज की राय बळवान के सामने झुक जाने की है तो विशालाच्च के मत में लड़ते लड़ते मर मिटना ही श्रेयस्कर है। वातव्याचि ने षाड्गुण्य के सिद्धांत को अस्वीकार और द्वेगुण्य का समर्थन किया है। माल्स्म होता है इन ग्रंथकारोंने करव्यवस्था संबंधी प्रश्नोंपर विचार नहीं किया, कम से कम अर्थशास्त्र में इस विश्य पर इनके मंतव्यों का उल्लेख नहीं है। राज्य की आय तथा प्रांतीय कर्मचारियों पर नियंत्रण के प्रश्न पर विचार किया गया है परंतु स्थानीय शासन का विश्य छोड़ दिया गया है। इन ग्रंथा में दंड और व्यवहार ( दीवानी और फौजदारी ) चोरी, डकैती, गवन आदि अपराधों के लिए दंड की व्यवस्था भी है। अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे ग्रंथ कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पूर्ववर्ती थे और उनमें अर्थशास्त्र के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और सप्तम अध्याय में वर्णित विषयों का विवेचन था। अवस्य ही अर्थशास्त्र का विवेचन उनकी अपेच्चा बहुत गहरा है।

महामारत भी राज्यशास्त्र का महत्वपूर्ण आकर ग्रंथ है। शांतिपर्व के राजधर्म-पर्व के अध्यायों में राजा के कर्तव्यों और शासन-व्यवस्था के अनेक ग्रंगों का अत्यंत विशद वर्णन है। इसमें राज्यशास्त्र की महत्ता का वर्णन है (अध्याय६३-६४) और राज्य तथा राजतंत्र की उत्पत्ति पर महत्त्वपूर्ण सिद्धांत स्थापित किये गये हैं (अध्याय ५६, ६६, ६७)। कई अध्यायों में राजा और मंत्रियों के कर्तव्यों और उत्तरदायित्व का वर्णन है। (५५-५६, ७०-७१, ७६, ६४, ६६, १२०)। छ अध्यायों में कर व्यवस्थाका विवेचन है (७१, ७६, ८८, ६७, १२०, १३०), परंतु राजकर्मचारियों के कर्तव्यों का विवरण अर्थशास्त्र (अध्याय २) के समान विशद नहीं है। स्वराष्ट्र शासन-व्यवस्था का वर्णन संत्रेग में एक अध्याय में है (८०), परंतु परराष्ट्र नीति और संधि-विग्रह विषय को अधिक स्थान दिया गया है (अध्याय २०, ८६, ६६, १००-१०३, ११० और ११३)। निस्संदेह महाभारत का राजधर्म विभाग का विवेचन पूर्ववर्ती ग्रंथकारों से अधिक सविस्तर और संगोपांग है। संभवतः इसमें उनके कुछ सिद्धांत और कुछ क्षोकों का भी समावेश हुआ है।

शांति पर्व के राजधर्म पर्व के अध्याय के अतिरिक्त भी महाभारत के कुछ अध्यायों में राज्यतंत्र पर विचार किया गया है। सभा पर्व के ध्रवें अध्याय में

१ देखिये — सर्थशास्त्र में पृष्ठ ६, ६८, १४७, १६१, १८४, १६२, १६६ और १६८।

आदर्श राज्य व्यवस्था का सरस और सुंदर वर्णन है। आदिपर्व के १४२ वें अध्याय में विशेष परिस्थितियों में राज्य-कारभार में कूटनीति का भी समर्थन किया गया है। सभापर्व के ३२ वें और वनपर्व के २५ वें अध्याय में आपद्ध में का बड़ा मनोरंजक विवेचन है।

महाभारत के पश्चात् कौटिल्य का प्रसिद्ध अर्थशास्त्र का उल्लेख करना क्रमप्राप्त है। वह राज्यशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह भी उपर्युक्त ग्रंथों की श्रेणी में आता है परंतु इसमें सब विषयों का पूर्ण सविस्तर विवेचन किया गया है, पहले के आचार्यों के मतों पर विचार किया गया है और अपने मत स्थिर किये गये हैं। प्रथम विभाग में नृपतंत्र से संबद्ध विषयों का विचार है। दूसरे विभाग में अनेक अधिकारियों का कर्तव्यत्तेत्र और अधिकारों का वर्णन किया गया है। अगले दो विभागों में दीवानी तथा फौजदारी कानून, दाय विभाग तथा रस्मरिवाजों का विवेचन है। पाँचर्वे विभाग में राजा के अनुचरों के कर्तव्यों का वर्णन तथा छठवें में राज्य के सप्त प्रकृतियों के स्वरूप और कर्तव्यों का विधान है। शेष ६ विभागों में परराष्ट्रनीति—विभिन्न राजाओं से संबंध, उनको पराभृत करने के उपाय, संधि-विग्रह के उपयुक्त अवसर, युद्ध चलाने के तरीके, शत्रुओं में फूट डालने के उपाय आदि का विश्वद वर्णन है।

अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य शासन कार्थ में राजा को मार्गनिर्देशन करना या। तृपतंत्र या शासनव्यवस्था के मूल सिद्धांतों का दार्शनिक विवेचन उसमें नहीं मिलता है। शासन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाना हो इसका उद्देश्य या और युद्ध तथा शांतिकाल में शासन यंत्र का क्या स्वरूप और कार्य होना चाहिये इसका जैसा व्योरेवार वर्णन अर्थशास्त्र में हुआ है वह बाद के ग्रंथों में—गुक्रनीति के अतिरिक्त –और कहीं नहीं मिलता।

अर्थशास्त्र के रचनाकाल के बारे में बड़ा मतभेद है। सर्वश्री स्यामशास्त्री गणपत शास्त्री, न० ना० लॉ, हिमथ, फ्लीट और जायसवाल के मत स यह चंद्रगुप्त के प्रख्यात मंत्री कौटिल्य की ही कृति है। परंतु सर्वश्री विटरनित्श जॉली, कीथ और देवदत्त मांडारकर का मत है कि प्रस्तुत ग्रंथ बहुत बाद में ईसवी सन् की पहली कुछ शताब्दियों में लिखा गया । दोनों में से किसी

<sup>3</sup> वयामशास्त्री— प्रथेशास्त्र की भूमिका; जायसवाब — हिंदू-वॉलिटी, प्रवेदिक्स सी ०; लॉ—कलकत्ता रिच्यू, १६२४, अर्थशास्त्र का परपरागत काल, ई० पू० ३००, स्वीकार करते हैं। मगर जॉली — इंट्रोडक्शन दु अर्थशास्त्र, कीय—संस्कृत जिटरेचर, पृष्ठ ४४% से, तथा विंटरनिस्थ, गेशिरस्ट हर इंटेर जिटरेचर भाग ३, अर्थशास्त्र इससे बहुत आर्वाचीन समस्त्री हैं।

की पुष्टि में पक्के प्रमाण नहीं मिलते और बाद में ग्रंथ में थोड़ी-बहुत जोड़-जाड़ है होने के कारण इसके रचनाकाल की समस्या और भी उलझ गयी है। विंटरनित्रा आदि का कहना है कि यदि ग्रंथ चंद्रगुप्त मीर्थ के मंत्री कौटिल्य प्रणीत है तो इसमें यूनानी इतिहासकारों द्वारा वर्णित मीर्थ साम्राध्य और शासनव्यवस्था का उल्लेख क्यों नहीं मिलता। इसमें नगर की प्रबंध-समितियों और विदेशियों की देख-रेख का जिक्र भी नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें कौटिल्य का नाम अन्य पुरुष में प्रयुक्त है इससे भी स्पष्ट है कि इसका लिखनेवाला कोई और ही था।

श्यामशास्त्री और जायसवाल इसके विरोध में कहते हैं कि पुस्तक के अंत
में स्पष्ट लिखा हुआ है कि नंदों का उच्छेद करनेवाले कौटिल्य ने इसकी रचना
की हैं। यह कहना भी गलत है कि प्रंथकार मौर्थ साम्राज्य के विस्तार से
अपिरिचित या क्योंकि उसने लिखा है कि भारत में साम्राज्य की सीमा हिमालय
से लेकर समुद्र तक हो सकती है। ग्रंथ का लक्ष्य औसत या साधारण राज्यतंत्र
का वर्णन करना था। विशाल साम्राज्य की स्थापना तो भारत के इतिहास की
असाधारण घटना थी अतः उसका विशेष वर्णन नहीं किया गया है। अवस्य ही
अर्थशास्त्र में केवल विभिन्न विभागों के अध्यक्षों का ही उल्लेख है, नगर
पंचायतों का वर्णन संभवतः इसल्यि नहीं किया गया होगा कि वे गैरसरकारी
संस्थाएँ थीं। भारतीय ग्रंथकारों में अपने नाम का प्रथम पुरुष के बजाय
अन्य पुरुष में उल्लेख बहुत साधारण बात है, इसल्य कौटिल्य के नामोल्लेख
से ही सिद्ध नहीं होता कि ग्रंथ कौटिल्य का रचा नहीं है।

कौटिल्य ने जिल समाज का चित्रण किया है उसमें विधवाओं के नियोग और पुनर्विवाह रूढ़ थे, विवाहविच्छेद अहात नहीं था और लड़िक्यों का विवाह ऋतुपाप्ति के पश्चात् प्रौढ़ावस्था में होता था। यह स्थिति मौर्ययुग में थी। बौद्धों के प्रति अवहा (पृष्ठ १९६) तथा परिवार का प्रबंध किये बिना मिद्धु होने को मनाही (पृष्ठ ४८) भी यह बताती है कि ग्रंथ की रचना ऐसे समय हुई जब बौद्ध वर्भ राजधर्म नहीं बन गया था परंतु उसका प्रचार इतना था कि लाग परिवार छोड़कर मिद्धु बनने को उद्यत रहते थे। ग्रंथ में राज-कर्मचारी के लिये अनेक बार 'युक्त' शब्द का प्रयोग हुआ है। अशोक के शिलालेखों में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, परंतु बाद में इसका चलन न रहा।

इन एवं वार्तों तथा ग्रंथ-समाप्ति के श्लोक से यह तो सिद्ध है कि कम से कम ग्रंथ का मूळ भाग मौर्यकाल का ही है और उसके कौटिल्य के ही विचार [ 8

हैं। बाद में उसमें इधर-उधर कुछ संशोधन होते रहे। जैसे ग्रंथ में चीन का उल्लेख अवश्य ही बाद का है क्योंकि २०० ई० पू० में चीन देश के बारे में यह नाम रूढ़ नहीं हुआ था। इसी प्रकार सुरंग शब्द वाले स्थल भी बाद के हो सकते हैं, चूँकि ग्रीक 'सिरिक्स' से ही यह शब्द निकला है। ए० २५५ में कौटिल्य के मुकाबले भारद्वाज के विचार रखे गये हैं। इसका उद्देश्य निष्पच्रू पे दो विरोधी सिद्धांत उपस्थित करना भी हा सकता है, परंद्र यदि भारद्वाज को प्रधानता देना उद्देश्य हो तो यह अध्यायभाग भी बाद में जोड़ा गया हो सकता है।

इस प्रकार के कुछ वाक्यों या अध्यायों को छोड़कर प्रंथ का शेष भाग अवश्य ही मौर्यकालीन और कौटिल्यकृत है।

कौटिल्य कोरे राजनितिज्ञ ही नहीं वरन राजनीति के एक संप्रदाय के संस्थापक थे इसीसे उनका और उनके ग्रंथ का बाद के युग में भी सम्मान होता रहा। राजनीति के वाङ्मय में अर्थशास्त्र का नहीं स्थान है जो व्याकरण शास्त्र में पाणिनि की अध्यध्यायो का । पाणिनि की माँति कौटिल्य ने समस्त पूर्ववर्तियों को परास्त कर दिया और उनके ग्रंथ धीमे-धीमे उपेचित तथा विकुप्त हो गये। पाणिनी की रचना इतनी श्रेष्ठ है कि परवर्ती वैयाकरण उसके आगे बढना असंभव समझते थे। यहा भाव कौटिल्य के प्रांत भी राज्यशास्त्र के विद्वानों का था । यही बाद में राज्यशास्त्र के मौलिक मंथों का अभाव होने का एक कारण है। इस अभाव का एक और कारण हो सकता है। २०० ई० पू० से २०० ई० तक रचित मनु, विष्णु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में राजा के कर्तव्य, राजकर्मचारियों के कार्य, दंड और व्यवहार्शवधान, परराष्ट्रसंबंध आदि विषयों का विवेचन किया गया है। यह विवेचन अर्थशास्त्र के समान विस्तृत तथा गंभीर न होते हुए भी साधारण व्यवहार के लिये यथेष्ट था। उपर्युक्त स्मृतियों में इन विषयों के अतिरिक्त वर्ण, आश्रम, प्रायश्चित्त जैसे विषयों का विवेचन भी मिलता था, अतः विशुद्ध राज्यशास्त्र के प्रंथों की अपेचा वे प्रंथ अधिक उपयक्त और लोकप्रिय हुए।

उपर्युक्त स्मृतियों में शासनसमस्याओं का स्थूलरूप से ही विचार किया

९ संस्कृत वाक्मय में एक और अर्थशास्त्र—बाईस्पर्य अर्थकास्त्र है। यह बहुत बाद की रचना है और इसमें कुछं भी नवीनता नहीं है। इसकी रचना संभवत: १२वीं शताब्दी में किसी निम्न कोटि के व्यक्ति ने की और इस पर नाम दे दिया बुहस्पति का जो इस शास्त्र के आदि आचार्यों में हैं।

गया है। यदि देश में गंभीर राजनीतिक चिंतन होता रहता तो अवस्य ही ये ग्रन्थ अपर्याप्त सिद्ध होते और नये ग्रन्थों की रचना होती। पर ऐसा न हुआ। अर्थशास्त्र, मनुस्मृति इत्यादि ग्रन्थों के द्वारा राज्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ का स्वरूप सदा के लिये निश्चित हो गया। बाद के युग में नये सिद्धांत स्थापित ही नहीं किये गये। इसका कारण बाद के विद्वानों की बुद्धि का धर्म और नीति से अत्यधिक प्रभावित होना ही हैं। पहले के आचार्यों का मत या कि राजा प्रजा का म्वक है और अत्याचारी राजा को मारना पाप नहीं। यदि राज-इत्या के प्रश्न पर विशुद्ध लौकिक और व्यवहारिक दृष्टिसे विचार किया गया होता तो बहुत से नये सिद्धांत और ग्रंथ रचे गये होते। प्रजा के सेवक होने के कारण राजा के क्या कर्तव्य हैं, राजा यदि निरंकुश शासन करने लगे तो प्रजा उसका वैधानिक या व्यावहारिक प्रतिकार कैसे करे, किस स्थिति में प्रजा राजनिष्ठा-कर्तव्य से मुक्त होती है और राजा को कर देना बंद कर सकती है, किस प्रकार जनमत प्रभावो हो, राजवध के आत्यंतिक उपाय से पहिले प्रजा कौनसे सौम्य उपाय व्यवहार में ला सकती है। राजसैन्य के मुकाबले में वे कहाँतक सफल हो सकते हैं, ये सब ऐसे प्रश्न हैं, जिन्हें विचारने से अनेक नये सिद्धांत प्रकाशित हुए होते और इस विषय पर बाद की शताब्दियों में प्रचुर साहित्य रचा जाता। परन्तु हमारे आचार्यों ने केवल धार्मिक और नै।तक दृष्टिसे ही इस प्रश्न पर विचार किया । राजाका कर्तेंच्य तनमनधनसे प्रजापालन या । यदि वह करींच्यसे च्युत होता है तो देवता उसे दंड देंगे। प्रजा के पास उसके प्रतोकार का कोई व्यवहारिक उपाय नहीं था। अनेक स्थलों पर यह कहा गया है कि दुराचारी राजा पागल कुत्ते की भांति वध्य है, परन्तु कैसे और किनके द्वारा यह नहीं बताया गया। काव्य और दर्शन शास्त्र में भारतीयों की इस समय नवनवो-न्मेषशाब्दिनी प्रतिमा गुप्तोत्तर युग में इस द्वेत्र में न जाने कैसी निस्तेज सी हो गयी।

उस्कीण हेखों से पता चलता है कि स्थानीय शासन और करव्यवस्था में देश के विभिन्न भागों में बहुत वैभिन्य था। विभिन्न राज्यों में समय समय पर नये नये कर लगाये जाते थे और भिन्न भिन्न प्रांतों में स्थानीय शासन का विकास भिन्न प्रकार से हुआ था। इन नये विषयों पर भी नये मंथ लिखे जा सकते थे। पर ऐसा संभवतः इसिलए नहीं हुआ कि कर और स्थानीय शासन विभिन्न प्रदेशों की प्रथाश्रों के अनुसार होते थे और राज्य शास्त्र के प्रमाणभूत ग्रंथों में इन स्थानीय विभिन्नताआ का स्थान नहीं दिया जाता था।

मीर्य शासनपद्धति से गुप्तों की शासनपद्धति काफी विभिन्न थी; आगे चलकर हर्ष और उसके उत्तरकालीन राजाओं के सभय में भी इस दोत्र में कुछ फेरफार हुए। इस विषय पर प्रंथ लिखे जा सकते थे। किंतु ऐसा नहीं हुआ। मालूम होता है कि राज्यशास्त्रकों की सम्मति में ये फेरफार विशेष महत्व के नहीं थे, इसलिये नये प्रथ नहीं लिखे गये।

कुछ लोगों का अनुमान है कि कौटिल्य के बाद राजनीति के ग्रंथों के अभाव का कारण ई॰ पू० २०० से २०० ई० तक के विदेशी आक्रमण और विदेशी राज्यों की स्थापना है। परंतु यह ठीक नहीं क्योंकि यूनानी, शक, पहलब कुशान राजाओं के राज्य पंजाब के परे बहुत थोड़े समय तक ही रह सके। मध्यदेश और बिहार, जो ५०० ई० पूर्व स हो आये संस्कृति के केंद्र थे, विदेशी राज्य से मुक्त ही रहे।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईसा के प्रथम सहस्राब्द में राजनीति के साहित्य-त्तेत्र में मौलिक ग्रंथों के अभाव के कारण कौटित्य के अर्थशास्त्र का सर्वेकष प्रभाव, राजनीतिक चितन का अभाव और शासन-व्यवस्था में किसी महत्वपूर्ण विकास का न होना हो था। कुछ एक मामूली ग्रंथ या संग्रह अवश्य बनाये गये परंतु उनमें कोई नई बात न थी।

परवर्ती काल में जो कुछ ऐसे ग्रंथ रचे भी गये उन पर अर्थशास्त्र की ही धाक स्पष्ट दिखाई देतो है। उदाहरण के लिए कामंदकीय नीतिसार को लीजिये जो संभवतः गुप्तकाल में ५०० ई० के आस-पास लिखा गया। यह कौटिल्य के ग्रंथ का छंदोबद सच्चेपीकरण मात्र हैं। इसके गुप्तनाम लेखक ने इसे अनुष्टुप छंद में इसीलिए बाँघा कि विद्यार्थी इस प्रामाणिक ग्रंथ को कंठस्थ कर सकें। परंतु इस ग्रंथ में शासनन्यवस्था का वर्णन नहीं किया गया है। राज और उसके परिवारों के वर्णन ने ही सारी जगह छेक ली है इससे पता चळता है कि इस समय नृपतंत्र कितना शक्तिशाली हो चुका था। अर्थशस्त्र का गणतंत्रवाद्या अध्याय इसम हे ही नहीं क्यांकि संभवतः इस समय तक गणन्तत्रों का अस्तित्व ही मिट चुका था। दोवानो और फौजदारी कानून, दार्यावभाग, वर्णन्यवस्था इस्यादि विषय भी छोड़ दिये गये हैं क्यांकि स्मृतिकारों ने इसे अपना विशेष विषय बना लिया था।

शुक्रनीति भी प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र के अध्ययन के लिए बड़े काम की है। इसकी रचनातिथि अनिश्चित है। अन्य ग्रंथों के समान इसमें भी राज्य अथवा शासन तंत्र का सैद्धांतिक विवेचन नहीं किया गया है परंतु इसमें शासनव्यवस्था का जैसा संगोपांग विवरण है वैसा अर्थशास्त्र के बाद के निसी अन्य ग्रंथ में नहीं है। इस ग्रंथ के समय तक गणतंत्रों का नामनिशान मिट
चुका था अतः इसमें भी नृपतंत्र का ही धर्णन है। राजा और उसके मंत्रियों
तथा कर्मचारियों के कार्यों के अतिरिक्त इसमें परराष्ट्र और राजनीति का वर्णन
बड़े विस्तार से किया गया है। न्याय की व्यवस्था का भी इसमें पूरा विवरण
है। प्रसंगवश समाज-शास्त्र और समाज-नोतिके कुछ प्रश्नां पर भी
विश्वद विचार किया गया है। इस ग्रंथ की रचनाशैंछी और समाजचित्रण
कामंदकीय नीतिसार और नारदस्मृति जैसा ही है अतः इसे प्रबंग शताब्दी
के अतिम चरण में रखा जा सकता है। इसके कुछ कोंक जिनमें उत्तर-पश्चिम
के यवनों के होने का उल्लेख और ताप तथा बारूद का वर्णन है (चौथा
अ० ७, १९३) बाद के ही सकते हैं। कुछ विद्वान् इसे १६ वीं शताब्दी में
रखते हैं परंतु यह गळत है क्योंकि ११०० से १६०० के बोच में रचे गये
ग्रंथों से इसकी शैली और विचारधारा एकदम मिन्न है।

११०० ई० के बाद से भारतीय वाङ्मय की अधिकांश शाखाओं से मौलिकता जाती रही। राज्यशास्त्र भी इसका व्यपवाद नहीं है। ११०० से १७०० तक बहुत से संकलनात्मक प्रंथ रचे गये जिनमें धर्म के विभिन्न अंगों का सविस्तार वर्णन किया गया है। राजनीति पर भी इन ग्रंथों में अध्याय हिले गये हैं किंतु उनमें नावीन्य बिलकुल नहीं हैं। इस श्रेणी के कुछ उल्लेखनीय ग्रंथ ये हैं। लक्ष्मीघर (११२५) का राजनीति कल्पतर, देवगमट्ट (१३०० ई०) का राजनीतिकांड, चंडेश्वर (१३२५ ई०) का राजनीति-रत्नाकर, नीलकंठ (१६२५ ई॰) का नीतिमयुख तथा मित्र मिश्र (१६५० ई०) का राजनीति प्रकाश । अधिकतर प्रथ पुरोहितों के कर्मकांड की दृष्टि से लिखे गये हैं। राजनीति प्रकाश में राज्याभिषेक का वर्णन १०० पृष्ठों में है। नीतिमयुख में बड़े विस्तार से बताया गया है कि राजा किस प्रकार नहाये, और चौर कराये. दुस्वप्र और अपशक्त होने पर क्या करे और उपदवों के निराकरण के डिए क्या शांति कराये । इन ग्रंथों में अमात्य, दुर्ग, कोष परराष्ट और रणनीति का भी वर्णन है पर उसमें कोई भी नवीनता नहीं है। इन विभिन्न विषयों पर पूर्व आचार्यों के ही उद्धरण अधिकतर दिए गये हैं। शिवाजी के मंत्री रामचंद्र पंत अमात्य ने भी मराठी में १६८० ई०के लगभग राजनीति पर एक छोटी सी रचना की थी पर इसमें भी कोई नये विचार नहीं हैं। प्राचीन राजनीति के विद्यार्थी को इन मध्यकालीन प्रंथों से बहुत कम सहायता मिल सकती है।

# अध्याय २

# राज्य की उत्पत्ति और प्रकार

राज्यशास्त्र के आधुनिक प्रंथों में राज्य की उत्पत्ति पर बड़े विस्तार से विचार किया जाता है। सर्वप्रथम राज्य की किस प्रकार उत्पत्ति हुई इसके तत्कालीन प्रमाण तो मिल नहों सकते। सामाजिक या राजनीतिक संघटन से परिचित लोगों ने भिन्न-भिन्न समय पर अपने राज्य की किस प्रकार स्थापना की इसके उदाहरण इतिहास में बहुत मिलते हैं पर पहले पहल मनुष्य ने राजनीतिक संघटन का ज्ञान प्राप्त करके किस प्रकार राज्य की स्थापना की इसकी तो पुराणों और किवदंतियों के सहारे कल्पना ही की वा सकती है। आधुनिक लेखक वैज्ञानिक प्रणाली और विकासवाद के सिद्धांतों के आधार पर अपना अपना मत प्रतिपादन करते हैं। इस समय भी आदिम अवस्थामें रहनेवाली जंगली जातियों की स्थिति के निरीच्रण से उनके कुछ सिद्धांतों की पृष्टि भी होती है। परंतु पुराने विचारकों को, चाहे वे पूर्व के हों या पश्चिम के, ये साधन उपलब्ध न थे। प्राचीन भारत में अधिकतर संस्थाओं की उत्पत्ति देवी ही मानी जाती थी और राज्य की उत्पत्ति भी इसी प्रकार समझी जाती थी।

महामारत श्रीर दीषनिकाय में र राज्य की उत्पत्ति पर विचार किया गया है और विभिन्न संप्रदाय तथा समय के होनेपर भी दोनों ग्रंथ के विचारों में महत्वपूर्ण साम्य है। दोनों का कहना है कि मनुष्य समाज को सृष्टि के बाद बहुत दिनों तक सत्युग, सुख और श्रांति का स्वर्णकाल रहा, लोग स्वभावतः धार्मिक होते थे और सरकार तथा कान्न या विधिनियमों के बिना ही शांति और सदाचारपूर्वक रहते थे। भारत में ही नहीं पश्चिम में भी सृष्टि के आदिकाल में स्वर्णयुग की कल्पना की गयी है।

क्षेटो व्यादि कुछ यूनानी लेखकों ने भी इस घारणा का उल्लेख किया है कि सृष्टि के व्यादि में शांति और सदाचार के स्वर्ण युग का दौर दौरा था जिसके

१ शांतिपर्व, अध्याय १८.

२ माग ३, पुरु ६४–३६

सामने वर्तमान अच्छे से अच्छे राज्य भी फीके हैं। अठारहवी राताब्दी का फ्रेंच अंथकार रूसो भी आदिम स्वर्णयुग पर विश्वास रखता था।

महाभारत में लिखा है कि बहुत समय तक विना राजा और न्यायाधीश के ही समाज सत्पथ पर चलता रहा परंतु बाद में किसी प्रकार अधःपतन आरंभ हो गया। लोग सदाचार से अष्ट होकर स्वार्थ, लोभ और वासना के वश में हो गये और जिस स्वर्गीय व्यवस्था में वे रहते थे वह नरक बन गयी। मात्त्यन्याय, जिसकी लाठी उसकी भैंस, का बोलबाला हुआ । बलवान निर्बली को खाने लगे। देवता भी यह सब देखकर चितित हुए और उन्होंने इस दुर्दशा का अंत करने का निश्चय किया। होग भगवान ब्रह्मा के शरण में गये। ब्रह्माजी इस निश्चय पर पहुँचे कि मन्ष्य जाति की तब ही रखा हो सकेगी जब एक आचारशास्त्र बनाया जाय और उसे राजा के द्वारा कार्यान्वित किया बाय। अतः उन्होंने एक विस्तृत विधान बनाया और अपने मानस पुत्र विरवस की सिष्टि करके उसे राजा बनाया। जनता ने भी उसके अनुशासन में रहना स्वीकार किया । इस विवरण से स्पष्ट है कि राज्य की अधित दैवी मानी जाती थी, राजा के राज्याधिकार का आधार उसकी दिव्य उत्पत्ति भी थी और इस पतित जीवन के अंत करने की नीयत से उसकी आज्ञा मानने के लिए प्रजा की सहमित थी। यहाँ इस बात का मी उल्लेख कर देना उचित है कि ईसाई मत के प्रभाव के कारण यूरोप में भी राजा के देवी उत्पत्ति के सिद्धांत का बहत बोलबाला था। खासकर मध्ययुग में तो राजा ईश्वर का प्रति-निधि और उसके अधिकार ईश्वर प्रदत्त माने जाते थे। इस्लाम में भी बादशाह खुदा का प्रतिबिंब समझा जाता था।

कुछ निरीचकों का कहना है कि १६ वीं सदी में भी अफ्रोका तथा आस्ट्रेडियामें ऐसी जंगकी जातियाँ विद्यमान थी, जो शासनतंत्र से अपिश्चित होने पर भी पूरे सौहादं और आनंद से रहती थीं। परंतु संभव है कि ये निरीचक उनकी भाषा न जानने और अधिक देर हनके साथ न रहने के कारण इन जातियों की वास्तविक स्थिति न जान पाये हों।

र नियतस्वं नरव्यात्र श्रणु सर्वमशेषतः । यथा राज्यं समुत्पन्नं भादौ कृत-युगेऽभवत् ॥ नैव राज्यं न राजासीज च दंडो न दांढिकः । घमेंग्रीव प्रजाः सर्वा रद्यंति स्म परस्परम् ॥ पाल्यमानास्तपान्थोन्यं नरा धमेंग्र भारत ॥ दैन्यं परमुपाजग्मुततस्तान्मोह भाविषात् । प्रतिपत्तिवियोगाच धर्मस्तेषामनीनशत् ॥ कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो ।

दीवनिकाय का विवरण भी बहुत कुछ महाभारत के ही समान है। बौद्ध ईश्वर को नहीं मानते थे अतः ब्रह्मा द्वारा प्रथम राजा की सृष्टि की कथा उन ग्रंथों में स्वभावतः ही नहीं है। परन्तु उनमें यह कहा गया है कि बहुत पहले स्वर्णयुग था, जिसमें दिव्य और प्रकाशमान शरीरवाले मनुष्य वर्म से आनंदपूर्वक रहते थे। किसी प्रकार इस आदर्श समाज का अध्यत्मत हुआ, अंघाधंबी और अव्यवस्था का दौर दौरा हुआ और समी जन इस दुर्ववस्था का खांत करने के लिए अधीर हो उठे। खांत में 'महाजन सम्मत' नामक एक दिव्य और अयोनिज पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ। वह बुद्धिमान् धार्मिक और याग्य था और सब जनों ने इससे अपना राजा होने और अव्यवस्था का खांत करने की प्रार्थना की। उसने प्रजा की विनती स्वीकार की और जनता ने उसे अपना राजा बनाया तथा उनकी सेवाओं के बदले में अपने घान का एक अंदा देना स्वीकार किया।

हिंदू और बौढ़ों की यह घारणा कि शावन संस्था के विकास के पूर्व स्वर्णयुग या इस बात की सूचिका है कि वे राज्य के पहले समाज की उत्पत्ति मानते थे। यही ठीक भी है। माधा का जन्म पहले होता है व्याकरण का बाद को।

नारद<sup>२</sup> और बृहस्पित<sup>3</sup> भी स्वर्णयुग और उसके बाद की अव्यवस्था का उल्लेख करते हैं पर राज्य की उत्पित्त के बारे में कोई उपयोगी बात नहीं कहते है।

उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि पौराणिक सतयुग की चाहे जो अवस्था रही हो जहाँ तक ज्ञात इतिहासका संबंध है हिंदू विचारक यह मानते थे कि समाज की रचा और विकास के लिए शासन संस्था का अस्तित्व अनिवार्य है और उसके बिना कोई समाज टिक नहीं सकता । राज्य को देवी संस्था मानने का अर्थ यही है कि वह समाज के ही समान प्राचीन है और उसकी उत्पत्ति का कारण मनुष्य की सहजात सामाजिक और राजनोतिक प्रवृत्ति ही है।

महाभारत के विवरण से यह प्रतीत होता है कि समाज के मानने से ही विराजस राजा हुआ और दीधनिकाय तो स्पष्ट ही कहता है कि 'महाजनसम्मत'

१ भाग ३, ५० ८४-६

२ अध्याय १--२।

<sup>3 ,, 919</sup> 

४ अराजकं नाम रहः पाछेतुं न सका।

लोगों की प्रार्थना पर ही अन्यवस्था दूर करने पर तैयार हुए। तब लोगों ने उन्हें राजा बनाया। इन विवरणों में समाज की सहमति अथवा इकरारनामें से ही राज्य को स्थापना का भाव निहित है। वर्म सूत्रकारों का भी यह मत है क्योंकि वे लिखते हैं कि राजा प्रजा का सेवक है उसका कर्तन्य उनका संरच्या है और उसे प्रजा की श्राय का शह वा भाग अपने वेतन के रूप में मिलना चाहिये । हिंदू विचारकों ने इकरारनामें के इस सिद्धांत पर अधिक जोर संभवतः इसलिए नहीं दिया कि वे उसे समाज और सरकार को मूल उत्पत्ति के लिए अनुपयुक्त समझते थे और मनुष्य की स्वामाविक समाजनिष्टता को ही उत्तरदायी मानते थे।

अब लोग समझ गये हैं कि सहमित का सिद्धांत हितहास की हिष्ट से अग्नुद्ध और तर्क की हिष्ट से लचर है। सहमित द्वारा सभ्य एवं राजनीतिक हिष्ट से विकसित जातियों द्वारा विशिष्ट राज्यों की स्थापना संमव है। पर प्राकृतिक अवस्था में सबसे पहले राज्य की स्थापना कैसे हुई यह गुत्थी इस सिद्धांत से नहीं सुलझ सकती। सहमित या इकरार उस समाज में हो सकता है जहाँ लोग अपने और दूसरों के अधिकारों और कर्तव्यों को समझते हों, उस समाज में नहीं जहाँ लोग वनचरों की मांति रहते हों। फिर भी इस विषय में भारतीय विचारों की पाश्चात्य से तुलना लामकर होगी।

प्राचीन श्रीक या रोमन विचारकों ने इस सिद्धांत का उल्लेख नहीं किया है। इसका विकास यूरप में प्रोटेस्टैंट आंदोलन के बाद ही हुआ। हॉन्स, लॉक और रूसो इसके प्रमुख समर्थक हैं।

बहु मंख्य प्राचीन भारत के विचारकों के समान हाँ ज्य का भी यह मत या कि संसारके प्रारंभ में अराजकता थी; हरेक मनुष्य यथासंभव दूसरे का दुवाना चाहता था। इस अवस्था से उकता कर लोगों ने आपस में यह तय किया कि वे अपने अनियंत्रित अधिकार एक शासक को सौंप दें। मगर जनता और शासक में कोई इकरार न था न उसके अधिकारों पर कोई नियंत्रण लगा रखा था। इस अवस्था से शासक को जो अधिकार प्राप्त हुए उनको लोगों को वापस लेने का भी कोई अधिकार न रहा। हिंदु विचारको मे और हाँ ज्य में बहुत कुछ साम्य है। वे भी मानते हैं कि पहले अराजकता थी और जब पहला राजा ब्रह्मदेव ने निर्माण किया तब उसमें और जनता में कुछ 'समय' या इकरार न हुआ था। मगर उनका यह स्पष्ट कहना है कि यदि

२ षड्भागमृतो राजा रक्षेत् प्रजाम् । बौ. ध. स्., १.१०.६

'समय' को शर्ता से न हो तो ईश्वर निर्मित धर्मशास्त्र के नियमों से राजा की सत्ता नियंत्रित रहती है।

लॉक के मतानुसार राज्य की स्थापना से पहले की अवस्था प्रायः हिंदु पुराणों के सत्युग के समान ही थी। लोग प्रकृति तथा विवेक के नियमों का पालन करते थे और प्रायः एक दूसरे की जानमाल को नुकसान न पहुँचाते थे। मगर व्यक्ति व्यक्ति की बुद्धि में भेद और स्वार्थों के संवर्ष से प्राकृतिक नियम कौन है, इस प्रश्न पर कभी कभी मतभेद उत्पक्त होते थे। मगर समाज में कोइ अधिकृत न्याय करनेवाले या दंड देनेवाले न थे जिसके कारण सभी न्यायाधीश और दांडिक हो सकते थे। इसने गड़बड़ी होने लगी और उसके बचने के लिए लोगों ने आपस में 'समय' या इकरारनामा किया और सरकार की स्थारना की और उसे कुछ अधिकार सौंप दिये। इस मूल 'समय' से राजा और प्रका दोनों मी समान रूप से वृंधे हैं।

हिंदु विचारकों ने भी यह मान लिया है कि पहले सतयुग था और किसी
प्रकार से लोभ और मोह के वश में ही जाने से लोगों का अधः पतन हुआ
और शासनव्यस्था की अवश्यकता उत्पन्न हुई । मगर सतयुग के लोग
एकाएक लोभवश कैसे हुए यह जैसे हिंदु विचारक ठीक तरह से कह नहीं
सकते उसी प्रकार लॉक भो यह नहीं समझा सकता है कि प्रकृति तथा
विवेक के नियमों का पालन करनेवालों में स्वार्थजन्य झगड़े कैसे होने लगे, और
ऐसे समय हरेक व्यक्ति समाज में न्यायाधीश और दांडिक कैसे हो सकता था।
मूल 'समय' (इकरारनामा) की शर्तों से लॉक राजा के अधिकार का नियंत्रण
करना चाहते है, हिंदु विचारक मूल देवी शास्त्र के नियमों से।

प्राचीन भारतीय आचार्य लॉक और हॉब्स की मॉित बुदिवाद के युग में नहीं रहते थे। उन्होंने इन प्रश्नों पर अर्घधार्मिक और अर्घछीकिक हृष्टि से ही विचार किया था। अतः न तो वे इस समस्या के तल तक पहुँच सके और न शासन संस्था तथा प्रजा के अधिकारों की भी स्पष्ट सीमा निर्धारण कर पाये। उन्होंने यह तो कह दिया कि राज्य द्वारा अपने संरच्चण और सेवा के बदले ही प्रजा राजा को कर देती तथा उसका अनुशासन मानती है और राजा के कर्तन्य-चुत होने पर उन्होंने यह कहीं नहीं बताया कि किन किन परिस्थितियों में राजा इकरारनामा तो हुने का दोषी समझा जाय और किन न्यावहारिक विधान-युक्त साधनों द्वारा प्रजा उससे इकरारनामे की शर्तों का पालन बाध्य रूप से करावे। आततायी राजा उससे इससे या वध करने का अधिकार प्रजा को देना ही इस बात का प्रमाण है

कि प्रजा ही राजसत्ता की मूल अधिकारी है श्रीर उसी का अधिकार सर्वोच्च है। परंतु राजच्युत करना तथा राजवध करना बड़ा उम्र और कठिन उपाय है। ज्यादा अच्छा होता यदि हमारे आचार्यों ने राजा पर अंकुश रखने के लिए कोई सदा व्यवहार में लाने योग्य वैधानिक मार्ग निकाला होता। परंतु हमें यह भी याद रखना चाहिए कि इस प्रकार का वैधानिक मार्ग यूरप में भी आधुनिक काल में ही पूर्णरूप से बन पाया है।

अर्वाचीन विचारकों ने राज्य की उत्पक्ति के बारे में और भी कल्पनार्थे की हैं। कुछ लोगों का कहना है कि बहुत पुराने जमाने में लोगों ने स्वेच्छा से कुछ व्यक्ति विशेष को अधिकार दिया। या तो वह पुरोहित था जो देव-ताओं को प्रसन्न कर सकता हो, या वह मंत्रवेत्ता था जो मत्रवल से पानी बरसा सकता हो अथवा वह वैद्य था जिसमें रोग दूर करने की चमता थी। इस प्रकार अधिकार पा जाने पर, अपने रोब से और बाद में बलप्रयोग द्वारा भी इसके लिए अपने अधिकार कायम रखना या उनका विस्तार करना कठिन न था। संभव है कि कुछ जातियों में इस प्रकार भी शासन-संस्था या राजा की उत्पति हुई हो। पर आर्थ जातियों में पितृप्रधान सम्मिलित कुटुंब-पद्धति के ही बोजने घीरे घीरे राज्यविकास अधिक युक्ति युक्त प्रतीत होता है।

तुल्नात्मक माणाविश्वान से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि अपने आदि देश में भी आर्य सम्मिलित कुटुंबों में ही रहते थे। इन कुटुंबों में दादा पिता, चाचा, भतींजे, लड़के और पतोहू सभी थे। हो होगर के काल में दो दो सौ और तीन तीन सौ व्यक्तियों के परिवारों का उल्लेख मिलता है। इस परिवार के रहपित को परिवार के सदस्यों पर पूर्ण प्रभुत्व था! उसे अपने वशवतीं किसी भी व्यक्ति को बेचने, बंधक रखने या अपराध करने पर श्रंगच्छेद और वध करने का भी अधिकार था। प्राचीन रोम में परिवार के रहपित को ये अधिकार थे और कुछ वैदिक सूत्रों में भी पिता को आशा से अपराधी पुत्र के बेचने या उसकी आँखें भोड़ी जाने का वणन है। यागैतिहासिक काल में

१ अधिकांश यूरोपीय (Indo-European) भाषाओं में चाचा, भतीजा, ससुर, सास, पतोहू आदि शब्द एक ही घातु से निकले हैं।

र प्रायम के ४० बेटे और १२ बेटियाँ थीं और वे अपनी पत्नी, पति, और संतान के साथ एक ही घर में प्रायम के साथ रहते थे।

ऋग्वेद ७. ११६.१७ — में वर्णन है कि मृद्ध्याश्व की असावधानी से इसके पिता की १०० मेहें एक भेड़िया खागया। पिता ने ऋद होकर (कृ. पृ. स.)

3

सभी आर्य जातियों में कुटुंब के ग्रहपित के अधिकार और पर प्रायः राजा के ही समान थे। जब कुटुंब संस्था का विस्तार हुआ और उसने एक ही गांव में रहनेवाले काल्पनिक या वास्तविक पूर्वज से उत्पत्ति माननेवाले अनेक कुलों के संघ का रूप धारण किया तब ग्रहपित के अधिकारों के चेत्र की दृद्धि के साथ साथ उसकी ध्यापकता में कुछ कभी भी आयी। गांव के सबसे बड़े कुल के सबसे बृद्ध ग्रहपित को सारा समाज अत्यंत आदर से देखता था और अन्य ग्रामवृद्धों की सजाह से वह ग्राम की व्यवस्था करता था।

ऋग्वेद से जात होता है कि तत्कालीन आर्य समाज कुटुंबो, जन्मनों, विशों और जनां भे विभाजित या। जन्मन् संभवतः एक ही पूर्वज के वंशजों का ग्राम था। इस प्रकार के कई ग्रामों का समूह विश् कहलाता था और इनका मुखिया विश्पति। विश् का संस्टन बड़ा हट था और लड़ाइयों में हरेक विश् की अपनी अलग टुकड़ी होती थी। कई विशों को मिलाकर जन बनता था जिसके प्रमुख को जनपित या राजा कहते थे। प्राचीन रोम की समाज-व्यवस्था और ऊपर वर्णित वैदिक समाज-व्यवस्था में अद्भुत सम्य था। वहाँ भी सबसे छोटा अंग 'जेन्स' एक ही वंश के छुलों का समृह था, कई जेन्स मिलकर 'क्यूरिया' और १० क्यूरियों की एक 'ट्राइव' बनती थी। इस प्रकार वैदिक जन, रोम के 'ट्राइव', विश्, 'क्यूरिया' और जन्मन् 'जेन्स' के बराबर था।

उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि अन्य आर्य जातियों की भाँति भारत में भी प्रागैतिहासिक काल में संयुक्त कुटुंब से ही शासन संस्था का विकास हुआ। कुटुंब के ग्रहपित का आदर और मान स्वामाधिक था. प्राम के सुलिया और जनपात भी इसी परंपरागत सम्मान के भाजन हुए, और कालांतर में ये ही सरदारों और राजाओं के पदपर प्रतिष्ठित हुए। राज्यों के विस्तार के साथ राजा के अधिकारों का भी विस्तार होता रहा।

# शासन-संस्थाओं के प्रकार

अब हमें यह देखना है कि शाचीन भारत में कितने प्रकार की शासन-

(क्रमशः)

उसकी ग्राँखें फोइ दो तब अश्विनो ने उसे नेत्रदान दिया। ग्रुनश्रीप की उसके पिता ने अकाव्यपीइत पश्चित के प्राया के लिये बेच दिया था। (ऐ, ब्रा. सप्तम १४)

६ स इंडजनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैवीं भरते भना नृभिः। इ.२६.३.

संस्थाँ थीं। प्राचीन लेखकों ने इस विषय के विवेचन पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। कारण उनके समय में नृपतंत्र का ही बोलवाला था। यदि प्रजातंत्र या उच्चवर्ग-तंत्र के नागरिक ने दंडनीति का कोई प्रंय रचा होता तो उसमें नृपतंत्र, प्रजातंत्र और उच्चवर्ग-तंत्र आदि विविध प्रकार की शासन संस्थाओं के गुणागुण का विवेचन अवश्य होता, परंतु ऐसा न हुआ। हमारे लेखक घूम घूमकर केवल एक ही प्रकार नृपतंत्र पर ही आते हैं। चलते चलाते कुल ने 'संघों' का उल्लेखमात्र कर दिया है। हम देख चुके हैं कि बहुत काल तक भारत में बन राज्यों का ही प्रचलन रहा। विश्पति, जनपित आदि के उल्लेख में अनेक जगह मिलते हैं और उनके आतिरिक्त स्थान स्थान पर यदु, पुरु, अणु और तुर्वश्च आदि विश्वामित्र के स्तवन से भारतजनों को रचा हुई १। राजस्य यज्ञ में राजा किसी प्रदेश या राज्य का नहीं बिलक मारतों या कुरुपांचालों का शासक घोषित किया जाता है।

उत्तर वैदिक काल में प्रादेशिक राज्य की भावना का विकास होने लगता है। अर्थव वेद में इसका स्पष्ट उल्लेख है। विश्व तेत्व में इसका स्पष्ट उल्लेख है। विश्व तेत्व में ऐसे अनुष्ठान का वर्णन है जिससे राजा अपने 'विश्' पर प्रभुता पा सकता है पर 'राष्ट्र' या देश पर नहीं। व्यक्ति के कप में वर्णन है अनेक जनों के अधिपति के रूप में नहीं। स्पष्ट है कि इस समय तक प्रादेशिक राज्य की धारणा जड़ पकड़ चुकी थी।

बैदिक काल में नृपतंत्र ही प्रचलित था। राजा, महाराजा और सम्राट् आदि उपाधियां राजाओं के पद, गौरब और शक्ति के अनुसार दी जाती थी। कुछ राजा 'स्वराज' और 'मोज' कहलाते थे। इन उपाधियों का निश्चित अर्थ बतलाना कठिन है।

राज्यामिषेक में कभी कमी कहा गया है कि इस संस्कार से शासक को एक साथ राज्य, स्वराज्य, मौज्य, वैराज्य महाराज्य और स्वराज्य पद प्राप्त होंगे। इससे संदेह होता है कि ये उपाधियाँ विभिन्न प्रकार के राज्यों की स्चिका हैं

१ विश्वामित्रस्य रचति बह्ये दं भारतं जनस् । ३ ५३।२

२ . २०. १२७. ६-१० ; १६. ३०. ३-४.३. ४. २ ; ६,६८.२ ।

<sup>₹ ₹, ₹, ₹-8 1</sup> 

४ ऐ. बा. द. २. ६; ८. ३. १३।

तै. सं., २. ३. ३-४।

या नहीं । यह भी हो सकता है कि राज्याभिषेक-संस्कार का महत्व दिखाने के लिए ही पुरोहित ने कह दिया हो कि उससे इन सब विभिन्न पदों की प्राप्ति हो सकती है। इस धारणा का समर्थन ऐतरेय ब्राह्मण के इस कथन से भी होता है कि देश के विभिन्न भागों में राज्य, मौज्य, वैराज्य और साम्राज्य आदि विविध प्रकार के राज्य थे।

वेदोत्तर युग में एक सम्राट् के करद-सामंत के रूप में छोटे बड़े अनेक राजाओं का उल्लेख बराबर मिलता है। बहुत संभव है कि वैदिक काल में भी यही स्थित रही हो और करद सामंत भोज और स्वराज, तथा उनके अधिपति सम्राट् संबोधित होते रहे हों। स्वराट् के मुकाबले में सम्राट् की राज्म-सीमा का क्या विस्तार था, इसका ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो सकता। बैदिक काल के अधिकांश राज्य छोटे हो होते थे। चौथाई पंजाब के बराबर भी कोई राज्य उस समय रहा हो इसमें भी संदेह है। संभव है कि सम्राट् का राज्य भी साधारण राज्य से विशेष बड़ा न रहा हो और उसका ऊँचा पद राज्य विस्तार की अपेन्ना उसकी सामरिक कीर्ति और विजयों को ही अधिक स्वान्त करता होगा।

स्पार्टों की मांति प्राचीन मारत में भी द्वैराज्य या दो राजाओं द्वारा शासित राज्य थे। सिकदर के समय में पाटल राज्य (आधुनिक रिंघ) में प्रथक् वंशों के दो राजाओं का संयुक्त शासन था। अर्थशास्त्र (८।२) में भी ऐसे राज्य का उल्लेख है। ऐसे राज्यों का सूत्रपात शायद इस प्रकार हुआ हो जब दा माइयों अथवा उत्तराधिकारियों ने राज्य के विभाजन के बजाय स्पूर्ण राज्य पर संयुक्त शासन करना हो पसंद किया हो। परंतु जिस प्रकार एक म्यान में दो तल्लारें नहीं रह सकती उसी प्रकार एक हो राज्य में दो राजा भी मिलकर नहीं रह सकते। खासकर जब उनके अधिकारों या कार्यों का विभाजन न हो और हरेक अपने को ही बड़ा माने। ऐसे राज्य तो प्रायः दल्जंदी और परस्पर संघर्ष के अखाड़े रहे होंगे इसी से अर्थशास्त्र इनके पद्ध में नहीं हैं और जेन साधुओं को ऐसे राज्य में रहने या जाने का निषेध किया गया है। अश्वर आपसी झगड़ा बचाने की नीयत से दैराज्य के शासक भाई वा संबंधी राज्य का बटवारा कभी-कभी कर लेते थे। विदर्भ में शुंगों द्वारा वा संबंधी राज्य का बटवारा कभी-कभी कर लेते थे। विदर्भ में शुंगों द्वारा

१ ऐ. ब्रा. ७. ३, १४।

२ मैक बिंडिल-सिकंदर का आक्रमण पु० २६६।

३ द्वैराज्यमन्योन्यपच्द्वेषाजुरागाभ्यां परस्पर संघर्षेण वा विनश्यति द.२ ।

स्थापित हैराज्य में ऐसा ही हुआ था। विद्यारे के बाद भी दोनों शासक महत्वपूर्ण विषयों पर संयुक्त विचार परामर्श किया करते होंगे। जब संयुक्त-राज्य के दोनों शासकों में मेल रहता था तब उसे हराज्य (संस्कृत) या दोरज्ज (प्राकृत) कहते थे, जब उन राजाओं में झगड़ा रहता था तब उस विरुद्ध-राज्य (संस्कृत) या विरुद्ध रज्ज (प्राकृत) कहते थे। य

वैदिक वाङ्मय में कमी-कभी राजाओं की समिति का वर्णन मिलता है। यह भी कहा गया है कि वही व्यक्ति राजा बन सकता है जिठके लिए अन्य राजाओं ने सहमित दी हो। असंभवतः इससे सामंत अथवा गणराज्य का अभिप्राय हो जिसमें सारा अधिकार उच्च वर्ग या सरदारों की परिषद् के हाथ रहता है। उसके सब समासद् राजा कहे जाते थे और ये ही राज्य के सर्वोच्च अधिकारी को चुनते थे और वह भी राजा की ही उपाधि से संवाधित होता था। देश के कुछ हिस्सों में इस प्रकार के राज्यों का ईसवी पूर्व छठीं शताब्दी तक अस्तित्व था।

नृपतंत्र और उच्चवर्ग तन्त्र के साथ-साथ विशुद्ध प्रजातंत्र का अत्तित्व भी भारत में विदिक्त काल से ही है। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थल पर कहा गया है कि हिमालय के पास उत्तर-कुर और उत्तर-मद्र आदि जनों में वि-राट् (राजा रहित) शासनतंत्र प्रचलित था जिस कारण वे लोग वि-राट् अर्थात् नृप हीन जन कहे जाते थे। इसी प्रकरण में पौर्वातों और दाचिणात्यों के राजाओं और उनकी उपाधियों (सम्राट् और भोज) का उल्लेख है और उपर्युक्त स्थल में विराट् शब्द राजा के लिए नहीं जिंतु तहेशस्य लोगों के लिए स्पष्ट रूप से प्रयुक्त हुआ है। अतः यह निःसंदिग्ध है कि उत्तर-कुर और उत्तर-मद्र जनों में अ-राजतंत्र या प्रजातंत्र शासन-पद्रति प्रचलित यो। सिकंदर के समय के यूनानी लेखकों ने भी इसी प्रदेश में प्रजातंत्र राज्यों के होने का उल्लेख किया है। ये विराट् राज्य सचमुच प्रजातंत्र थे या नहीं इस पर आगे छठें अध्याय में विचार होगा।

१ मालविकाग्निमित्र, अंक १ रहोक १३।

२ अरायेणि वा गण्रायणि वा जुवरायणि वा दोरज्जणि वा बेरज्जणि वा विरुद्धरज्जणि वा। भाचारांगसूत्र, २. ३. १. १०।

३ यत्रोषधीः सभग्मत राजानः समिताविव । त्रा. वे., १०, १७, ६ ।

४ यस्मै वै शानानो राज्यमनुभन्यते स शाना भवति न स यस्मै न ॥

श. ब्रा., १. ३. २. ४।

राज्य-संघ (Federal state) और समिलित-राज्य (Composite state ) भी पाचीन भारत में अज्ञात न थे। उत्तर वैदिक काल में कह पांचालों ने मिलकर एक शासक के अधीन अपना सम्मिलित-राज्य कायम किया था। पाणिनी के समय में चुदक और मालव राज्य अलग-अलग थे परंत महाभारत में (इ० प्० २५०) बहुधा इनका एक साथ ही उल्लेख मिछता है। सिकंदर के आक्रमण का सामना करने के लिए इन्होंने दोनों राज्यों का एक संघ बनाया था। जो एक शताब्दी तक कायम रहा। इसे हुट करने के लिए जुड़कों और माइवों में परस्पर १० हजार विवाह हुए थे। यौधेय गण-राज्य भी तीन उप-राज्यों का संघ था। अक्सर ये संघ अल्पकालीन हो हुआ करते थे। बुद्ध और महावीर के जांवन-काळ में लिच्छवियों ने एक बार मल्लों के साथ और थोड़े ही समय बाद दूसनी बार विदेहों के साथ संघ बनाया था । लिच्छवि-मल्ल-संघ के मंत्रि-परिषद में १८ सदस्य होते थे ९ लिच्छवि चुनते थे और ९ मल । ये संयुक्त और संघ-राज्य किस प्रकार चलते थे, संघ को क्या अधिकार दिये जाते थे और संघांतरित राज्यों को क्या रहते थे इन सब बातों की पर्याप्त जानकारी हमें नहीं मिलती है। संभवतः राज्य-संघों की केंद्रोय मत्ता वेवल परराष्ट्र नीति का संचालन और संधि-विग्रह का निश्चय करती थी। श्रन्य विषयों में राज्य स्वतंत्र थे। युद्ध के लिए संघातरित राज्य अपनी सयुक्त सेना का एक ही सेनापति नियुक्त करते थे। सिकंदर के आक्रमण के समय द्धादक-मालव राज्यों ने एक रणविशारद और बोर द्वादक सेनानायक को ही संयुक्त रेना का अधिपति बनाया था जिसके शौय और कौशल्य का बालबाला था।

साधारणतः भारत में एकात्मक या एकच्छत्र (Unitary) राज्यच्यवत्था ही प्रचिछत थी। राजा ही सत्ता का स्त्रोत था, मंत्री और प्रांतीय अधिकारी उसी से अधिकार ग्रहण करते थे। ग्रामपंचायत, पौर-जानपद और श्रेणो-निगम आदि भी केंद्रीय सत्ता के नियंत्रण और निरीद्यण में काम करते थे। परंतु परंपरा ऐसी बन गयी थी कि राजा इनके कार्यों में तभी हस्तद्येप कर सकता था जब ये अपनी परंपरा और विधान के विषद्ध काम करें। अस्तु ये स्वायत्त संस्थाएँ राज्य के एकात्मक रूप को बहुत बदल देती थी। केंद्रीय सत्ता में परिवर्तन होने पर भी ये स्वायत्त संस्थाएँ अपना अपना काम करती रहती थीं।

# श्रध्याय ३

# राज्य का स्वरूप, उद्देश्य और कार्य

पिछले अध्याय में राज्य को उत्पत्ति पर विचार और तद्विषयक िदांतों का निरूपण किया गया है। अब हमें देखना है कि प्राचीन भारत में राज्य का स्वरूप, उद्देश्य और कार्य के विषय में क्या विचार थे।

राज्य की उत्पत्ति के बारे में विवेचन करते हुए हमने पहले ही कहा है कि प्राचीन हिंदू लोग उसकी जनहितसंवर्षक संस्था के रूप में देखते थे। राज्य के विना जीवितसंरच्चण और पुरुषाथसाधन हो ही नहीं सकता है ऐसी उनकी घारणा थी। अनन्यगतिक होने के कारण जान-माल की रचा के लिए जनता को राज्य जैसी अवांछनीय और दमनकारी संस्था का सहारा लेना पहता है ऐसा उनका मत बिन्दुल नहीं था। हाँ, दुराचारी लोगों को राज्य धनु के समान जरूर प्रतीत होता है मगर इन समाजमच्कों के मत की किसी को परवाह ही नहीं करनी चाहिये।

समाजकंटकों के वजह है ही राज्य को आखिर में टंड का प्रयोग करना पड़ता है। यह वांछनीय है कि दंडप्रयोग के प्रशंग बहुत ही कम हों। यदि परमेश्वरप्रदत्त नीति नियमों का पालन करने की आदत लोगों को हो और दंड प्रयोग ही अनावश्यक हो ता वह सबसे अच्छा होगा। धर्मशास्त्रों के नियमों का पालन बेसे प्रजाद्वारा वैसे ट्रपद्वारा भी होना आवश्यक है। यदि कोई राजा उनको तोड़ दे तो प्रजा राजनिष्ठा का कर्तव्य-पालन करने में बाध्य न रहेगी, इतना ही नहीं यदि आवश्यक हो तब वह आततायी राजा का वध भी कर सकती है। आदर्भ राज्य में राजा और प्रजा दोनों ही धर्म-नियमों का पालन करते हैं जिससे उन दोनों का भी ऐहिक और पारलैकिक कल्याण साध्य होता है।

शासनसंस्था का क्रमशः विकास कैसे हो गया इसका विवेचन प्राचीन हिंदू-ग्रंथों में नहीं मिलता है; उस जमाने में आधुनिक काल की ऐतिहासिक दृष्ट ही प्रायः अकात थी। मंगर वैदिक प्रमाणों के परामर्श से यह प्रतीत होता है कि उस जमाने में जनराज्यों (Tribal states) की प्रायः रूढ़ी थी। यह, तुर्वशु, भरत आदि जिन जनों का उल्लेख अनेक बार वेदों में मिलता है उनका कोई निश्चित प्रदेश नहीं था। वे लोग अमणशील थे अतः उनके राज्य भी उनके साथ बदला करते थे। पर उत्तर वैदिककाल में ये जन देश के विभिन्न भाग में बस चुके थे श्वीर उनके राजा जन के ही नहीं 'राष्ट्र' माने प्रदेश के भी स्वामी कहे जाने लगे थे। ये मगर पर्याप्त सामग्री न होने से हम यह नहीं जान सकते कि जनराज्यों का क्रमिक विकास होकर प्रादेशिक राज्य कैसे बने। उत्तर वैदिक-काल में सम्राट् का राज्य चेत्र ससागर पृथ्वी कहा गया है जिससे प्रादेशिक राज्यों के पूर्ण विकास का प्रमाण मिल जाता है।

प्रादेशिक राज्य के कौन कौन श्रंग होते हैं और उनका परस्पर संबंध किस प्रकार रहता है इन प्रक्नों पर अभी इमकी बिचार करना है। वैदिक वाङ्मय में इस विषय का उल्लेख भी नहीं मिलता है, किंतु जब इ. पू. चौथी सदी में राजनीतिक बिचारों का विकास होने लगा तब से इस विषय की चर्चा मिलती है। कौटिल्य (६.४) और मनु (८.२८४-७) दोनों का मत है कि राज्य एक सजीव एकात्मक शासन-संस्था है, मनमानी चाल चलनेवाले, अपना ही मला देखनेवाले, विभिन्न कणों का दीला दाला बोड़ नहीं है। इनके मतानुसार स्वामी, अमात्य, भूप देश, कर या साधन-सामग्री, दुर्ग, सेना और मिन्न, राज्य के सात अंग है जिनको सत प्रकृतियाँ कहते हैं । कामंदक शुक्र आदि परवर्ती लेखक सतांग परिभाषा को स्वयंसिद्ध मानते हैं और शिलालेखादि में वर्णित राज्य भी इन्हों सत-प्रकृतियाँ से युक्त पाये जाते हैं।

आधुनिक मतानुसार भूपदेश, जनता और केन्द्रीय सरकार राज्य के आवश्यक अग हैं। केन्द्रीय सरकार में प्रभुता और वैधानिक व्यक्तित्व अवश्य होना चाहिये। इन घटकों को यदि इन सतांगों से तुलना करें, तो यह दिखाई देगा कि स्वामी और अमात्य केन्द्रीय शासन के स्थान में है, उनमें राज्य का प्रभुत्व केंद्रित रहता था और वे राज्य को एक सूत्र में गूँ बते थे। राष्ट्र (भूपदेश) दुर्ग, सेना और कोष राज्य के शासन सामग्रो थे। 'जन' राज्यों का जमाना कब का बीत चुका था, इ इसलिए राष्ट्र या भूपदेश भी राज्य का

९ ऐ. ब्राः, म.३.१४ २ ते. सं., २.३. ३-४ ३ ऐ. ब्रा., ७. ३. १४

४ इन सप्त प्रकृतियों में से स्वामी, अमात्य, रानो या उच्चाधिकारी पुर और बिल आदियों का उक्लेख वेदों में भी है परंतु उनके परस्पर और राज्य के प्रति संबंध की व्याख्या वहाँ नहीं है।

५ ए. क. भा. ५; चन्नरायपदण, नं. १४८; इ. स. ११८३

६ इससे उत्तर काळ में भी कभी कभी माजव ऐसे गणराज्य का स्थजांतर दिखाई देता है, वह ३२४ ई. पू. में मुजतान के पास, २२४ ई.पू. में भजमेर-उदयपुर भाग में और २०० ई० में माठवा में था। मगर उसका (कृ. पू. उ.)

आवश्यक अंग माना जाने छगा। दुर्ग कोर बना भी राज्य की सुरह्मा के छिए अत्यंत आवश्यक थे अतः ये भी उसके स्वामाविक अंग हो गये। देश को रह्मा और राज्य की अनिवार्य तथा ऐच्छिक कार्यवाही के छिए बल्हि या संपत्ति की अत्यंत आवश्यकता है इसछिए कोष भी राज्य के छिए आवश्यक माना गया। राज्यांगों में मित्रों की गणना कुछ विलद्धण-सी लगती हैं परंदु आज के इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि उपयुक्त मित्रों की सहायता पर ही राज्य का अस्तित्व निर्भर है। इस महादेश में प्राचीन काल में बहुत से छोटे छोटे राज्य थे उनमेंस हरेक की सुरह्मा तभी संभव थी जब देश में शक्ति समता (Balance of power) रहा हो, अर्थात् इन राज्यों में परस्पर ऐसा संबंध हो कि किसी राज्य का अपनी अपेद्मा किसी दुर्बल राज्य पर आक्रमण करने का साहस न हां। इसीलिए प्राचीन विचारकों ने 'मित्र' अर्थात् परस्पर संबंध को इतना अधिक महत्व दिया। जनता की गणना सप्तश्कृतियों में नहीं दिखाई देती। इसका कारण संभवतः यह हो सकता है कि जनता और राज्य का स्वयंसिद्ध और अविच्छेच सब्ब या और उसके बारे में संदेह का अवकाश ही नहीं या।

प्राचीन भारतीय विचारक इन सप्त प्रकृतियों को राज्य ग्रारीर के अंग मानते थे इनमें से कुछ अंग दूसरों की अपेद्धा अधिक महस्व के हो सकते हैं जैसे दुर्ग और मित्र के मुकाबले स्वामी और अमात्य हैं परंद्ध अपने में कम महत्त्व का होते हुए भी प्रत्येक अंग राज्य-शरीर के लिए एक से अनिवार्य थे। क्यों कि एक अंग का अभाव दूसरा नहीं पूरा कर सकता उराज्य का अस्तित्व

(क्रमशः)

स्थलांतर का कारण विदेशियों के आक्रमणजन्य परिश्थित था न मालवों की अमणकीलना।

- श्र बारुद, बड़ी तोपे और विमानों के अभाव के युग में एक दुर्ग अनेक हजार सेना का मुकाबबा कर सकता था।
- मानवी शरीर में भी कुछ अंग जैसे नेत्र या मिस्तिष्क, दूसरे अगों से जैसे हाथ या पाँव से अधिक महत्व के रहते हैं। राष्ट्रशरीर में भी कुछ श्रंगों को दूसरे अंगों से महत्व का माना जाना उसके एकशरीरत्व के खिलाफ नहीं है जैसा कि शो॰ अजारिया मानते हैं।
- ्रे तेषु तेषु तु दृश्येषु तत्तदगं विशिष्यते ।

  येज यत्साध्यते कर्म तस्यिश्तस्यू प्रमुच्यते ।।

तभी कायम रह सकता है और उसका कार्य तभी ठीक चल सकता है जब उसके सब अंग एक से एक जुड़कर और एक विचार से काम करें?।

स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय विचारक राज्य को एक सजीव संहित मानते थे। अवस्य ही वे राजा (स्वामी) और शासन-व्यवस्था को इस शरीर के सबसे श्रेष्ठ अंग मानते थे, पर कम महत्व के होते हुए भी अन्य अंग राज्य शरीर के लिए उतने हो आवश्यक थे। इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि राज्य-शरीर और श्राकृतिक शरीर की समता पूरी पूरी नहीं हो सकती। शरीर के विभिन्न पिण्ड और अवथव अलग से नहीं जीवित रह सकते। पर राज्य के कुछ अंग — जैसे दुर्ग और कोष, अलग मी रह सकते हैं, और इनकी सहायता से नये राज्य की रचना भी की जा सकती है।

हमारे ग्रंथकारों ने उपर्युक्त सत प्रकृतियों और उनके गुणों का विवेचन बड़े विस्तार से किया है। दुगें और बल पर हम अधिक चर्चा न करेंगे क्योंकि विधान की दृष्टि से इनका अधिक महत्व नहीं है। स्वामी, अमात्य, कोष और मित्र पर आगे अध्याय ५, ७, १२, और १३ में विचार किया जायगा। भूप्रदेश के विषय में राज्यशास्त्रज्ञों का कथन है कि राज्य की समृद्धि उसके भूप्रदेश के प्राकृतिक साधनों और उसकी सुरज्ञा की सुविधाओं पर बहुत निर्मर है। पर इससे अधिक आवश्यक यह है कि देश के निवासी साहसी और परित्रमी हों, क्योंकि राज्य का मवितन्य सबसे अधिक उसके निवासियों के चरित्रबल, उत्साह और कार्यज्ञमता पर ही निर्मर है। आदर्श राज्य विस्तार में कितना बड़ा होना चाहिये इस पर हमारे शास्त्रकारों ने अधिक विचार नहीं किया है। वे तो आसेत हिमांचल प्रदेश को सम्राट का अधिकार जेत्र मानते हैं। प्राचीन मारत के अधिकांश छोटे-छोटे राज्यों को अलग करनेवाली प्राकृतिक सीमाएँ न याँ। वे न तो इतने बड़े होते थे कि उनकी ठीक-ठीक शासन-व्यवस्था न हो सके, न इतने छोटे ही होते थे कि उन्हें आवश्यक साधनों के लिए दूसरों पर निर्मर रहना पड़ें।

परस्परोपकारीदं सप्तांगं राज्यमुच्यते । कामंदक ४।१
स्वाम्यमात्यज्ञनपद्दुर्गकोषदंडमित्राणि प्रकृतयः ।
अरिवर्जाः प्रकृतयः सप्तैताः स्वगुणोदयाः ।
स्काः प्रस्यंगमृतास्ताः प्रकृता राज्यसंपदाः ॥

आदर्श राज्य में क्या एक ही बंग, धर्म और माषा के लोग होने चाहिये या इनमें भेद रहते हुए भी लोगों का एक राज्य बन सकता है इस प्रश्न पर गत दो सिदयों में बहुत चर्चा हो चुकी है। पर प्राचीन भारतीय विचारकों ने इस राज्य (State) बनाम राष्ट्रीयता (Nationality) के प्रश्न का विचार भी नहीं किया है। प्राचीन भारत में यह प्रश्न था भी नहीं। देश पर यूनानी (प्रीक), शक, पहलब, कुषाण और हूण आदि अनेक विदेशी जातियों ने आक्रमण किया और वे राज्य-संस्थापक, और शासक रूप में यहाँ रह भी गये, परंतु वे अधिक दिन तक भाषा, धर्म और संस्थृति से भिन्न विदेशियों के रूप में न रह सके। एक दो पीढ़ियों के अंदर ही वे पूर्णरूपेण भारतीय बन जाते थे और हिंदू या बौद्ध धर्म प्रहण कर लेते थे। भारत के राज्यों को भी उनसे कोई खतरा न था। इन पर पूरा विश्वास किया जाता था और इन्हें ऊँचे पदों पर नियुक्त किया जाता था था थे भी किसी भारतबाह्य राज्यको आहमी-यता से न देखते थे या उस पर राजनिष्ठा न रखते थे।

प्रजा में धर्म, जाति और भाषा की एकता से राज्य में भी एकहपता आ जाती है। पर प्राचीन शास्त्रकारोंने इसे अधिक महत्व न दिया, न देने की जहरत ही थो। प्राचीन भारत के अधिकांश राज्य एक दूसरे से जाति, भाषा या धर्म में विभिन्न न थे। सभी राज्यों में हिंदू, बौद्ध, जैन आदि शांति और मेल-जोल से रहते थे। संस्कृत सार्वदेशिक भाषा थी और प्राकृतों में इतना श्रंतर न हो पाया था कि वे एक दूसरे से एकदम अलग और दुर्बोध हो जातीं। भारत में आकर सभी विदेशी बहुत जल्दी भारतीय बन जाते थे और हिंदू समाज में श्रल-मिल जाते थे। अस्तु, प्राचीन भारत के विभिन्न राज्यों में धर्म, जाति या भाषा का कोई भेद-भाव न था। व्यक्तिगत महत्वाकांजा, शासन-सुविधा या मौगोलिक परिस्थिति से ही अनेक अलग-अलग राज्य स्थापित होते थे। अतः भारतीय विचारकों ने राज्य की प्रजा में धर्म, भाषा और जातिकी एकता पर जोर देने को आवश्यकता न समझी।

श अशोक ने अपने साम्राज्य के सीमांत प्रदेश काठियावाइ का शासक तुषास्य नामक यवन ग्रीक को बनाया था यद्यि उस समय ईरान शौर बाल्त्रिया में यवन राज्य स्थापित थे। १४० ई० में शक राजा रहदामा ने सुविसाख पहत्तव को इसी पांत का शासक नियुक्त किया था, यद्यि उस समय ईरान में पहलबाँ का राज्य था।

#### राज्य के उद्देश्य।

वदो में प्रत्यच्चलिंग राज्य के उद्देश्यों या छक्ष्यों पर विचार नहीं किया गया है; पर स्फुट उल्लेखों से पता चलता है कि शांति, सुव्यवस्था, सुरच्चा और न्याय ही राज्य के मूल उद्देश्य समझे जाते थे। राजा को वरुण के समान घृतवत, नियम और व्यवस्था का संरच्चक, साधुओं का प्रतिपालक, दुष्टों को दंड देनेवाला होना चाहिये। धर्म का संवर्धन, सदाचार का प्रोत्साहन और ज्ञान का संरच्चण प्रत्येक राज्य में अच्छो तरह से होना चाहिये। प्रजा की नैतिक उन्नित के साथ ही भौतिक उन्नित करना भी शासन संस्था का काम था। वेद कालीन परीचित के राज्य में दूध और मधु की धार बहती थी। वैदिक काल से ६०० ई० पूर्व तक प्रजा का सर्वोगीण कल्याण ही राज्य का मुख्य लक्ष्य माना जाता था।

इसके पश्चात् जब राज्यशास्त्र पर ग्रंथ लिखे जाने लगे तब उनमें राज्य का लक्ष्य बर्म, अर्थ और काम का संवर्धन कहा गया । धर्म-संवर्धन का अर्थ किसी संप्रदाय या मत विशेष का पच्चात नहीं वरन सदाचार और सुनीति के भोत्साहन से जनता में सच्ची धार्मिक भावना और सदाचरण की प्रवृत्ति का संचार करना है। इस लक्ष्य को साध्य करने के लिए राज्य द्वारा धर्मों और मतों को सहायता देना, गरीबों के लिए चिकित्सालय और अन्नसत्र खोलना और ज्ञान विश्वान को शोत्साहन देना, आवश्यक माना जाता हैं। 'अर्थ'-संवर्धन का मुख्य साधन कृषि, उद्योग और वाणिज्य की प्रगति, राष्ट्रीय साधनों का विकास, कृषि विस्तार के लिए सिंचाई, बाँव और नहरों का प्रवंघ, और लानों का खनन था। 'काम संवर्धन' का साधन था — शांन्ति और मुख्यवस्था स्थापित करके प्रत्येक नागरिक को बिना विन्न-बाधा के न्याय्य जीवन-सुख मोगने का अवसर देना, तथा संगीत, नृत्य, चित्रकला, स्थापत्य, और वास्तु आदि लिलतकलाओं के पोषण से देश में सुरुचि और सुरुक्तित का प्रचार करना।

इस प्रकार शांति, सुव्यवस्था की स्थापना और जनता का सर्वोगीण नैतिक, सांस्कृतिक और भौतिक विकास ही राज्य का उद्देश्य माना जाता था।

राज्य के उद्देश्यों में 'घर्म संवर्धन' के होने से उसके स्वरूप के बारे में कुछ गड़तफहमी उत्पन्न हो गयी है। स्मृतिकारों ने राजा को बारम्बार वर्णाश्रम का प्रतिपाछक कह कर इस म्रांति को और भी पुष्ट कर दिया है। कहा जाता है

१ न में स्तेनो जनपदे न कदर्यों न मद्यपो नानाहिताग्निवीविद्वाच स्त्रीर स्त्रीरणी कुतः। छा॰ उ०, ४.११.४

कि वर्ण-धर्म या जाति-प्रया अन्याय के आधार पर अधिष्ठत है, इसमें ब्राह्मण को तो 'भूदेव' बनाकर आसमान में चढ़ा दिया गया है और शूद्र और चांडाल को नागरिकता के मौलिक अधिकारों से भी बंचित करके दासता की शृंखला में जकड़ दिया गया है। शूद्रों को संपत्ति रखने का अधिकार नहीं या, एक ही अपराध के लिए ब्राह्मणों की अपेद्मा वे अधिक कठोर दंड के भागी होते थे। चांडाल कुत्तों से भी बदतर समझे जाते थे। अतः राज्य ने वर्णधर्म का प्रतिपालक बनकर अपने को इन सब अन्यायों का प्रतिपालक और समर्थक बनाया था। उसका काम तलवार के जोर पर निम्न वर्गों को इस अन्यायकारी वर्णाश्रम-धर्म की शृंखला में जकड़े रहना था। इस प्रथा का आधार सामाजिक विषमता थी और इसमें धर्म को प्रचलित अन्यायकारी प्रथा का पर्याय बना दिया गया था। वस्तु-रियित को आदर्श की ओर चलने के बजाय इसमें प्रचलित रियित ही आदर्श मान ली गयो थी।

हिंद समाज व्यवस्था के विकास-क्रम को ठीक ठीक न समभाने के कारण ही उपर्यंक्त भ्रांति फैली है। प्राचीन भारत में प्रचलित परिपाटी और रीति-रिवाज में परिवर्तन नये कानून बनाकर या पुराने रद करके नहीं किया जाता था। समाज का मत बदलने से ही प्रथाएँ शनैः शनैः बदलती थीं। राज्य तो केवल समाज के मत की हामी भर देता था। शरंभिक काल में जब समाज अंतर्जातीय खान-पान और विवाह का समर्थन करता या तब राज्य को भी उसमें आपत्ति न थी। जब बाद में समाज इन प्रथाओं के विरुद्ध हो गया तब राज्य ने भी इन्हें कायम रखने का प्रयत न किया। प्रारंभ में विधवा को संपत्ति का उत्तराधिकार न था ; अतः विधवा की संपति पतिनिधन के पश्चात राज्य हे हेता था। बाद में विषवा को भी समाज ने संपत्ति का उत्तराधिकार देना उचित समझा, तब राज्य ने आर्थिक हानि होने पर भी इसे स्वीकार किया। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होगा कि राज्य के धर्म प्रतिपालक होने से प्रचलित रूदियों को ही आदर्श मानने की वृत्ति कुछ बढ़ी नहीं थी। हिंदू समाज-व्यवस्था का प्रश्येक निरीक्षक मानता है कि हिंदू समान में बराबर परिवर्तन होते रहे । पहले नियोग का चलन था, बाद में इसे समूल नष्ट कर दिया गया । विधवाओं और राद्रों को र्छपत्ति का अधिकार देने में पूर्वकालीन स्मृतियों का विरोध होते हए भी उनके अधिकार बराबर विस्तृत होते गये।

अतः यह ठीक नहीं कि हिंदू समाज में कुछ कुरीतियों के अस्तित्व का कारण राज्य द्वारा घम का संवर्धन या। राज्य वर्णधर्म का पालक या पर उसने धर्मशास्त्र के इस दावे को कभी स्वीकार नहीं किया कि ब्राह्मण कर दान और प्राया-दंड से बरी किये जायें। वेद पढ़ने के कारण शूद्र या ब्राह्मण-स्त्रियों को दंड मिळने की घटनाए भी प्राचीन भारत में बहुत कम मिलेंगी। वेदाध्ययन के प्रतिबंध को समाज, जिसने शूद्र भी शामिल थे, ईश्वरकृत समझता था और इसे तोड़ने में कोई आर्थिक लाम भी न था, इसलिए ज्ञी शूद्र वेदाबिकार प्राप्त करने के लिए कुछ विशेष उत्सुक नहीं थे। अतः इस प्रतिबंध का उल्लंधन करने की किसी को जरूरत भी न थी। ब्राह्मणों में भी वेद पढ़ने वालों की संख्या बहुत थोड़ी थी, और शूद्र वर्ग के धार्मिक प्रवृत्ति वाले पुरुषों को पुराण, इतिहास, और गीता पढ़ने का अधिकार देकर उनकी शानैषणा और घर्मेषणा तुप्त करने की व्यवस्था की गयी थी।

इसमें संदेह नहीं कि हिंदू समाज में अन्यायकारी कुरीतियाँ थीं और ईसा की प्रथम सहसाब्दी में इनकी संख्या में वृद्धि भी हुई। इसका कारण तत्कालीन हिंदू समाज की अनुदार और संकुचित वृत्ति थी न कि 'धर्म संवर्धन' राज्य का उद्देश्य होना। कहा जा सकता या कि राज्य का ध्येय इस संकुचित वृत्ति की दुर करना और उदारनीति को लोकप्रिय बनाना था। परंत ध्यान रहे कि प्राचीन काल में व्यवस्थापन या कानून बनाना साधारणतः राज्य के कार्य-चेत्र में शामिल नहीं था। वर्तमानकाल में शारदा ऐक्ट के उदाहरण से भी स्पष्ट हो जाता है कि समाज के प्रचलित विचारों से बहुत आगे वहा हुआ कानून भी सफल नहीं होता। फिर प्राचीन भारत के राज्यों पर जाति के नियमों की कार्यान्वित करने का भार न था; यह काम तो प्रायः विरादरीया गाँव की पंचायत का या जिनमें राज्य को या राज्याधिकारियों को कुछ विशेष स्थान नहीं या। होकमत के अनुसार ही वहाँ निर्णय किया जाता था। सदाचार और पार्मिकता को प्रोत्साहन देकर, सब मतों और धार्मिक संस्थाओं को समान सहायता देकर, सब जनो के हितार्थ तालाब, कुएँ, नहर, चिकित्सालय और अनायालय बनवाकर राज्य धर्म-संवर्धन करता था। वह कमी मतिवशेष या रूढिविशेष का पर्वपाती नहीं होता या, न पुरोहितों अथवा धर्म प्रचारकों के हाय की कठपुतली बनता था।

# क्या प्राचीन भारतीय राज्य धर्मीनगडित था ?

अच्छा हो यदि हम अभी इस बात पर भी विचार करलें कि प्राचीन भारत के राज्य कहाँ तक घर्म गुरुओं अथवा पुरोहितों के प्रभाव मे थे, कहाँ तक ऐसे राज्यों को घर्मीनगडित (Theocratic) कहना ठीक होगा। घर्म-निगडित राज्य में घर्मगुरू ही राज्य का स्वामी हीता है, जैसे इस्टामी इतिहास में खलीफा थे और आजकल भी बैटिकन राज्य में णेप हैं। धर्म-निगडित राज्य में राजा धर्मगुरुओं का आज्ञाबद्ध नौकर होता है, राजा संप्रदाय का अनुचर भी हो सकता है जैसा ८ वीं और ९ वीं शताब्दी में यूरोप के ईसाई राजा हुआ करते थे। इस काल में पोप और बिशप, धर्म के विरुद्ध जाने पर राजा को दंड तक देने का दावा रखते थे। चार्ल्स दि बोल्ड जैसे कुछ राजा धर्म गुरुओं के केवल अधर्माचरण को ही नहीं वरन सरकार के किसी भी काम को रोक सकने का अधिकार मी स्वीकार करते थे। पोप का आदेश सम्राट् के आदेशों से भी बहुकर समझा जाता था क्योंकि उसका प्रमाव केवल शरीर पर ही नहीं वरन आत्मा पर भो था। फिर भी अधिकांश रोमन सम्राट् पोप के इस टावे को मानने को तैयार न थे और मध्यकालीन यूरोपीय इतिहास में सरकार और संप्रदाय के द्वंद्ध के उदाहरण मरे पड़े हैं।

माचीन भारतीय वाङ्मय में भी राज्य और संप्रदाय के संघर्ष की हलकी सी ध्वनि सुनाई पड़ती है। गौतम धर्म-सूत्र (४००ई० पू०) में कहा गया है कि राजा का शासन ब्राइण-वर्ग पर नहीं चल सकता और ब्राइण वर्ग की सहायता के बिना राजा का अभ्युदय नहीं हो सकता। ऐतरेय ब्राइण में कहा गया है कि यदि राजा योग्य ब्राइण पुरोहित की सहायता नहीं लेता तो देवता उसके हवन को स्वीकार नहीं करेंगे। राज्याभिषेक के समय राजा तोन बार ब्राइण को नमस्कार करता है और इस प्रकार उसका वशवतीं होना स्वीकार करता है। जब तक वह ऐसा करता है तब तक ही उसकी समृद्धि होतो है। वैश्यों और इत्रियों द्वारा ब्राइणों का वशवर्तित्व स्वीकार करवाने के लिए विशेष धार्मिक कियाओं का विधान किया गया । ऋग्वेद में एक स्थल पर रपष्ट वर्णन है कि जो राजा अपने पुरोहित का यथोचित सम्मान करता है वह अपने शत्रुओं पर जय और प्रवा की राजनिष्ठा प्राप्त करता है। "

१ राजा वै सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम् । १.११

२ न वै अपुरोहितस्य देवा बलिमञ्जू वंति । ऐ. ब्रा., ७ ५.२४.

३ स (नृषः) यन्नमो ब्रह्माणे इति त्रिस्कृत्वो ब्रह्माणे नमस्करोति ब्रह्माण एव तरचत्रं वशमेति तदाष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाह । ऐ. ब्रा, ८.९

४ तद्यत्र वे ब्रह्मणः चत्रं वशमेति तद्र।ष्ट्रं समृद्धं वीरवद।ह । ऐ. ब्रा., ८.६ ब्रह्मणे चत्रं च विश्वं चातुगे करोति । पं. ब्रा., ११.११.१

१ स इद्राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थी अभि वीर्येगा । तस्मिन्विद्याः स्वयमेवानमन्त यस्मिन्बद्या राजनि पूर्वमेति ॥ ऋ.वे., ४.५०.७.६

यूरोप में पोप का यह दावा या कि सामंतों द्वारा सम्राट् के चुनाव पर उसकी स्वीकृति होनी चाहिये। पता नहीं प्राचीन भारत में इस प्रकार का दावा किया गया या नहीं।

उपर्युक्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-काल के अंत तक (१००० ई० पू०) ब्राह्मण पुरोहित राजा पर और उसके द्वारा राज्य पर अपना प्रमाव जमाने की चेष्टा करते रहे। इसमें आश्चर्य नहीं कि बहुत से राजा इसके विरुद्ध रहे होंगे। ब्राह्मणों की गायें छीनने वाले राजा के लिए जो भयानक शाप उच्चरित किये गये हैं उनके लक्ष्य संभवतः ऐसे ही राजा रहे होंगे जो धर्मगुरुओं के राज्य पर अधिकार जमाने की चेष्टा का विरोध कर रहे थे। दुर्भाग्यवश इस संघर्ष का कोई वैयक्तिक उदाहरण नहीं मिलता, जैसा मध्य यूरोप के इतिहास में मिलता है।

आगे चलकर सरकार और संप्रदाय, अथवा च्रिय और ब्राह्मण वर्ग में समझौता हो गया। वे समझ गये कि आपस के सहयोग में ही दोनों वर्गों का हित है। दोनों ने एक दूसरे की देवतांशता स्वोकार कर ली। यूरोप के इतिहास में भी इसी प्रकार पोप ग्रेगरी सप्तम ने मान लिया था कि पोप और सम्राट दोनों ईश्वरकृत हैं, उनमें वहीं संबंध है जो मनुष्य के दोनों नेत्रों में है।

बाह्मणकृत वाङ्मय में साधारणतः यही दिखाने का प्रयत किया गया है कि राजा श्रीर राज्यतंत्र ब्राह्मण और धर्मतंत्र के ही वश में चढ़ते थे। पुरोहित अपने अनुष्ठानों द्वारा राजा और राज्य का इष्ट्र या अनिष्ट कर सकता या। राज्य का ढक्ष्य धर्म की रज्ञा करना था, वह जो कानून व्यवहार में लाता था वे ईश्वरकृत या ईश्वरप्रेरित माने जाते थे। ब्राह्मण और पुरोहित अपने को सरकार से विष्ठ समझते थे और वे कर-दान और शारीरिक दंढ से बरी होने का दावा भी करते थे। उनके लिए अन्य वर्गों से नरम दंडों का विषान था।

उपर्युक्त कारणों में यह कहा जा सकता है कि कुछ हद तक प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र घर्मीनगडित था। परंतु हमें इस हद को समझ लेना चाहिये और देखना चाहिये कि यह अवस्था कितने समय तक रही। ब्राह्मणों के उपर्युक्त दावे में बहुत कुछ अतिशयोक्ति भी थी। वस्तुस्थिति सर्वदा ऐसी नहीं थी जैसी पुराने श्रंथों में मिश्रित है। इसमें संदेह नहीं कि वेद और ब्राह्मण युग में राजा पर पुरोहित का पर्योक्त प्रमाव था। परंतु हमें इसको भी

१ अ. वे., १२.५; १३,३.१-२५

नहीं भूलना चाहिए कि जैसे एक ओर ब्राह्मणप्रथों में ऐसे स्थल हैं जिन से ब्राह्मणवर्ग के उच्च पद और विशेषाधिकार का बोध होता है तो वैसे ही दूसरी ओर ऐसे भी स्थल हैं जिनसे स्थित कुछ बिलकुल विरुद्ध सी माल्म पड़ता है। तैतिरीय ब्राह्मण में एक स्थल पर मंजूर किया गया है कि राजा को चाहता है ब्राह्मणों को वही करना पड़ता है ऐतिरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि राजा जब चाहे ब्राह्मण को निकाल सकता है। वहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि समाब में सबसे ऊँचा पद चित्रय याने राजा का ही है ब्राह्मण उसके नीचे बैठता है। उ राजकुमारी शिमण्डा पुरोहित कन्या देवयानी को बड़प्पन जमाने पर इस प्रकार कटकारती है, "बहुत शान न जमाओ, तुम्हारे पिता मेरे पिता से नीचे बैठकर रात-दिन उनकी खुशामद किया करते हैं। तुम्हारे पिताका काम माँगना है और विनती करना है, मेरे पिता का काम देना और विनती सुनना है।"

अतः यह समझना भी ठोक न होगा कि वैदिक काल में भी राज्य की बागडोर पूर्णतया या विशेष रूप में पुरोहित अथवा घर्मतंत्र के हाथ रही। पुरोहित का समाज में सम्मान किया जाता था और याजनादि द्वारा उससे जो देवी सहायता मिलती थो उनके लिए समाज उसका इत्तर रहता था। परंतु राजा उसके होथ की कठपुतली कदापि नहीं था और उसके सिर चढ़ने पर उसका मिजाज ठिकाने कर सकता था और उसके निकाल भी सकता था। ब्राह्मण अवस्य ही बहुत से विशेषाधिकारों का दावा करते थे, जैने कर और शारीरिक दंड से खुटकारा। पर अध्याय १२वें में (दखाया जायगा कि इनका अस्तित्व प्रायः धर्मशास्त्रों में ही था प्रत्यच्च व्यवहार में नहीं। कालक्रम में राजा का देवतांशत्व समाजसम्मत हो गया। मगर इसका अर्थ यह नहीं कि उसे ईश्वर का एकमात्र प्रतिनिधि और सब दोषों से परे मान लिया गया। नियम व्यवस्था अपनी प्राचीनता के कारण देवी मानी जाती थी पर उसका आधार वास्तव में

१ यदा वै राजा कामयते श्रथ ब्राह्मणं जिनाति । ३. १. १४ ।

२ ( ब्राह्मणः ) श्रादायी भाष्यायी अनसायी वधाकामं प्रयाप्यः । ७.२६ ।

<sup>🤾</sup> तस्यास्त्रत्रास्परं नास्ति तस्माद्बाह्मणः चित्रयमधस्ताहुपास्ते । १, ४, १०।

असीनं च शयानं च पिता ते पितरं मम।
 स्क्रौति बन्दीन चाभीक्ष्णं नीचैः स्थिखा विनीतवत् ॥
 याचतस्त्वं हि दुहिता स्तुवतः प्रतिगृद्धातः ।
 सुताहं स्तुयमानस्य ददतो प्रतिगृद्धातः ॥ १.७२, ६–१० ।

समाज को परिपाटी और प्रयाएँ ही यों। उन्हें स्वीकार कर छेने से ही शासन-संस्था पुरोहित अथवा धर्मतंत्र को कठपुतछो नहीं बन जाती थी। शासनसंस्था वास्तव में प्रचानतथा समाज के मत का प्रतिबिंव थी।

ई॰ पूर्व ४थी शताब्दी से तो राज्य पर धर्मतत्र का प्रभाव उत्तरीत्तर कम होता गया। वैदिक कर्मों की प्रतिष्ठा कम हो गया और उनका प्रचार भी कम हो गया, इससे पुरोहित का महत्व भी कम हो गया। राजनीति ने स्वतंत्र शास्त्र का रूप प्रहण किया और वेद तथा उपनिषदों के अध्ययन के बजाय राजा इसका आंवकाधिक अध्ययन करने लगे। राजाशा या विधि-नियम (कानून) धर्म और रुद्धि नियमों से स्वतंत्र माना जाने लगा और राज्यशास्त्रश्च उसका महत्व सर्वभेष्ठ मानने लगे। इस प्रकार हिंदू राज्यतंत्र ईसवी सन् के आरंभ तक धर्मातंत्र के प्रभाव से करीव-करीव मुक्त हो गया। राजा धर्म का प्रतिपालक और संरच्चक अवश्य या पर इसते राज्य धर्मनिगडित नहीं बन गया। उसका काम सब मतों का बराबर समझना और सची धार्मिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना था। वह किसी विशिष्ट मत का प्रचारक नहीं या न धर्मगुक्यों की कठपुतली बना था।

# राज्य के कार्य

राज्य या शासनसंस्था का स्वरूप और उद्देश्यों के निरूपण के बाद अब हमें उसके कार्यों पर विचार करना है।

अर्वाचीन लेखक राज्य के कार्यों को दो श्रेणियों में विमाजित करते हैं— आवश्यक और ऐन्छिक या लोकहितकारी। पहली श्रेणी में वेसमी कार्य आते हैं जो समाज के संघटन के लिए नितांत आवश्यक हैं। बाहरी शत्रु के आक्रमण से रज्ञा, प्रजा के जान माल का संरच्चण, शांत सुल्यवस्या और न्याय का प्रवंध। दूसरी श्रेणी में लोक हित के विविध कार्यों का अंतर्माव होता है—जैसे शिद्धा दान, स्वास्थ्य रज्ञा, व्यवसाय, डाक श्रीर यातायात का प्रवंध, जंगल और खानों का विकास, दीन अनार्यों की देख रेख आदि। भचलित युग में इन श्रोकहितकारी कार्यों के ज्ञेत्र का दिनोदिन विस्तार हो होता जा रहा है।

९ धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम् । विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्ववाधकः ॥ अर्थशास्त्र ३.९ ।

२ धर्मशास्त्रविरोधे तु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः। व्यवहारो हि बलवान्धर्मस्तेनाबहोधते ॥ नारद, १, ५९,।

प्राप्त प्रमाणों से कात होता है कि प्राचीन भारत में राज्य केवल आवश्यक कार्यों से ही मतलब रखते थे। वैदिक काल में राज्य बाहरी शत्र का प्रतिकार और आंतरिक व्यवस्था और समाज परंपरा की रचा करता था। देवलोक के राजा वर्ण की माँति इहलोक का राजा वर्मपित था, वह वर्म और नीति का रचक था और प्रजा को धर्म पच्च पर चलाने में प्रयल्शील था। मगर वह व्यायदान नहीं करता था। दीवानी और फौजदारी मामलों का निर्णय पंचायतें ही करती थीं संमवतः कभी-कभी उनका अध्यक्ष कोई राज्याधिकारी होता था।

चौथी शताब्दी ई॰ पू॰ में राज्य शास्त्र के ग्रंथों की रचना होने लगी और राज्य के कार्यों के विषय में इनसे पर्याप्त जानकारी मिलती है। महाभारत श्रीर अर्थ शास्त्र है पता चलता है कि वैदिक काल और मौर्य युग के बीच में राज्य का कार्य त्रेत्र बहुत विस्तृत हो चुका था। परंतु पर्याप्त सामग्री न मिलने से हम इस विकास का कम नहीं जान सकते।

अर्थशास्त्र और महाभारत के अनुसार राज्य के कार्य चेत्र में, मनुष्य जीवन के घार्मिक, आर्थिक और सामाजिक सब क्रिया-कलाप आ जाते हैं। यूरोपीय विचारकों की भाँति भारतीय राज्यशास्त्रज्ञ राज्य को 'अनिवार्य अरिष्ट' नहीं समझते थे और न उसके कार्यों को नागरिक जीवन में अनुचित हस्तचेप मानकर उसमें कमी करने की कोशिश करते थे। 'अहस्तच्चेप' ( Laissez fare लेजे फेयर ) का सिद्धांत जिसके अनुसार राज्य के केवल वही कार्य उचित समझे जाते हैं जो शांति और मुज्यवस्था बनाये रखने के लिए अनिवार्य हों. भारत में नहीं माना जाता था। यहाँ तो राज्य के कार्य देत्र में मनुष्य के इहलोक और परलोक सब आ . जाते थे। राज्य का कर्तव्य था कि सभी घामिक मतों को अपने-अपने पथ पर चलने की पूरी सुविधा दे सत्य धर्म तथा सदाचार को पूरा प्रथम दे, समाज को उन्नित पय पर है चहे, विद्वानों और कलाकारों को मदद दे तथा शिक्षा संस्थाओं की सहायता द्वारा ज्ञान विज्ञान और कला का संवर्धन करे, धर्मशाला, चिकित्सालय, पौसरे आदि बनवाये, बाढ, टिड्डीदल, अकाल, भूकंप, महामारी आदि अधि-व्याधि जन्य दु:खों को दूर करे। उसका काम नयी बस्तियाँ बसाना और देश के विभिन्न भागों में जन संख्या का यथोचित नियोजन करना भी था। देश को प्राकृतिक संपत्ति और साधनों के विकास के लिए जंगलों और खानों का विकास करना और वर्षों की कमी पूरी करने के

१ श. प. जा., ४.३.३.६ और ह.

२ समादर्व, अ. ५.। ३. भाग २।

लिए नहरें और बाँच बनवाना भी उसका काम था। राज्य का कर्तव्य उद्योग व्यवसाय को उत्तेजन देना भी था. साथ हो व्यापारियों की अवास्तव अनुचित लामिलिप्सा से जनता की रक्ता भी करना था। समाज में अनीति न फैलने देने के लिए आपान (मदिरालय), दूत-ग्रहों और गणिकाओं की देखरेख के लिए भी राज्य की ओर से अधिकारी नियुक्त किये जाते थे।

मौर्य और गुप्त राज्य जैसे मुसंगटित राज्य प्रायः उपरिनिर्दिष्ट सब कार्य करते भी थे। पर संभव है कि छोटे राज्य खासकर संकट कालमें ये सब कर्तव्य करने में असमर्थ रहे हों।

अस्तु, प्राचीन भारत में राज्य के कार्यक्षेत्र में मनुष्य जीवन के सब पहलू आ जाते थे। प्रश्न यह है कि क्या इससे व्यक्तिगत स्वतंत्रता मारी नहीं जाती थी। राज्य का कार्य-क्षेत्र इतना व्यापक क्या इसल्लिए हो सका कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता की भावना का उस समय तक समुचित विकास नहीं हो पाया था? अथवा इसल्लिए कि जनता राज्य को सर्व-व्यापक और सर्वगुणस पन्न मानने को तैयार थी।

प्राचीन भारत में राज्य समाज का धुरा और उसके कल्याण का मुख्य साधन समझा जाता था, इसीलिए उसका कार्यन्तेत्र इतना व्यापक था। व्यक्तिगत स्वतंत्रता को इष्टे कुछ विशेष खतरा न या क्यों के ये सब कार्य केवल राज्य के कर्मचारियों के ही द्वारा नहीं संपादित किये जाते थे। आपण ( बाजार ) व्यापार और धर्म के डचाधिकारी राज-कर्मचारी अवश्य थे पर वे श्रेणी और निगमों, विविध व्यवसायसंघ तथा ब्राह्मणों और श्रमणों के संघ के सहयोग से ही काम करते थे। इन संस्थाओं में जनमत ही प्रवान रहता था, और ये तत्कालीन राज्यों या राजवरानों से भी अधिक स्थायी थी और इसीलिए इनकी बड़ी प्रतिष्ठा और घाक थी। राज कर्मचारी इन संस्थाओं से पूरा परामर्श करके समाज के विविध घटक और श्रेणियों का संघर्ष मिटाकर उनका सहकार्य बढाने की ही कोशिश करते थे। राज्य से पाठशालाओं और महा-विद्यालयों को प्रचुर सहायता मिलती थी ; पर आजकल की भाँति शिद्धा विभाग के अध्यन्न और उनके अनुचरों द्वारा शिन्ना-प्रणाली के नियंत्रण की कोशिश न की जाती यो। हिंदु मंदिरों और बौद्धमठों को राज्य से प्रभूत दान भिल्ता था पर उन्हें कभी राज्य द्वारा स्वीकृत मत का ही प्रचार करने को बाध्य नहीं किया जाता था। विकेंद्रीकरण अथवा स्थानीय स्वतंत्रता के सिद्धांत पर बहुत अधिक

१ यह प्रो० श्रंजरिया का मत है।

अमल किया काता था और प्राप्त पंचायतों तथा पौर सभाओं श्रीर श्रेणी निगमों को विस्तृत अधिकार दिये गये थे। राज्य की लोकहितात्मक कारवाई इन लोकिय संस्थाओं के सिक्रय सहयोग से ही होती थी। व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर रोक भी न लगने पाती थी। प्राचीन भारतीयों ने राज्य को व्यापक अधिकार इसलिए नहीं दिये थे कि वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का महत्व न जानते थे वरन् इसलिए कि वे जानते थे कि राज्य ही विविध हितों का समन्वय तथा विभिन्न परस्पर विशेधी स्वार्थों का सामंजस्य करके समाज का सबसे अच्छा सम्मान कर सकता है खास करके जब राजकर्मचारी जन संस्थाओं के पूरे सहयोग से काम करें।

#### अध्याय ४

#### राज्य और नागरिक

राज्य और प्रजा का परस्पर संबंध महत्व का विषय है। परंतु प्राचोनकाल में ॲिस्टॉटल जैसे इनेगिने पाश्चात्य विचारकों ने इस पर विचार किया है। गत दो शताब्दियों में लोकतंत्र के विकास से इसका महत्व बढ़ गया है और आधुनिक लेखक इस पर बहुत ध्यान देते हैं कि सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के विभिन्न चेत्रों में राज्य और प्रजा के परस्पर क्या अधिकार और कर्तव्य हैं, इनमें कोई विरोध है या नहीं और है तो उसका सामंजस्य किस प्रकार किया जाय।

प्राचीन भारतीय ग्रंथकारों ने शायद ही इसी समस्या पर ध्यान दिया हो। राजनीति शास्त्र के आधुनिक ग्रंथों में राज्य और प्रजा के परस्पर संबंध की चर्चा जब होती है तब उसमें दोनों के अधिकारों की ही सीमा निर्धारण करने का प्रयत किया जाता है, परंतु प्राचीन भारतीयों ने इस विषय को इस दृष्टि से देखा ही नहीं। वे प्रजा के अधिकारों के स्थान पर राज्य के कर्तव्या का हो वर्णन करते हैं। इसीने प्रजा के अधिकारों का अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार वे प्रजा के कर्तव्यों का निरूपण करते हैं। इसी अनुमान लगाया जा सकता है कि राज्य का प्रजा पर क्या अधिकार था। दोनों पद्मी के अधिकारों की दृष्टि से हमारे प्राचीन प्रयों में इस समस्या पर सुन्यवस्थित विचार नहीं किया गया, हमें उन अधिकारों का अनुमान ही परस्पर कर्तव्यों से करना पड़ेगा। अपरंच प्राचीन और अर्वाचीन यूरोपीय लेखक इस समस्या पर विद्युद्ध लौकिक और वैधानिक दृष्टि से विचार करते हैं। वे प्रजा के नागरिक और राजनीतिक जीवन को उसके धार्मिक और नैतिक जीवन से अटग कर देते हैं, और अन्सर राज्य को उसके खिलाफ मान कर उसके विरोध में उसके अधिकारों का निरूपण करते हैं। इसके विपरीत प्राचीन भारतीय ग्रंथकार प्रका के राजनीतिक कर्तव्य को उसके साधारण कर्तव्य ( धर्म ) का अंग मानते हैं। वे राज्य और प्रजामें कोई विरोध नहीं स्वीकार करते इसलिए दोनों के अधिकार और कतंव्य की स्पष्ट सीमा निर्धारित करने की जरूरत नहीं समझते। राज्य का एकमात्र लक्ष्य ही प्रचा का इहलोक और परलोक में सब प्रकार से अभ्यदय साधना है। राज्य न हो तो मास्य-न्याय फैल जाय, अतः व्यक्ति के सुक और अभ्युद्य के लिए राज्य का होना जरूरी है और यही राज्य का मुख्य उद्देश्य है। हमारे प्राचीन विचारकों ने इस पर अधिक नहीं सोचा कि यदि राज्य और प्रजा अपने-अपने कर्तव्यों का पालन न करे तो क्या करना चाहिए। उन्हें भरोसा था कि दोनों पत्त अपने-अपने धर्म व कर्तव्यों का पालन करेंगे।

एथेंस, न्यार्टा, रोम इत्यादि शाचीन यूरोपीय राज्यों में सब प्रजा एक ही आँख से नहीं देखी जाती थी। जिन लोगों को शासन में सिक्रय सहयोग देने और राज्य के नियम-विधान आदि बनाने का अधिकार था, वे हो नागरिक पद के अधिकारी होते थे। मगर वे संख्या में बहुत कम रहते थे, बहुसंख्य प्रजा को नागरिक और राजनीतिक अधिकार नहीं थे, उसका दर्जा करीब-करीब दासों के बराबर था। परदेशियों का एक वर्ग हो अलग था। उन पर हीनतादर्शक प्रतिबंध तो न थे, परंतु वे देश के राज्यशासन और वेधानिक जीवन में भाग लेने के अधिकारी न थे।

प्राचीन भारत के विधान-शास्त्रज्ञों ने देश के निवासियों में विशेषाधिकारी और सामान्य नागरिक ऐसा भेदभाव नहीं किया है। हमें वैदिककाल के राजनीतिक जीवन के बारे में विशेष कुछ ज्ञान नहीं है। उस काल में 'सिमिति' जैसी जन-संस्थाएं राजा के अधिकारों और कार्य व्यवसाय पर बहुत अंकुश रखती थीं, जैसा कि आगे सातर्वे अध्याय में दिखाया जायगा। बहुत संभव है कि सब लोगों को सिमिति के सदस्य जुनने का अधिकार न रहा हो। यह अधिकार थोड़े ही लोगों को रहा हो, और प्राचीन यूनान के पूर्णाधिकारी नागरिक या आजकल के सरदार या जमीनदारों की उच्चश्रेणी के समान इनका भी एक वर्श रहा हो। प्राचीन गणतंत्रों में भी एक विशेषाधिकार-भाजन उच्चवर्ग रहता था जिसके हाथ में राजनीतिक सत्ता रहती थी। पर पर्याप्त सामग्री के अभाव से न तो हम इस वर्ग के विशेषाधिकारों को बता सकते हैं और न उसके राज्य तथा साधारण जनता के संबंध के बारे में कुछ विवरण दे सकते हैं।

परंतु जब हम ५०० ई० पू० के लगभग ऐतिहासिक युग पर दृष्टिपात करते हैं तो 'समितियों' को गायब पाते हैं। अतः हमारे विधान-शास्त्रियों ने प्रजा वे समितिनिर्वाचक नागरिक और शेष अनागरिक भेद नहीं किया है। इस युग में ग्राम, जिला और नगर पंचायतों का खूब विकास हो चुका था; और उनके सदस्यों का भी उल्लेख बारंबार मिलता है। इनमें जनता की ही बात चलती थी। किंतु इन संस्थाओं के सदस्यों का आजकल की भाँति जनता के मतों द्वारा चुनाव नहीं होता था, वरन अनुभवी प्रतिष्ठित और वयो दृद्ध व्यक्ति मूक सर्व-

संमति से सदस्य बनाये जाते थे। दिल्लाण भारत में प्राम-पंचायत के सदस्यों का 'चुनाव' सक्चरित्र विद्वान आर प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से हो चिट्टी उडाकर होता था। पंचायत के व्यतिरक्त गांववालों की साधारण सभा भी होती थी जिसे स्मृतियों में 'यूग' कहा गया है। इसमें गाँव के सभी प्रतिष्टित लोग रहते थे जिनका महत्तर महाजन, या 'पेरुमाल' कहते थे। यह पूर्णतया लोकतंत्रात्मक संस्था होता थी , और इसमें सभी जातियों आर वृत्तियों का, अन्त्यजों तक का भी,' समावेश होता था। अत्र व स्थानीय शासन क चेत्र में भो प्रजा के अधिकारोंमें कोई श्रांतर न रहने के कारण हमारे विधान शास्त्रियों ने प्रजा का विशेषाधिकारी वर्ग और सामान्य वर्ग जैसा भेदभूलक वर्गीकरण नहीं किया है।

राज्य के नागरिकों और परदेशिया में भेदमाव प्राचीन काल में सर्वंश किया जाता या और आजकल ता बहुत किया जाता है, परंतु हिंदू प्रथकारों ने यह भेद भी नहीं किया है। इसम कोई आश्चर्य को बात नहीं है। इस महादेश क विभिन्न भागों में एक व्यापक सिंस्कृतिक एकता वर्तमान थी, इसालिए एक प्रांत का निवासी दूसरे प्रांत के निवासी को-जैसे लाट (गुजरातो) गौंड़ (बगाली) को, अथवा कर्णाटकी कश्मीरी को—परदेशी नहीं समझता था। प्रांतीय विभिन्नताओं का विकास घीर घारे हो रहा था, पर व इतनी प्रबल न हो पाया थीं कि देश के विभिन्न भागा में स्थापित स्वतंत्र राज्य पड़ोसी राज्य के निवासिया को परदेसी मान कर उन पर रोकटोक लगाते। गुजरात के राजा महाराष्ट्र के ब्राह्मणों को दान देते थे, कश्मीरी पंडित कर्णाटक में राज-किव बन सकते थे, और दााच्यात्य सैनिक उत्तर हिंदुस्थान क राजाओं की सेना में भर्ती होते थे। यह सब इसीलिए संभव था कि राजनीतिक दृष्टि स अनेक स्वतंत्र राज्यों में विभाजित होने पर भी देश में सांस्कृतिक एकता की भावना थी।

परंतु ध्यान देनं की बात यह है कि विदेशियों पर भी इस प्रकार के प्रतिबंध न थे। अशोक के राज्य में एक यवन काठियावाड़ ऐसे एक प्रमुख सीमांत प्रदेश का शासक था, शक नरेश रहदामा (१७० ई०) के राज्य में सुविधाख एक पहलब भी एक प्रांत का शासक था और यशोवर्मा (७२५ ई०) के राज्य में एक हूण शासन के उच्चपद पर था। पश्चिम भारत में राष्ट्रकूट राजाओं ने मुसलमानों को अपने राज्य में बसने और अपने कानूनों के व्यवहार के लिए अपने ही में से श्रिषकारी चुनने का अधिकार दिया था।

१ आगे ११वां अध्याय देखो ।

विदेशियों को अलग वर्ग में न रखने का कारण हिंदू धर्म की उदार प्रश्नुति और अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता के प्रमाव से विदेशियों को अपने समाज में मिला लेने का विश्वास था। वाहर से आक्रमणकारी रूप में आनेवाले यवन, शक, कुषाण और हूण सब हिंदू समाज में घुलमिल गये, इसी से हमारे विधान-शास्त्रियों ने देशी विदेशी का भेद न किया।

विधान व्यवस्था बनानेवालों व्यवस्थापकों को जुनना नागरिकों का एक प्रमुख अधिकार समझा जाता है। यह घारणा प्राचीन भारत में संभव न थी, क्योंकि धार्मिक विधिनियम देवी माने जाते थे और लौकिक कानून व्यवहार श्रीर प्रथा से निर्धारित थे। आज कल को भांति व्यवस्थापक सभाओं या राजनशासन द्वारा विधिनियम बनाने की परिपाटी उस समय न थी।

आधुनिक काल में यह जरूरी कर्तव्य समझा जाता है कि देश में सब नागरिकों को उन्नति का समान अवसर मिले पर श्रिष्ठिकतर यह समानता सिद्धांत में ही रहती है व्यवहार में यह सर्वत्र नहीं दिखायी देती हैं। आलो-चकों का कहना है कि प्राचीन भारत में राज्य अपना यह प्रथम कर्तव्य करने में भी असमर्थ या क्योंकि जाति प्रथा में हरेक व्यक्ति अपने आनुवंशिक जन्म-सिद्ध पेशों में हो बंबा था इसलिए समान अवसर का अभाव था।

यह आलोचना अंग्रतः ही ठीक हो सकती है। जाति के अनुसार दृति का निर्घारण राज्य नहीं करता था वरन वह समाजिक व्यवहार और प्रयाओं द्वारा होता था। १०० ई० पू० तक वृत्ति के चुनाव में पूर्ण स्वतंत्रता थी, राज्य भी इस काल में विशेष जाति को विशेष वृत्ति ग्रहण करने को बाध्य नहीं करता था। चृत्रिय और वैश्य भी वेद का अध्यापन करने को स्वतंत्र थे। आगे चलकर वृत्ति या पेशे आनुवंशिक हो गये और स्मृतियां इस बात पर जोर देने लगीं कि हरेक जाति श्रपने लिए निर्धारित दृति ही ग्रहण करे। स्मृतियों की इस नयी ब्यवस्था का ऋाघार भी उस समय की वस्तुिस्थिति ही थी अतः यदि नागरिकों को उन्नति का समान अवसर नहीं था या उनको श्रपनी वृत्ति निर्घारित करने में पूर्ण स्वतंत्रता नहीं थी तो इसका दोष राज्य पर नहीं तक्कालीन समाज पर था। यह कहा जा सकता है कि राज्य की इन प्रतिबंधों को दूर करने और समाज को समझाने का प्रयत्न करना चाहिये था, पर उस युग में यह असंभव सा था क्योंकि उस बमाने में ये प्रथाएँ दैवी या ऋषि-प्रणीत मानी नातो थीं। फिर भी शिला लेखादि से पता चढता है कि बहुत से लोग अपनी स्मृतिनिर्धारित वृत्ति से विभिन्न वृत्ति भी प्रहण करते थे; यह तारीफ की बात है कि राज्य इसमें रोक टोक नहीं करता था। जहाँ तक

मालूम होता है केवल पुरोहिती वृत्ति के संबन्ध में ही प्रतिबन्ध लागू होते थे। उपनिषदुत्तर काल में कोई भी अब्राह्मण पुरोहिती या वेदाध्ययन न कर सकता था, संभव है कि कभी कदापि राज्य द्वारा इसके उल्हंधनकर्ता को दंड भी दिया गया हो। पर यह भी नहीं भूलना चाहिये कि पुरोहित बनने या वेद पढ़ाने का अधिकार वास्तव में मिदा माँगने के अधिकार से अधिक न या। पुरोहित या धर्मगुरु की समाज में भले ही अधिक प्रतिष्ठा रही होपर उसकी आमदनी बहुत ही थोड़ी थी। समाज में यह भावना भी थी कि ब्राह्मण के लिए इन वृत्तियों का निर्धारण ईश्वरकृत है और इसका उल्लंघन करनेवाला नरक में जरूर जाता है। अतः यदि राज्य ने इस परिपाटी का समर्थन किया तो वही किया जिसे ९९ प्रतिशत अब्राह्मण स्वयं स्वीकार करते थे।

आधुनिक रिद्धान्तों के अनुसार राज्य का प्रत्येक नागरिक विधि नियमों की दृष्टि में समान होना चाहिये। यह मानना पढ़ेगा कि प्राचीन भारत में यह स्थिति न थो। एक ही अपराध के लिए अन्य बातियों की अपेचा ब्राह्मण के हिए इसके दण्ड का विधान था। स्मृतियों में अवश्य कहा है कि शह जो अपराघ करे यदि ब्राह्मण वहीं करे तो उसका पाप अधिक है और परलोक में उसे दण्ड भी अधिक भोगना पहेगा, पर तारीफ तो तब थी यदि इहलोक में भी ब्राह्मण के लिए स्मृतियों में अधिक कठोर दंड का विधान किया जाता। पर स्मृतियों से यह आशा करना ठीक भी नहीं है। कानूनन समानता होते हए भी दुनिया भर में, हाल तक ऊँचे पद के व्यक्ति को हलके ही दंड मिलते थे। प्राचीन रोम और यूनान में दास की इत्या करने पर नाममात्र का ही इंड होता था । ऍंग्लो-सैक्सन युग में भी स्वतंत्र नागरिक या सरदार (नाइट) की हत्या पर जो हरजाना देना पड़ता था, उससे बहुत कम दास या काश्त-कार की हत्या पर किया जाता था। १८ वीं शताब्दी तक फ्रांस में भी कानून में ऊँच नीच का बहुत भेद भाव था। अतः प्राचीन भारत के कानून में सबके साथ पूर्ण समता की आशा करना ज्यादती है। फिर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्मृतियों ने ब्राह्मण के गौरव को बहुत बढ़ा चढ़ाकर वर्णन किया है। व्यवहार में ब्राह्मण शारीरिक दंड से बरी न थे, जैसा स्मृतियों में कहा गया है। श्रर्थशान्त्र से पता चलता है कि राजद्रोह के अपराधी ब्राह्मण को शिरच्छेद के बजाय जल में डुबीकर प्राण दंड दिया जाता था। अस्तु, दंड देने के तरीके में भेद रहने पर भी दंड में कोई भेद न था।

राज्य प्रजा के जानमाल की रहा और सर्वोगीण अभ्युदय की व्यवस्था करता है अतः वह प्रजा से आशा भी रखता है कि वह उसके नियमों और शासनों का पालन करके उसके साथ पूरा सहयोग करे। प्राचीन भारतीय विचारकों ने भी प्रका के इस कर्तव्य पर बहुत जोर दिया है। आधुनिक काल में भी प्रका से युद्ध पड़ने पर राज्य के लिए लड़ने और प्राण तक दे देने की आशा की बाती है। जाति प्रथा के उदय के कारण प्राचीन भारत में वेदोत्तर काल में सब नागरिकों से इसकी अपेद्धा न की जाती थी। राज्य की रद्धा के लिए युद्ध करना चित्रय का ही कर्तव्य था और समरभूमि से पराङ्मुख होना उसके लिए सबसे बड़ा कर्लंक का विषय था। अन्य जातियों का काम युद्ध करने के बनाय अपने उद्योग, व्यवसाय और अम द्वारा युद्ध के साथन निर्माण करना और जुटाना था। उस युग में अनिवार्थ सैन्य भर्ती से कार्य विभाजन ही श्रेष्ठ समझा जाता था।

परंतु प्राम संस्था के प्रति प्राम निवासियों की गहरी निष्ठा थी और प्राम तथा गोषन की रच्चा में प्राम के सब जातियों और श्रेशियों के कट मरने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। महाराष्ट्र, कर्नाटक और दिच्चण भारत में पाये जानेवाले 'बीरगल' इस बात के प्रमाण हैं कि संकट पड़ने पर सब जातियों के लोग और अकसर स्त्रियाँ भी प्राम के बचाव के लिये मर मिटने से न डरते थे 2।

हमारे विधानशास्त्री तृपतंत्र को ही आदर्श मानते हैं अतः वे सैनिक और नागरिक को देश के बनाय नरेश के लिए ही प्राण देने का उपदेश करते हैं। पश्चिम में भी राष्ट्रीय राज्यों के उदय के पूर्व यही दशा थी।

विशुद्ध भावना के रूप में देश वा राज्य प्रेम का विकास प्राचीन भारत में होने की विशेष गुंजाइश न थी। जिन अनेक राज्यों में देश इंटा हुआ या उनमें घर्म, संस्कृति या माषा का भेद न था। काशी और कोशल, अंग और वंग में शायद ही कोई अंतर रहा हो। १२ वीं शताब्दी के गहदवाल, चंदेल और चाहमान राज्यों की सीमाएँ भौगोलिक या प्राकृतिक आधार पर विभाजित नहीं हो सकतों। प्राकृतिक सीमाओं की रोक न रहने से और एक ही प्रकार की स्वदेशी संस्कृति के प्रचार से भारत के विभिन्न राज्यों के नागरिकों में स्वराज्या-मिमान प्रत्वर स्वरूप में नहीं रहता था। विभिन्न राज्यों में युद्ध प्रायः राजाओं

१ युद्धसत वीरों के स्मृति में बनाये हुए मूर्यंकित शिकालंडो को 'वीरगत्न' कहते हैं।

२ प्. इं., इ. १६३ ; सौ. इं. ए. रि., १६२१ नं. ७३; प्. क., भाग १ नं० ७४

की स्पर्धा से होते थे न कि नागरिकों के संकुचित और स्वार्थी राज्याभिमान के संवर्ध से। जीतनेवाला भी साधारणतः पराजित राजा के किसी रिक्तेदार को ही गदी पर बिठा देता था और स्थानीय नियमों और प्रथाओं में हस्तच्चेप न करता था। अतः राजा और शासक वर्ग को छोड़कर साधारण जनता पर लड़ाई की हारजीत का विशेष प्रभाव न पड़ता था। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि उनमें देशमिक की कमी थी मगर दूसरी दृष्टि से कहा जायगा कि उनमें स्कुचित प्रांतीयता की भावना न थी। यदि भारत के विभिन्न राज्यों की प्रजा में प्रबल प्रांतीयता की भावना का विकास हो गया होता और वे एक दूसरे के खून के प्यासे बन गये होते तो भारत देश भर में (व्यास) सांस्कृतिक एकता की भावना का उदय और फैलाव संभव न होता।

पर संपूर्ण भारतवर्ष के लिए भारतीयों में गहरा प्रेम और उत्कट देशभक्ति थी और जब भी उसके धर्म, संस्कृति और स्वतंत्रता पर संकट उपस्थित होता था, भारतीय उसके छिए माण अर्पण करने को दौड़ पड़ते थे। विकन्दर के आक्रमण के प्रवल प्रतिरोध का इतिहास पहकर कौन कह सकता है कि उस समय के भारतीयों में देश प्रेम का अभाव था ? दिल्ण सिंव में ब्राह्मण सिंकंदर के प्रतिरोध का नेतृत्व कर रहे थे श्रीर इसके लिए सिकंदर द्वारा छंड के छंड मे वे फाँसी पर लटका दिये गये, क्योंकि इन्हीं के कारण उसका एक एक कदम आगे बढ़ना मुश्किल हो रहा था। उनमें से एक से फाँसी देने के पहिले पूछा गया कि द्वम क्यों होगों और राजा को सिकन्दर का सामना करने को उसकाते हो ? उसने बीरतापूर्वक उत्तर दिया—स्योंकि मैं चाहता हूँ कि वे सम्मान से निएँ और सम्मान से ही मरें?। दुर्भाग्यवश शक, पहलव और कुशाण आक्रमणों के तिरोच का पूरा इतिहास नहीं मिलता, परन्तु जो कुछ थोड़ा मिलता है उससे पता चलता है कि कुणिंद, यौधेय और मालव आदि गणतंत्र, दशकों तक बराबर इनसे छड़ते ,रहे और अंत में उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्त करके ही दम लिया। हूर्णों को निकालने के लिए उत्तर भारत के बड़े राज्यों ने मिलकर प्रयत्न किया था। भारत की संस्कृति और घर्म को मुसलमानों से कितना खतरा है इसका भान होने पर उत्तर भारत के सभी मुख्य हिंदू राज्यों ने एक होकर पेशावर के पास सन् १००८ ई० में मुसलमानों का सामना किया।

THE SHAPE STATE OF THE PARTY OF THE STATE

१—मैक्किडल, एंशिएंट इंडिया-इट्स इनवेजन बाइ अलेक्जेंडर दि प्रेट,

० १४६-१६० ।

२ वही-पृ० ३१४।

१०२४ ई० में सोमनाथ मंदिर को महमूद गजनवी के आक्रमण से बचाने के लिए ५० हजार हिन्दुओं ने प्राण दिये। अपने घर्म और देशपर मरनेवाले योद्धा यही विश्वास करते थे कि भारतवर्ष की भूमि ऐसी पवित्र है कि देवता भी इसमें जन्म लेने को तरसते हैं । माता के समान मातृभूमि भी स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है यह एक सुविख्यात कहावत कहती है विदेशी आक्रमणों के प्रतिरोध का इतिहास इस बात का साची है कि हिन्दू इसमें पूरा विश्वास भी करते थे।

## राजनीतिक दायित्व के आधार

नागरिक के राज्य के प्रति अनेक कर्तव्य हैं। अब हमें यह देखना है कि प्राचीन भारतीय विचारकों के भत में इनका बया आधार है। राज्य ही जनता को अराजकता से बचाने का एकमात्र साधन है अतः जनता का यह धर्म है कि उसका पूरा समर्थन करे श्रौर उसके नियमों का पालन करके उसके प्रति अपनी जिम्मेदारी पूरी करे। मनु का कथन है कि यदि राज्य-दंड का भय न हो तो सब लोग कर्तव्यच्युत हो जाय, बलवान दुवेलों को शूल या मत्स्य की भाँति भूनकर खा जाय, कुत्ते भी हिवर्भाग खाने के लिए दौड़ जाय। स्वर्ग के देव भी यदि अपने अपने कर्तव्य के दच्च रहते हैं तो उसका कारण भी देवाधिदेव द्वारा दंड का भय ही है। राजा का देवतांशत्व भी प्रजा की राजनीतिक जिम्मेदारी का एक कारण माना गया है। मनु कहते हैं, 'राजा नररूप में देवता है और सब को उसकी श्राह्म का पालन करना चाहिये।' परंतु जैसा कि अगले अध्याय में दिखाया जायगा राजा के देवतांशत्व का यह अर्थ नहीं है कि आँ स्व मूँद कर उसकी आहा का पालन किया जाय। 'कु-शासन तथा कर्तव्य की अवहेलना करने पर राजा की सिंहासन से उतारने और वध करने का अधिकार भी प्रजा को दिया गया था।

विधि-नियम भी दैवी माने जाते थे और राज्य उन्हें कार्यान्वित करता था इसिंहिए भी राज्य के अनुशासन में रहना प्रजा का कर्तव्य कहा गया है। परंतु

१ — गायन्तिः देवाः किछ गीतकानि धन्यास्तुते मारतभूमिभागे । स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूतौ भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरस्वात् ॥ —मार्कग्रेथे पुराग

२ - जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गाद्वि गरीयसी।

पुराने अनुपयोगी नियमों की गुलामी का समर्थन इसका अमीष्ट न था। राज्य द्वारा न सही, व्यवहार द्वारा पुराने नियमों में परिवर्तन हुआ करता था।

हम देख चुके हैं कि प्राचीन भारत के कुछ विचारकों ने भी सहमित ( इकरार ) द्वारा राज्य की उत्पत्ति की कल्पना की है। प्रजा राजा को कर देने और उसकी आक्षापालन करने को इस शर्त पर तैयार होती थी कि राजा उसकी रचा करे। अतः प्रत्यच्च या अप्रत्यच्च रूप से राज्य के प्रति कर्तव्य का आधार यह इकरार ही था। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि हमारे विधान-शास्त्रियों ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि अपने कर्तव्यों से च्युत होने और प्रजा की सुरचा और सुव्यवस्था करने में असमर्थ होने पर राजा पागल कुचे की भाँति मार डाला जाना चाहिये। उसके आक्षापालन का प्रश्न भी ऐसी अवस्था में उपस्थित नहीं होता है।

सताङ्ग का सिद्धान्त भी राजनीतिक कर्तव्यों का श्राधार है। सरकार और प्रजा दोनों राज्यशरीर के अग हैं, दोनों परस्पर के सहयोग से ही काम कर सकते हैं और संघर्ष होने पर दोनों का नाश अवश्यंभावी है। राज्य अपने कार्यों द्वारा प्रजा की इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति का प्रयन्न करता है, उसे इस कार्य में सफलता तभी मिल सकती है जब प्रजा भी उसके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करे। अतः चूँकि राज्य प्रजा की नैतिक, आधिक और सांस्कृतिक उन्नति को कोशिश करने में यत्वशील रहता है, प्रजा को भी चाहिये कि वह अपने राजनीतिक कर्तव्यों का पालन करके राज्य का मार्ग सुगम बनाए।

१ श्रहं वो रक्षितेत्युक्तवा यो न रचित भूमिपः। स संहत्य निहंतव्यः क्वेव सोन्माद श्रातुरः॥ — महाभा १३.१६,३१

#### ५ अध्याय

#### नृपतंत्र

यद्यपि प्राचीन भारत में अन्य प्रकार के भी राज्य थे पर सबसे अधिक प्रचलन नृपतंत्र का ही था। अतः इस अध्याय में हम राजपद संबंधी विभिन्न प्रकृती पर विचार करेंगे।

वैदिक वाङ्मय में राजपद की उत्पत्ति के विषय में कुछ कल्पनायें की गयी हैं। किसी समय देवताओं और असुरों में संग्राम हुआ और देवताओं की बराबर हार होती रही। देवताओं ने एकत्र होकर विचार किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनके परामव का कारण उनमें राजा का न होना ही था। उन्होंने सोम को अपना राजा और नेता बनाया के और असुरों पर विजय प्राप्त की। अन्यत्र कहा गया है कि देवताओं में सबसे श्रेष्ठ, यशस्वी श्रौर शक्तिशाली होने के कारण ही इन्द्र देवताओं के अधिपति चुने गये। एक और कथा है कि वहण देवताओं के राजा होना चाहते थे, पर वे उन्हें स्वीकार न करते थे। तब अपने पिता प्रजापति से उन्होंने ऐसा मंत्र प्राप्त किया कि वे सब देवताओं से बढ़ गये और सबने उन्हें अपना राजा माना ।

इन कथाओं से स्पष्ट है कि राना की उत्पत्ति का कारण सामरिक आव-रयकता थी और वही व्यक्ति राना बनाया जाता था जो रण में सफल नेतृत्व कर सके। युद्ध में विजय नेता के साहस, कौशल और पराक्रम पर ही निमर है। इन गुणों से युन्त व्यक्ति बन नेता बनाया जाय और उसके नेतृत्व में विजयश्री का लाभ हो तो उसकी श्रांकि निरंतर बढ़ती ही चली जाती है और श्रंत में वह राजा का पद प्राप्त कर लेता है। यदि उसके लड़के भी योग्य हुए तो यह पद आनुवंशिक बन जाता है। राज्याभिषेक के समय किये जानेवाले बाजपेय यह में एक रथ की दौड़ की भी प्रथा है जिसमें राजा ही सर्वप्रथम श्राता है।

<sup>🤋</sup> अराजन्यतया वै ना जयति राजानं करवाम है इति ॥ ऐ. हा., १.१४.

२ तै. ब्रा., २, २. ७, २

३ जै. ब्रा. ३.१५२

यह रीति उस जमाने की 'यादगार है जब राजपद के उम्भेदवार की शक्ति की परोज्ञा रथ की दौड़ में की जाती थी। 9

हम देख चुके हैं कि वैदिक काल में समान का संघटन पितृप्रधान-कुटुंब-मूलक था। कई कुटुंबों या कुलों को मिलाकर विश् और कई विशों को मिलाकर जन का संघटन होता था। कुलपितयों में से ही नेतृत्व और पराक्रम के गुर्गों से युक्त व्यक्ति विश्पित का पद प्राप्त करते थे। विश्पितयों में से इन्हीं गुर्गों में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति जनपित के उच्चपद पर आसीन होता था। उसकी योग्यता की जाँच रथदीड़ ऐसे प्रकारों से की जाती थी।

अतः प्राचीन कथाओं और हिंदू संयुक्त-कुटुंब के संघटन दोनों सिद्ध करते हैं कि राजा की उत्पत्ति समाज के पितृप्रधान कुटुम्ब-पद्धति से ही हुई। पराक्रमी और प्रतिष्ठित कुलपति विश्पति बन जाता था। साधारणतः सबसे श्रेष्ठ कुल के प्रमुख में ये गुण विद्यमान समझे जाते थे, चुनाव की आवश्कता तभी होती थी जब इसमें संदेह होता था कि उत्तराधिकारी कौन है।

वैदिक वाङ्मय घर्मप्रधान है फिर मी उसमें इस बात का कोई भी संकेत नहीं कि राजपद का पुरोहित या घर्मगुर के पद से सबंघ हो अथवा उसकी उरपित उससे हुई हो। यह बात उल्लेखनीय है कि वैदिक राजा का कर्मकांड या पौरोहित्य कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं या और न वह प्राचीन मिस्न, रोम या प्रीस के राजा या शासन की भाँति सार्वजनिक यज्ञादि का संचालन करता या। चिकित्साकौश्र के बल पर अधिनीकुमारों के देवत्व प्राप्त करने की कथा है पर चिकित्साकौश्र द्वारा किसी वैद्य के राजा बनने का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में कहीं नहीं है।

१ वैदिक काल में घुइसवारी और रथहाँकने में कीशल का वही महत्व या जो आजकल वायुसेना में श्रेष्टता का है।

२ सिकंदर के इतिहास-छेखकों ने जिखा है कि कठ जाति में, जो अपने रयाकीशल और पराक्रम के छिए विख्यात थी, सबसे स्वरूपवान् व्यक्ति ही राजा खुना जाता था (मैक्किंडल, एंजिएंट इंडिया ए० ३८) इसका अर्थ यह है कि सैनिक योग्यता समान होने पर स्वरूप को प्रधानता दी जाती थी, यह नहीं कि सुंदरता के सामने वीरता की उपेदा की जाती थी।

### क्या राजा का निर्वाचन होता था ?

प्राचीन भारत में राजा निर्वाचित होता या या नहीं इस पर बहुत मतभेद है। वैदिककाल के पूर्वभाग में अवश्य निर्वाचन के कुछ उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद में एक स्थल पर विशों द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है। अथवेंवेद में भी एक स्थल पर विशों द्वारा राजा के वरण की कामना की गयी है। यर संभवतः साधारण जनता निर्वाचन में अभिलित नहीं होती थी। शतपथ ब्राह्मण में एक उल्लेख में कहा गया है कि अन्य राजागण जिसे माने वही राजा होता है दूसरा नहीं। उत्तव्याभिषेक के एक मंत्र में यांचा की गयी है कि अभिषिक राजा अपने श्रेणी के व्यक्तियों में प्रतिष्ठित हो। अतः अधिक संभव है कि जनता के नेतागण कुलपित और विश्पति ही राजा का वरण करते रहे हों और साधारण जनता अधिक से अधिक प्राचीन रोम की 'क्यूरिया' (जनसाधारण) की माँति उनके निर्णय पर वेवल अपनी सहमित देती रही हो । निर्वाचन भी कभी कदा ही हुआ करते थे। साधारणतः सबसे प्रतिष्ठित कर दिया जाता था।

कुलपितयों और विश्पितियों द्वारा राजा के इस औपचारिक निर्वाचन की प्रया उस काल में भी पुरानी पड़ती जा रही थी। निर्वाचन के संबंध में जितने उल्लेख मिलते हैं अविकांश से यही पता चलता है कि कुलपितयों और विश्व-पितयों की दलबंदी से राज्य में बराबर झगड़ा मचा रहता था और अस्सर राजा को भी सिंहासन छोड़ना पड़ता था। इन उल्लेखों में था तो

श ता ई विशो न राजानं कृणाना बोमत्सवो श्रप वृत्राद्तिष्ठन् । १०. १२४. म यहाँ पर विशद्वारा निर्वाचन का स्पष्ट उल्लेख है साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि जनता डरी हुई थी । यदि जनता की सहमति पर ही राजा का निर्वाचन निर्भर था तो उन्हें डरने की क्या आवश्यकता थी ?

२ त्वां विशो वृणतां राज्याय । ३, ४, २

३ यस्मै वा राजानो राज्यमनुमन्यनते स राजा भवति न स यस्मै न । — श. प. बा. १. ३. ४, ४.

४ इसीसे उनमें उत्साह का अभाव और मय का प्रमाव रहता था, यथा, उत्पर के नं० १ के उद्धरण में वर्णित है।

५ ह्यन्तु त्वां प्रतिजना प्रतिमित्रा भट्चत । अ. वे., ३. ३. ६.

अपने मित्रों द्वारा निर्वाचित राजा के प्रतिद्वंदियों का सामना करते हुए सिंद्दासन पर जमे रहने की, या राज्यच्युत होने के बाद पुनः ग्रही पर बैठनेवाले राजा के प्रजा द्वारा अंगीकार किये जाने की, यांचा की जाती है। इनसे यह सिद्ध नहीं होता कि आजकल के अर्थ में वैदिक काल में राजा का निर्वाचन होता था। हाँ, यह अवश्य है कि आज कल की अपेद्धा राजा उच्चवर्गीय कुल्पतियों और विश्पतियों के समर्थन पर अधिक निर्मर रहता था। निर्माचन की प्रथा बैदिक काल में भी प्रायः अव्यवहृत हा जुकी थी। यह इसी बात से सिद्ध है कि ऋष्वेद में भी अधिकतर राजपद आनुवंशिक दिखाई देते हैं। तृरसुओं में चार पीढ़ी न और पुरुष्ठों में और भो अधिक समय से पुत्र हो पिता की राजगही पर बैठते चले आ रहे थे। सज्जयों का राजा दुष्टऋतु पौंसायन की कथा में दस पीढ़ी से प्राप्त राज्य का उल्लेख है और राज्योभिषेक के समय की घोषणा में भी नये राजा को राजा का पुत्र कहा गया है।

अतः इसमें संदेह नहीं कि उत्तर वैदिक काल के बहुत पहले ही राजा का पद आनुवंशिक (पैतृक) बन गया था। ईसा की आठवीं सदी तक राजपद के निर्वाचित होने के पद्म में जो प्रमाण दिये जाते हैं वे बहुत पुष्ट नहीं हैं। 3 अथवंवेद में उल्लिखत 'राजकृत' (३,६,७) और रामायण के उल्लिखत 'राजकर्तारः' राजा के निर्वाचक नहीं बरन राज्यामिषेक करनेवाले बाह्मण हैं। ४ जब अपने ज्येष्ट पुत्रों की उपेद्मा करके राजा प्रतीप ने अपने छोटे पुत्र शांतन को और यथाति ने पुरू को राज्य दिया तो प्रजा ने महल के सामने एकत्र होकर प्रतिवाद किया, परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि राजा के निर्वाचन में उन्हें भी बोलने का अविकार था। उन्होंने केवल ज्येष्ट पुत्र के स्वाभाविक अधिकार का अपहरण का कारण जानना चाहा और राजा के उत्तर से संत्रष्ट

१ श. प. त्रा., १२. १. ३. १—१३

र राजानं राजिपतरं । ऐ. ब्रा. ८. १२

३ र. चं. मजूमदार, कारपोरेट लाइफ १०७-११३; का. प्र. जायसवातः हिंदू पॉलिटी, भाग प्रथम पृ० १०

४ सायण ने राजकृतः की ब्याख्या यों की है 'राजावम् कृष्वंति,राज्येऽभिषिजंति। रामायण के टीकाकार ने राजकर्तारः का अर्थ राज्याभिषेककर्तारः किया है। इस अर्थ की पुष्टि आगे के बर्जोकों से होती है जिनमें राजकर्तांकों में प्रसिद्ध वैदिक ब्राह्म खों के ही नाम हैं।

होकर वे चले भी गये। १ इन दोनों घटनात्रों से यही सिद्ध होता है कि जनता ने ज्येष्ठ पुत्र के पिता की गद्दी पर बैठने के अधिकार अर्थात् पैत्रिक राज्य का सिद्धांत स्वीकार कर लिया था, न कि उन्हें राजा के निर्वाचन में राय देने का अधिकार था। रामायण में राम के युवराज बनाये जाने के संबंध में जो वर्णन है इससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि जनता का इस निर्णय में कोई हाथ था। इस प्रस्ताव पर सहमति के लिए दशरथ ने अपनी अजा के नेताओं को नहीं बरन अपने करद या सामंत और पड़ोसी राजाओं को बुलाया था विजन्मी उपचारतः राम के युवराज बनाये जाने पर सहमित दी, उनकी सहमित का मूल्य तो इसी से प्रकट हो जाता है कि राम का बनगमन उससे न रक सका। इस्वाकु वंश की वंशावली से भी यही ज्ञात होता है कि श्रीराम के कई पीढ़ियों पूर्व श्रीर बाद भी राजपद आनुवंशिक था और प्रजा को राजा जुनने का अधिकार न था।

यह भी कहा गया है कि रुद्रदामन (१३० ई०), हर्षवर्धन (६०६ ई०) और गोपाल (७५० ई०) जनता द्वारा राजा बनाये गये थे। हैं इसमें सदेह नहीं कि रुद्रदामन और गोपाल स्पष्टरूप ने जनता द्वारा निर्वाचित कहे गये हैं, उपरंतु यह बात उनकी प्रशस्तियों में उन्हीं के दरबारी किवयों द्वारा कही गयी है, अतः वह परमार्थतया सस्य नहीं माना जा सकता। रुद्रदामा की इसी प्रशस्ति में दूसरे स्थल पर यह भी कहा गया है कि उसने स्वयं अपने पराक्रम हे महाचत्रप

शांतनु के बड़े भाई देवािप को कोदी होने के कारण रचराधिकार से वंचित किया गया। पुरु के बड़े भाई इसिंछए उपेचित हुए कि रन्होंने अपने पिता को अपना यौवन देना अस्वीकार कर दिया था।

२ समानिनाय मेदिन्याः प्रधानान्पृथिवीपतीन्—न तु केक्यराजानं जनकं वा नराधिषः । त्वरया चानयामास पदचात्तौ श्रोष्यतः प्रियम् । श्योपिवष्टौ नृपतौः तस्मिन् परवजादैने । ततः प्रविविद्यः शेषा राजानो लोकसंमताः॥ इससे स्पष्ट है कि राज्य के प्रधान व्यक्ति नहीं, करद राजागण बुजाये गये थे । कलकत्ता संस्करण का पाठ प्रधानान् पृथिवीपतिः ठीक नहीं है यह बाद के रजांक से सिद्ध हो जाता है ।

३ मजूमदार, कारपोरेट बाइफ, पृ० ११२

४ देखिये जुनागढ़ शिकालेख—सर्ववर्णैंरभिगम्य रचणार्थे पतित्वे वृतेन । मास्यन्यायमपोहितुं च प्रकृतिभि क्क्स्याः करं प्राहितः ए० ईं०, ४.२४८

५. स्वयमधिगतमहाचत्रपनास्ना रुद्धदास्ना । जुनागढ ज्ञि. छे.

पद प्राप्त किया या तथा उसी में यह भी वर्णन है कि उसने अनेक प्रांतों को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था। अतः प्रशस्तिकार की-ऐने प्रसिद्ध विजेता का प्रजाके निर्वाचन के बल पर राजपद प्राप्त करने की बात ऐतिहासिक के बजाय औपचारिक ही माननी चाहिये। गोपाल ने माल्यन्याय का अंत बरके बंगाल में सुत्यवस्था स्थापित की थी, और पालवंश के राज्य की नीच रखी थी अतः प्रजा द्वारा निर्वोचन की बात उसकी स्थिति दृढ करने के िए कही गयी होगी। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी पैतक परंपरा द्वारा ही राज्य प्राप्त करते रहे और किसी ने भी जनता द्वारा अपना निर्वाचन कराने की परवाह न की। यह सत्य है कि हर्ष को निर्वाचन द्वारा राज्य प्राप्त हुआ परंतु यह राज्य उसका पैतृक थानेश्वर राज्य न था वरन उसके बहनोई प्रहवर्म का मौखरि का कन्नौ न-राज्य था, जिस पर उसे कोई हक न था। ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद मौखरि सिंहासन पर बैठने योग्य उस वंश में कोई न था। इस-िहए मौखरि अमात्यों ने अपनी विषवा रानी के भाई को राज्य देना उचित समझा। इस घटना से ज्ञात होता है कि राज्य के उत्तराधिकारी न होने पर अमात्य और अन्य ऊँचे ऋघिकारी मृत राजा के खंबियों में से किसी सुयोग्य व्यक्ति को राजा चुनते थे। जातक कथाओं में भी कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं पर इन्धे राजा के निर्वाचन की प्रथा सिद्ध नहीं होती। शिलालेख, ताम्रपट्ट और साहित्य ग्रंथों से भी यही ज्ञात होता है कि ६०० ई० पू० से जिन राज्यों का पता चलता है वे सब पैतक परंपरा से ही चलते थे। १२ वीं शतान्दी के इतिहास लेखकों को तो राजा के निर्वाचन की कल्पना ही विचित्र प्रतीत होती थी। १

<sup>1.</sup> जबह हह "में कश्मीर का उत्पठ राजवंश समास हुआ तब कमलवर्षन नामक व्यक्ति ने अधिकार हस्तगत कर लिया। परंतु तुरंत अपना राज्यामिषेक कराने के बजाय उसने ब्राह्मणों से राजा का निर्वाचन करने को कहा; उसे आशा थी कि ब्राह्मण सुने ही चुनेंगे। करहण इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि इससे बढ़कर मूर्जता हो नहीं सकती थी, यह तो ऐसा हो है कि घर स्वयं आशी हुई प्रेमोन्मत्त सुंदरी को कोई जौटा दे और दूसरे दिन उससे पुछ्वाये कि तुम आओगी या नहीं। अस्तु ब्राह्मण ४-६ रोज तक बाद विवाद ही करते रहे और इस बीच में शूरवर्मा नामक व्यक्ति ने राजधानी पर अधिकार कर किया, फिर तो ब्राह्मणों ने उसी को राजा उद्घोषित किया और वेचारा कमजवर्षन अपना सा सुंह छेकर रह गया। राजतरंगिणी, अष्टमसर्गं ७३३।

आनुवंशिक राज्यपद्धति है संबद्ध कुछ वैधानिक बातें भी उल्लेख्य हैं। साधारणतः हिंदू परिवार की संपत्ति भाइयों में विभाजित होतो है परंतु राज्य अविभाज्य होता था और ज्येष्ठ पुत्र ही गद्दी का उत्तराधिकारी होता था। परंतु छोटे भाइयों को भी प्रादेशिक शासन तथा अन्य उज्ज्व पद दिये बाते थे। बातक कथाओं और इतिहास में भी ऐस अनेक उदाहरण मिलते हैं।

परंतु राज्य लिप्सा मबल होती है और कमी-कमी उसी के कारण छोटे माई राज्याधिकार प्राप्ति के लिए ग्रहसुद्ध पर भी उताक हो जाते थे। इतिहास और दंतकथाओं में इसके उदाहरण मिलते हैं, परंतु प्राचीन भारत के इतिहास पर सम्यक् विचार करने से ऐसी घटनाएँ अपवाद ही सिद्ध होती हैं। बहुधा जागीर या छोटे राज्यादि देकर छोटे माहया को संतुष्ट कर दिया जाता था। गुजरात की राष्ट्रकृट और वेंगी की चालुक्य राज शाखाएँ इसी प्रकार स्थापित हुई थीं।

युवराज की शिद्धा को बहुत महस्व दिया गया है। राजा में देवत्व मले ही हो पर उसकी शिद्धा की आवश्यकता तो रहती हो है। राजपुत्रों की शिद्धा के लिए विशेष प्रबंध होता या यद्यपि उनके सामान्य विद्यार्थियों के साथ साथ तद्धशिषा ग्रादि प्रख्यात शिद्धा केंद्रों में भी शिद्धा प्राप्त करने के उदाहरण भी मिलते हैं। प्रारंभिक काल में तो राजपुत्रों के पाठ्यक्रम में भी वेद, तत्त्वज्ञान आदि को ही प्रमुख स्थान दिया जाता था पर धोरे धीरे वार्ता और राजनीति ही अध्ययन के मुख्य विषय बन गये । कुछ लेखकों ने ता यहाँ तक कह दिया कि राजाओं को उपर्युक्त विषयों के सिवा और कुछ पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं। राज्य-कार्य, श्रम्भविद्या और युद्ध-कौशल की शिद्धा केवल किताओं से ही नहीं वरन प्रत्यन्त रूप में दी जाती थी। धनुवेंद, रयसंचालन और हित-विद्या में निपुणता की सबसे अधिक आवश्यकता थी। श्रमुकेंद, रयसंचालन और हित-विद्या में निपुणता की सबसे अधिक आवश्यकता थी। श्रमुकेंद, रयसंचालन और हित-विद्या में निपुणता की सबसे अधिक आवश्यकता थी। श्रमुकेंद, रयसंचालन और होता था।

<sup>1</sup> अर्थ शास्त्र, सा. १-२; मनुस्मृति, ७.४३।

२ कामंदक, २-४

३ धर्मकामा शास्त्रापि धनुर्वेदं च शिचयेत् । रथे च कुत्ररे चैव व्यायामं कारयेत् सदा । शिल्पानि शिचयेच्नैनं नाहैर्मिथ्याप्रियं वदेत् ॥

इसके बाद उसे शासन कार्य चलाने में जिम्मेदारी के काम दिये जाते थे जिन्हें वह अपने पिता की देखरेख में पूरा करता था।

यदि राजा नाजालिंग होता था तो शासन कार्य चलाने के लिए शासन परिषद संघित होती थी! जातकों ने, नाटकों ने और उत्कोण लेखादि से जात होता है कि राजमाता प्रायः इस परिषद की अध्यन्न होती थी। शातकणीं वंश की नयनिका (१५० ई० पू.) और वाकाटक वंश को रानी अभावती गुप्ता (१९० ई) ऐसो अनेक रानियाँ प्राचीन मारत में हो गयी है जिन्होंने अपने पुत्रों के वयस्क होने तक सफलता पूर्वक राजकाज का संचालन किया।

हिंदू विधिनियम में अभ्रातृक पुत्री को पिता की गद्दी पर बैठने का अधिकार न था। यह बात सत्य है कि भीष्म ने धर्मराज को सलाह दी कि युद्ध में मारे गये राजाओं की गद्दी पर पुत्र के अमाव में पुत्रियों को भी आधीन करने की अनुमति दी जाय। अधि-कांश विधान शास्त्री स्त्रियों को राज्य का उत्तराधिकार देने के विरुद्ध थे, उनका विचार था कि अपनी स्वामाविक दुर्बलताओं के कारण वे मली माँति राजकां संचालन करने में असमर्थ हैं। ४

अतः कन्या के अतिरिक्त अन्य उत्तराधिकारी न रहने पर जामाता अपने एस की गद्दो पर बैठता था। ऐसी अवस्था में उसको पत्नी केवल नाममात्र की रानी नहीं रहती थी किंतु पति के साथ प्रत्यच्च राज्य संचालन भी कभी-कभी करतो थीं। प्रथम चंद्रगुप्त और उसकी लिच्छिब-वंशीयो रानी कुमार-देवी की संयुक्त मुद्रा से इस मत की पृष्टि होती है।

दिच् ग भारत में विशेषकर चालु स्यों और राष्ट्रकूटों के समय में राजकुमा-रियाँ बहुषा उच्च पदों पर नियुक्त की बाती थीं । हम यहाँ ऐसे केवल दो

१ — चतुर्थं साग पृष्ठ १०५, ४२७, इसमें कहा गया है कि वाराणती के राजा के सन्यासी हो जाने पर प्रजा ने रानी से ही राज्य का सार वहन करने का अनुरोध किया। यही साधारण प्रथा थी, 'अन्नो राजा न होति'।

र — कौशाबी के राजा उदयन के शत्रु के हाथ बंदी हो जाने पर उसकी माता ने शासन कार्य संचालन किया। प्रतिज्ञायौगंधरायण, १ श्रंक।

३ — कुमारो नाहित येषां च कन्यास्तत्रामिषेचय । म. भा. १२. ३२, ३३.

४ — दुर्ह तं जनएदं यत्थ इत्थि परियायिका । अनवकासं यमित्यी राजा अस्स चक्कवती । जारु, १. ५. १८४

उदाहरण देंगे। प्रथम अमोघवर्ष की कन्या और एर्रगंग को पत्नी रेवकिनमिदि एदातोर नामक वहें ज़िले की शासिका थी (८४० ई०)। दूसरा उदाहरण तृतीय जयसिंह की बही बहन अका देवी का है जो ३०२२ ई० में किनसुद जिले की शासिका थी। परंतु उत्तर भारत के इतिहास में इस प्रकार के उदा- हरण नहीं मिलते।

अंत में हम रानी के पद और अधिकार पर भी दृष्टिपात करेंगे। बैदिक काछ में उसकी गणना 'रित्रयों' अर्थात् उच्च अधिकारियों में होती यी परंतु उसके कार्य और अधिकार के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। विधान शास्त्री शासन में उसके लिए कोई विशिष्ट कार्य निर्धारित नहीं करते परंतु शासनकार्य पर उसके व्यक्तित्व और विचारों का प्रभाव थोड़ा बहुत अवश्य रहा होगा। दिच्चण भारत में ऐसा अवश्य या क्योंकि कभी कभी रानियों द्वारा भूमिदान का और बड़े प्रांतों के राज्यकारभार का उल्लेख मिलता है। इसके भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि आवश्यकता के समय काम ह्याने के छिए राजकारियों को शासन-कार्य और युद्ध-विद्या की भी शिक्षा दी जाती थी।

# राजा की प्रतिष्ठा और उसके अधिकार

समय के अनुसार राजा की प्रतिष्ठा, शक्ति और अधिकार में भी अंतर रहा है। प्राग् ऐतिहासिक काळ में वह सरदारों की समिति में सबसे बड़ा सदस्य मात्र था, वे कभी कभी उसका जुनाव भी औपचारिक या वास्तविक रूप में करते थे। राजा के कार्यों का नियंत्रण 'समिति' द्वारा होता था जो जनता की संस्था थी। उस समय उसकी स्थिति भी दुवंछ थी और श्रिषकार भी सीमित थे। संभवतः इस काल में कर या शुल्क भी अनिवार्यं न था और नियमित कर के बजाय बद्धे बद्दे विश्पति या कुलपित कभी कभी उसे उपहार या भेंट दिया करते थे। राज्याभिषेक के समय राजा पर इंद्रदेव सबसे बढ़ा जो अनुग्रह कर सकते थे यह यही था कि उसे प्रजा से बल्डिप्रहण या नियमित कर वस्तुलने का अधिकार दे दें। 3

वैदिककाल में भी छोटे-छोटे 'जन' राज्य (tribal states) ही होते थे श्रीर जनता की संस्था समिति के राज्यकार्य में पर्याप्त अधिकार थे अतः राजा की

९ आएतेकर-पूजीशन चाँक वीमेन, पृष्ठ २४-४।

२ यत्र गुरुको न क्रियते भवलेन बलीयसे । आ. वे., ३,२९.३

३ अथा ते इंद्र केवलीविशो बलिहतस्करत्। १०, १७३, ६

सत्ता सर्वकंष न थी। समय बीतने पर बैंसे जैसे राज्य प्रादेशिक होते गये और उनका विस्तार भी बढ़ता गया, कुल्पित्यों और विश्पित्यों की शक्ति कम होती गयी, समिति के भी अधिकार घटते गये क्योंकि उसकी बैठक नियमित रूप से, शीघ और बारबार न हो सकती थी। इन कारणों से राजा की शिक्त और अधिकारों की बृद्धि होती गयी। ऋग्वेद में ही 'स्वराट्' (अपने से राज्य करनेवाला) एकराट् (एकमात्र शासक) अधिराट् (महान् शासक) और सम्राट् के उल्लेख मिलते हैं। अवक्य ही इनमें से कुल अपि धियां देवताओं के लिए प्रमुक्त हुई हैं परंतु निश्चय ही पृथ्वी पर भी इनके प्रति-रूप रहे होंगे।

वैदिक काल में भी राजा का ऐस्वर्य और प्रतिष्ठा कम न थी। विभिन्न राजाओं की प्रशस्तियों में उनके वैभव और समृद्धि का वर्णन है। संभवतः वे बड़े-बड़े यूथ (गोधन) और विस्तृत भूपदेश के स्वामी होते थे और प्रजा से कर या शुल्क भी पाया करते थे जिसका देना क्रमशः अनिवार्य और नियमित हो गया। अथवंवेद में राजा धनपति, जमता का स्वामी श्रौर योद्धाओं में अग्रगएय कहा गया है और प्रार्थना की गयी है कि उसे शक्ति, तेज और राष्ट्र पर प्रभुत्व प्राप्त होरे। एक अनुष्ठान का वैशिष्ट्य यह है कि उसमें ब्राह्मण च्चित्रय, वैश्य और शुद्ध प्रत्येक राजा के लिए एक एक गाय छोड़ता है । इसका यह माव है कि राजा का प्रभुत्व हर वर्ण पर है। अस्तु उसकी शक्ति उत्तरोत्तर व्यापक होती जा रही थी। उसके क्रोध का आतंक भी अधिकाधिक बहता जा रहा था ।

राजा का सबसे बड़ा कर्तव्य यह या कि वह अपनी प्रजा की आंतरिक अशांति और बाहरी शत्रु के आक्रमण से रज्ञा करें। वह नियम और व्यवस्था, परंपरा और रूढ़ियों का संरज्ञक था (धृतव्रत) व राजधानी में वह न्यायासन पर बैठकर गंभीर अभियोगों का स्वयं विचार करता था । वह यद्यपि छोटे मोटे मामलों का फैसला देहातों में पंचायतों में ही होता था। वह

व २. २८.१; ७.३७; ३; १०. १२७,७; १.२४.१४

२ 8. २२

३ तै. सं, १. म.१६; तै. ब्रा., १. ७.१०

४ अन्यय राज्ञात्रभियातु मन्युः । अ. वे., ६ ४७, २

१ सोपा जनस्य। ऋ.वे.,३. ४३.५,1

६ तस्माद्राजन्येनाध्यक्षेण वैश्यं इन्ति । का. स., २८.४

अपने राज्यकर्मचारियों की सहायता से शासन करता था, इन कर्मचारियों में सेनापति, ग्रामणी संग्रहीता और सूत प्रमुख थे। अंतिम तीन अधिकारियों के कार्य का ठीक पता नहीं है।

#### राजा का देवत्व

यह बात ध्यान योग्य है कि राजा के देवत्व की भावना जो ईसा की पहली सहसाब्दी में इतनी सर्वमान्य थी, वैदिक काल में वर्तमान न थी। उस काल में राजा का पद पूर्णतः लौकिक था। सार्वजनिक हित के लिए अथवा राष्ट्र और बनका अरिष्ट दूर करने के लिए होने वाले किसी यज्ञादि का संचालन राजा के कामों में शामिल नहीं था।

ऋग्वेद में केवल एक ही राजा पुरुकुत्स को अर्घ-देव का विशेषण दिया गया है (४.४२९९) अर्थवं वेद में भी केवल एक ही दफे और एक उत्तर कालीन स्क में हो राजा परीवित मत्यों में देवता कहे गये हैं (यो देवों मर्त्यान् श्रिष्ठ २०,१२७.७) इन स्थलों से यह नहीं सिद्ध होता कि उस युग में देवता की भावना मान्य थी। पुरुकुत्स को अर्घदेव संभवतः इस कारण कहा गया है कि उनकी विधवा मां ने उन्हें इंद्र और वहण के विशेष प्रसाद से प्राप्त किया था। जिस ऋचा में परीवित को मत्यों में देव की उपाधि दी गयी है वह उनकी प्रशंसा करने के लिए ही रची गयी थी। वैदिक वाङ्मय में अन्य किसी भी राजा को यह उपाधि नहीं दी गयी, इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राजा में देवत्व की कल्पना कुछ राजा द्वारा उपकृत दरवारियों के हो मस्तिक में सीमित थी।

घार्मिक विधि और विचारों के उत्तरोत्तर बढ़नेवाले प्रभाव से ब्राह्मण काल में ऐसा वातावरण बनने लगा था जिसमें राजा के देवत्व की भावना पनप सकती थी। युद्ध में विजय इंद्रदेव की कृपा का फल कहा जाता था, और इंद्र की उपाधियां भी राजा को घीरे घीरे लगायी जाने लगीं। राज्याभिषेक के समय पुरोहित कहते थे कि भगवान सविता के आदेश पर ही अभिषेक किया जाता है, और यह अभिषेक मनुष्य के हाथों से नहीं वरन मगशन पूषन् और अश्विनी कुमारों द्वारा होता है। ऐसा माना जाता था कि अभिषेक के समय राजा के श्रीर में अग्विन, सविता और बृहस्पति देवता प्रवेश करते हैं। अश्वमेध और वाजपेय यश्च द्वारा राजा को देवता का पद मुखु के

१. ऐ ब्रा०, ८. २

दबा प्राप्त होता है यह भी घारणा थी । बहु पंख्यक प्रजा एक राजा की आहा । पालन क्यों करती है इसका कारण कुछ छोगों के मत में यहां था कि राजा देवा घिदेव प्रजापति का प्रत्यच्च प्रतीक था । ब्राह्मण अपने को भूदेव कहकर अपने छिए देवत्व का दावा कर रहे थे अतः वे राजा को भी उससे कैसे बंचित रख सकते थे, क्यों के वही तो उनके विशेषाधिकारों का संरच्क था। इन परिस्थितियों और कारणों से उत्तर वैदिक काल में ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया था जो राजा के देवत्व की भावना के विकास के छिए अत्यंत अनुकूल था। ईसवी पहली शताब्दी में कुशाण राज्य की स्थापना से इस भावना को और भी बल मिला। चीनी परपरा से प्रभावित होने के कारण इस बंश के राजा देवपुत्र' होने का दावा करते थे और अपनी मुद्राश्चों पर श्रपने को देवी ज्योति से आहत बादलों से अवतरित होते हुए अंकित कराते थे । कुशाण सम्राटों ने अपने पूर्वजों के मंदिर भी बनवाये जिनमें उनकी प्रतिमाएँ देव के समान पूजी जाती थीं।

कुछ स्मृतियों और पुराणों ने स्पष्ट रूप से राजा के देवत्व का दावा मान लिया है मनु कहते हैं कि राजा नर रूप में महान देवता हैं। ब्रह्मा ने आठो दिशाओं के दिग्पालों के शरीर का अंश लेकर उसके शरीर का निर्माण किया है। विष्णु पुराण और भागवत में कहा गया है कि राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं । भागवत में तो यह भी लिखा है कि सर्व प्रथम राजा वेण के शरीर में विष्णु के शरीर के नाना लांकन भी विद्यमान थे। राजा को

१ श. प. ब्रा. १२. ४. ४, ३ । तै. ब्रा, १८. १०. १० ।

२ एस वै प्रजापतेः प्रत्यचतमो यदाजन्यः। तस्मादेकः सन् बहूनामोध्दे। श. ब्रा., ५ १४.१४.

३ कॅटऑग ऑफ कॉइन्स इन दी पंजाब म्यूजियम, भाग १, चित्र १

४ यस्मादेषां सुरेंदाणां मात्रामिनिमितो नृषः। तस्मादामिक्येष सर्वमृतानि तेजसा॥ मनु, मन्ध

प्र ब्रह्मा जनादनो रुद्दो इद्दो वायुर्यमो रिवः । हुतसुग्वरुणो धाता पुषा मूमिनिशाकरः । प्रते चान्ये च ये देवाः शापानुप्रहकारियाः ।

नृपस्यैते शरीरस्थाः सर्वदेवमयो नृपः। विष्णु पु॰ १. १३-१४

६ जातो नारायणांशेन पृथुराद्यः चितीश्वरः । वेयस्य दक्षिणे हस्ते दृष्टा चिह्नं गदासृत:

देवता मानने की परंपरा ही स्थापित हो गयी थी, परवर्ती काल में बौद्ध लोग मी राजा को 'सम्मुतिदेव' कहते थे। इस पदवी का संकेत यह है कि राजा का देवत्व जनता को सम्मत है।

अस्तु, कुछ स्मृतियों और पुराणों में राजा के देवस्व की कल्पना स्वीकार की गयो है। परंतु उसे ईस्वर का साल्चात् अवतार बहुत यो है ही स्मृतिकारों ने माना है। श्रिष्ठकांग्र स्मृतियां और पुराणों में वेवल राजा और देवताश्रों के कार्यों की समता का ही उल्लेख और वर्णन किया गया है। महाभारत (१२.६७.४०) नारद स्मृति (१७.२६) गुक्रनीति (स्पृष्ट.७२) और मस्त्य (अ.२२६) मार्क खेय (२७,२९) अग्नि (२२५.१६) पद्म (स्पृष्टि.३०, ४४) और बृहद्धर्म (उत्तर खंड ३.८) पुराणों में बताया गया है कि राजा अपने तेज से दुष्टों को मस्म कर देता है अतः वह अग्नि के समान है; वह अपने चरों द्वारा सब कुछ देख लेता है अतः सूर्य के तुल्य है; वह अपराधियों को उचित दंड देता है अतः वह यम के समान है, और योग्य व्यक्तियों को प्रचुर पुरस्कार देता है अतः वह कुवेर के तुल्य है । अस्तु, अधिकांग्र प्रथकार राजा और देवताओं के विभिन्न कार्यों की समता पर ही जोर देते हैं। वे अनेक बार

पादयोरविंदं च तं वें मेने हरेः कछाम् । भाग ४. १३,२३; देखिये वायु, ५७.७१.

श्रुक्ते पंच क्ष्पाणि कार्ययुक्तानि यः सदा।

सवस्यग्निस्तथादिःयो मृत्युवेश्ववणो यमः ॥ ४१ ॥

यदा द्वासीदतः पापान्ददृश्युग्रेण तेजता।

मिथ्योपचितिते राज्ञा तदा मर्वात पावकः ॥ ४२ ॥

यदा प्रयात चारेण सर्वमृतानि मूमियः।

क्षेमं च कृत्वा वजति तदा मर्वति मास्करः ॥ ४३ ॥

अशुचीश्च यदा कृदः चिणोति शतशो नरान् ।

सपुत्रपौत्रान्सामात्याँस्तदा मर्वति सोऽनकः ॥ ४४ ॥

यदा त्वधार्मिकान्सर्वां तीक्ष्णदेहैिनियच्छिति ।

धार्मिकांश्चानुगृद्णति मवत्यथ यमस्तदा ॥ ४४ ॥

यदा तु वनधारामिस्तपंयत्युपकारिणः ।

तदा वैश्ववणो राजा क्षोके मवति मूमियः ॥ ४६ ॥

राजा के कार्यों को देवताओं के कार्यों से तुलना करते हैं पर यह नहीं कहते कि राजा क्ष्यं देवता है।

इस प्रकार हिंदू ग्रंथकारों ने राजपद को देवी बताया है न कि किसी राजव्यिक को । यूरोप में राजा के देवत्व का सिद्धांत मुख्यतः निरंकुरा राजसत्ता के समर्थन के लिए ही प्रतिपादित किया गया था। प्राचीन भारत में एक मात्र नारद ही ऐसे ग्रंथकार हैं जिन्होंने यह कहने का साहस किया कि दुष्ट राजा पर भी प्रहार करना पाप है क्योंकि उसमें देवता का अंश है। परंतु दूसरे किसी ने भी उनकी बात नहीं मानी। दुष्ट राजा वेण ने अपने देवत्व की दुहाई देकर दंड से बचना चाहा पर कृद्ध ऋषियों ने उसकी एक न सुनी और उसे तत्काल मार डाला। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि प्राचीन भारत में केवल अच्छे और धार्भिक राजा ही देवतुल्य माने जाते थे। द्रष्ट और दुशचारी राजा तो राज्यसावतार माने जाते थेर। पोप ग्रेगरी के इस मत से हिंदू शास्त्रकार सहमत नहीं थे कि दुष्ट राजा भी देवता के अंश होने से परमात्मा के सिवाय अन्य कोई उनसे जवाब तलब नहीं कर सकता। राजा के देवत्व के पूर्ण समर्थक मनु भी कहते हैं कि धर्म से विचलित होने पर राजा का नाश हो जाता है 3 । वे यह भी कहते हैं कि देवत्व का अर्थ यह नहीं है कि राजा सब दोषों के परे है बल्कि साधारण जन की अपेचा उसके गढती करने की आशंका अधिक है (७.४१) क्योंकि उसके सामने श्लोमन भी बड़े रहते हैं अतः उसे सर्वदा काम क्रोध श्रीर लोभ जन्य ब्राइयों से बचने की साक्षानं।पूर्वक चेष्टा करते रहना चाहिये। धूर्त खुशामिदयों की स्तुतियों से प्रतारित होकर अपने को अतिमानुष समझनेवाले राजा गण किस प्रकार जगरंसाई के पात्र होते हैं इसका वर्णन बाणमृह ने भलीभाँति कर दिया है ।

शजनि प्रहरेद्यस्तु कृतागस्यिप दुमैतिः ।
 शुळे तमग्नी विपचैद् ब्रह्महत्याशताधिकम् ॥ १८.३१

२ गुणिजुष्टस्तु यो राजा स जेयो देवतांशकः। विपरीतस्तु रचोंऽशः सबै नरकभाजनः॥ शुक्र १.८७

२ दडो हि सुभहत्तेजा दुर्धरश्चाकृतात्मिमः। धर्मोद्विचित्रतं हन्ति नृतमेव सवान्धवस्॥ सनु, ७. २८

४ प्रतारणकुशलैंध् तैः समानुषलोकोचितामिः स्तुतिभिः प्रतार्थमाणाः सारमन्या-रोपितालोकाभिमानाः मरसंघर्माणोपि दिन्यांशावतीर्णमिव सदैवतमिवाति-

ब्लैकस्टोन का यह मत कि राजा के कार्यों में ही नहीं कितु विचारों में भी दोष या गलतियां नहीं हो सकती है प्राचीन भारतीय विचारकों को अनुमत नहीं था। इसके विपरीत वे तो यह मानते थे कि साधारण जन की अपेचा राजा के कर्तव्ययुत होने की आशंका अधिक हैं। राजा के देवत्व का यह अर्थ भी नहीं माना गया या कि दुष्ट या अनीतिमान् राजा की आज्ञाओं का भी बिना मीन मेघ निकाले पालन करना ही जरूरी है। यूरोपीय विचारकों में विश्रप बोसुए का मत है कि राजा के पापाचरण करने पर भी प्रजा उसकी आश्वापालन के बंघन से मुक्त नहीं हो सकती; काल्विन कहते हैं कि नीच राजा की आज्ञा भी सदैव शिरोधार्य मानना चाहिये। प्राचीन भारत के विचारकों का मत इसके विरुद्ध है, वे अयोग्य या दुष्ट राजा को देवत्व का अविकारी कभी भी नहीं मानते । वे साफ साफ कहते हैं कि ऐसा राजा साचात् राक्त है और प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का पूरा अधिकार है। इंगलैंड के राजा प्रथम जेम्स का यह मत प्राचीन भारत में मान्य नहीं या कि प्रका कदापि राका को दड देने की अधिकारिणी नहीं हो सकती क्योंकि राजा का अधिकार प्रजा की दंड देना है न प्रजा का राजा की, प्रजा की सृष्टि ही राजा के श्राज्ञापालन के लिए हुई है। अतः विलोबी का यह कथन मारत पर नहीं लागू होता कि 'प्राचीन काल के सभी एशियाई राज्यों में राजा प्रजा पर शासन करना अपना ईश्वर प्रदत्त अधिकार समझते थे और प्रजा भो बिना चीं चपड़ के उनका यह दावा स्वीकार कर लेती थी'।

यह विषय समाप्त करने के पूर्व हम राजा के देवत्व के विषय में अन्य प्राचीन देशों में प्रचित्त विचारों पर दृष्टिपात करेंगे। प्राचीन मिस्त्र में राजा या 'फाराओं' 'रा' (सूर्य) देवता का पुत्र माना जाता या। सार्वजनिक यज्ञ का संचालन और देवता से किसी बात की याचना करने का अधिकार केवल उसे ही था। प्राचीन बॅबिलोनिया और असीरिया में भी राजा ईश्वर के प्रतिनिधि माने बाते थे और देवताओं की माँति पूजा के माजन होते थे। प्राचीन ग्रीस में भी राजा देवाधिदेव इपूत के वंशज माने जाते थे। देवताओं की इच्छा जानने की भी शिक्त वेवल उन्हीं में थी। १० ई० के बाद प्राचीन

<sup>(</sup> ५६ पृष्ठ हे )

मानुषमात्यानमुत्प्रेक्षमाणा प्रारब्द्यदिव्योवितचेष्टानुभवाः सर्वेजनस्योपहा-स्यवासुपर्याति । कादंबशी शुक्रनासोपदेश

१ नेचर ऑफ स्टेट, पृ० ४२-३

रोम के सम्राट मरने के बाद देवता शोषित कर दिये जाते थे और उनकी पूजा के लिए मंदिर भी बनाये जाते थे। १७ वीं और १८ वीं खदी के यूरोपीय विचारकों के मत का ऊपर उल्लेख हो ही चुका है।

### राजा के संबंध की अन्य धारणाएँ

श्चन तक हमने राजा के देवत्व संबंधी धारणाओं का विवेचन किया है। राजा का पद का महत्व ठीक ठीक समझने के लिए उसके संबंध में प्रचलित अन्य धारणाओं पर भी विचार श्चावश्यक है।

वैदिक काल से ही राजा धर्म का रक्षक पोषक और समर्थक समझा जाता रहा है। वैदिक बाल के राजा का आदर्श ऋत और धर्म को रचा करनेवाले धृत-व्रत वरुण देव थे। राजा केवल लाक्जिक रूप में देवतांशी था। मगर विधिनियम सालात देवदत्त माने जाते थे और यह अनिवार्य था कि राजा उनका पालन करे। राजत्व सर्वस्वेण धर्माधिण्डत है धर्म से बढ़कर कुछ दूसरो चीज नहीं है अतः धर्म का पाउन राजा का नित्य और आवश्यक कर्तव्य है। भें संसार के सबै प्रथम राजा वेण को यह प्रतिशा करनी पड़ो थी कि श्रुतिस्मृतियों मे जो धर्म कहा गया है मैं उसका पूरा पालन करूँगा और कदापि मनमानी न करूँगा र राजा का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा था। वह प्रजा का नेता था और प्रजा उसका अनुगमन करती थी अतः उसका आचरण आदर्श होना चाहिये। प्रवा के रोग शोक और कष्ट का कारण राजा का कर्तव्यव्यत होना ही समझा जाता था। एक लेखक कहता है यदि राजा अन्यायी हो जाय तो शक्कर और नमक भी अपना स्वाद खो देते हैं । जातको में इस विषय पर जनता के मत की श्रभिन्यिक बहुत अच्छो तरह हुई है। किसान के बैल को हल से चोट लग गयी, इसका दोष भी राजा को ही दिया गया, एक खाला दुष्ट गाय दारा मारा जाता है इनका दोष भी राजा के मत्थे। यहाँ तक कि भूखे कोओं द्वारा कार्टे जाने पर मेढक भी राजा को ही दोष देते हैं । छोगों का विश्वास था कि धर्म श्रीर सदाचार से ही सुख मिलता है और उनकी वृद्धि तभी हो सकती है जब

१ तदेतत्त्वत्रस्य चुत्रं थद्धमंरत्तरमाद्धमांत्वरं नास्ति । वृ. उर, १. १. १४

२ यश्रात्र धर्मं इत्युक्ता धर्मनीतिन्ययाश्रयः।

तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥ म.भा.१२. ४९. ११६

३ जातक भाग तृतीय, पू. १११।

४ ,, ,, पंचम पृ. १०१-७।

राजा स्वयं उनके आदर्श बने। अतः यह स्वाभाविक था कि यदि राजा वर्म पालन नहीं करें तो प्रजा के कहों की जिम्मेदारी उस पर रक्खी जाय।

राजा के संबंध में दूसरी महस्वपूर्ण धारणा यह भी थी कि वह प्रजा का सेवक धमशा जाता था। एक प्राचीन धर्म-सूत्र लेखक बौधायन का कथन है कि राजा वास्तव में प्रजा का सेवक है और प्रजा की आयका छठा भाग जो कर में दिया जाता है वही उसका वेतन है। नारद भी कर को राजा द्वारा प्रजा की रह्मा का पारिश्रमिक कहते हैं। श्रपरार्क कहते हैं कि बिना प्रयोजन कोई भी किसी को कुछ नहीं देता अतः राजा से अपनी रह्मा की आशा में ही प्रजा उसे कर देती हैं। यतः प्रजा राजा को भरपूर वेतन देती है अतः उसे भी सूख और दास को भाँति उसकीं सेवा करनी चाहिये ।

राजपद को याती (trustee) समझने की घारणा भी प्राचीन भारत में वर्तमान थी। राजा को खास तरह से चेता दिया जाता था कि राजकोष उसकी निजी संपत्ति न थी बल्कि जनता की थाती थी और विश्वस्त के नाते ही वह उसका उपयोग केवल सार्वजनिक हित के लिए कर सकता था। यहि राजा सार्वजनिक घन का दुरुपयोग करे और उसे अपने निजी काम में लगावे तो वह नरक का भागी होता है ।

कुछ राज्य-शास्त्रियों के मत में तो राजा का काम विश्वस्त या थातीदार के काम से भी कठिन और दुर्वेह होता है। विश्वस्त का कर्तव्य यह है कि बह अपने सुपुर्द कार्य ठोक तरह से करे। यदि वह श्रव्छी देखरेख करता है और उससे किसी प्रकार का व्यक्तिगत लाभ नहीं उठाता तो उसका कर्तव्य पूरा हो जाता है। विश्वस्त के नाते कर्तव्य पालन करने में उसस स्वार्थस्याग की

१ वर्मागमृतो राजा रक्षेत्रजाम् । बौ. ध. सू., १, १०. ६

र सर्वो हि धनं प्रयच्छन्नात्मसमबायि प्रयोजनमुद्दिशति । न च करदानस्य स्वगुसेरन्यत्प्रयोजनमस्ति । तस्मात्करमाददानेन प्रजापालनं विधेयमिति सिद्धम् ॥ या. स्मृ. १. १६६ पर टीका

३ सर्वतः फलभुग्भूत्वा दासवःस्यानु रच्यो । शुक्र, ४. २. १३० ।

४ बस्प्रजारचणार्थं धर्मार्थं कोषसंग्रहः । परत्रोह सुखदो नृपस्यान्यस्तु दुःखदः ।। स्रोपुत्रार्थं कृतोयदच स्वोपमोगाय केवलस् । नरकायैव सं द्वोषों न परत्र सुखप्रदः ॥ श्रुकं, ४. २. ३–५ ।

अपेचा नहीं की जाती। पर आदर्श राजा का स्वार्थत्याग भी कर्तव्य है। जिस्त प्रकार गर्भवती स्त्री अपने उदरस्य शिशु को हानि पहुँचाने की आशंका से अपनी इच्छात्रों का दमन और सुखों का त्याग करतो है उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा के भले के सामने अपने सुख सुविधा और इच्छाओं की परवाह नहीं करनी चाहिए।

अस्तु इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन भारतीय शास्त्रकार श्रादर्श राजा उसे ही मानते थे जो अपना जीवन प्रजा पाछन के लिए न्योछावर कर दे। परंतु मनुष्य स्वभावतः दुर्बेळ है और औसत दर्जे के राजा से इस उच्च आदर्श के सांगोंपांग निर्वाह की श्राशा हमेशा नहां की जा सकती। अभी देखना यह है कि स्वेन्छाचारी राजा की मनमानों से प्रजा की रज्ञा का कोई उपाय किया गया था या नहीं। राजा की शक्त को निरंकुश न होने देने के लिए उम्रपर कुछ रोक की व्यवस्था थी या नहीं।

प्रारंभ में ही यह स्वीकार कर लेना अच्छा होगा कि प्राचीन भारतीय विचारकों द्वारा राजशिक पर आधुनिक स्वरूप के कोई वैज्ञानिक रोक लगाने की व्यवस्था नहीं की गयी थी। संभवतः वैदिक काल की लोकसमा या समिति द्वारा राजा की शिक्त पर रोक रहती थी, कुछ वैदिक उद्धरणों से पता चलता है कि समिति के प्रतिकृत्ल होनेपर राजा का अपने पद पर कायम रहना कठिन हो जाता था। पर कमशः समिति की शिक्त कम होती गयी, ४०० ई० पू० तक वह लुतपाय हो गयी और उसके स्थान पर दूसरी किसी लोकपिय संस्था की भी स्थापना न हो सकी। राजा को अपने न्यायालय द्वारा किसी भी व्यक्ति को नियम भंग करने पर दंख देने का श्रीधकार था, यदि राजा अपने अधिकार का दुरुपयोग करने पर उतारू हो जाय तो उसे रोकनेवाली समिति या सभा जैसी कोई लोकपिय संस्था भी न थी। साधारणतः अमात्य मंडल राजा पर अंकुश रखता था पर अमात्य का पद राजा की ही इच्छा पर निर्मर था अतः जनमत की परवाह न करनेवाले निरंकुश या स्वेच्छाचारी राजा की रोक दोक करना उनकी सामर्थ्य से परे था।

साथ ही यह भी न भूडना चाहिये कि पार्डमेंट या प्रतिनिधि सभा राज-काज का खर्च देने से इनकार करके राजा की शक्ति का जिस प्रकार वैधानिक नियंत्रण करती है, वह उपाय भी श्राष्ट्रनिक काळ की ही घटना है। प्राचीन

१ नित्यं राज्ञा तथा भाव्यं गर्भियो सहधर्मियी । यथा स्वं सुखसुरस्वयं गर्भस्य सुखमावहेत् ॥ अनिपुराण, २२२-=।

यूरोप में भी यह अज्ञात था। अत्याचारी राजा का विचार करनेवाला न्यायालय प्राचीन भारत में ही नहीं यूरोप में भी वर्तमान न था। अतः प्राचीन भारतीय ये उपाय तो न निकाल सके पर जो उपाय उन्होंने निकाल वे भी धाषारणतः कम एफल न थे।

88

प्राचीन भारत में धार्मिक और पारलैकिक दंडों का बड़ा डर था और इमारे विधान शास्त्रियों ने राजा की शक्त पर अंकुश लगाने के लिए इस भावना का पूरा उपयोग किया है। सभी शास्त्रकारों ने एकमत से कहा है कि प्रजा का पीड़न और सार्वजनिक धन का अपन्यय करनेवाला राजा घोर पाप करता है और निश्चय नरक का भागी होता है। नरक का भय कैसा भयानक होता था इसकी कल्पना आधुनिक काल में करना कठिन है।

राजा का पद लोग कुछ हद तक दिव्य मानते थे पर विधि-नियम और रूदियों को उससे भी अधिक दिव्य समझते थे। राज्याभिषेक के समय राजा को उनके पालन करने की प्रतिज्ञा करनो पड़ती थी श्रौर उनमे परिवर्तन करने का उसे आधिकार न था।

समुचित ंस्कार और शिक्षा के अभाव से ही राजाओं में अक्सर स्वेच्छा-चार और निरंकुशता की प्रवृत्ति उत्पन्न हाती है। अतः बाल्या श्रीर किशोरा-वस्था में राजकुमार की शिक्षा श्रीर संस्कार की व्यवस्था करने पर शास्त्रकारों ने बहुत ध्यान दिया है। बड़े ही प्रभावकर शब्दों में वे कहते हैं कि राजा को विनयी, शांत, सदाचारी और धार्मिक होना चाहिये, उस वार्श में मधुर, व्यवहार में शिष्ट, गुरुजनों की अभ्यर्थना में उत्सुक, सरसंगति का प्रेमी और लोकमत का ध्यान रखनेवाला होना चोहिये, उसे रख-विद्या और शासनकला में निपुण होना चाहिये। शिक्षा और संस्कार द्वारा उपर्युक्त गुणों का बीजारोपण जिस राजा में किया जा चुका है वह कदापि अपने कर्तव्य का उल्लंधन करनेवाला और प्रजा का पीइन करनेवाला नहीं हो सकता।

परंतु यदि राजा को उपयुक्त शिचा न मिले अथवा शिचा द्वारा भी उसकी दुष्प्रकृति का शमन न हो सके तो ? यदि वह लोकमत की परवाह न करे बड़े बूढ़ा, गुढ़ओं और मंत्रियों का उपदेश का श्रनादर करें, नरक का भय भी उसके स्वेच्छाचार को न रोक सके, तो प्रजा का क्या कर्तव्य है ?

हम पहले ही देख चुके हैं कि हमारे शास्त्रकारों ने अत्याचारी राजा की आज्ञा के पालन का समर्थन नहीं किया है। वे अत्याचार का प्रतिरोध करना प्रजा का कर्तव्य समझते हैं। पर उन्होंने इसका विवेचन नहीं किया है कि प्रतिरोध कब उचित है और उसका रूप या उसकी सीमाएँ क्या हों। संभव है उन्हें यह आशंका रही हो कि इस विषय पर खुलकर चर्चा करने से अराजकता को उचेजन मिले।

परंतु हमारे शास्त्रकार एक चण को भी यह कल्पना नहीं करते कि प्रजा चुपचाप अत्याचार सहन कर लेगी। वे कहते हैं कि जनता अत्याचारी राजा को चेतावनी दे कि यदि तुम अपना व्यवहार नहीं बदलते तो हम तुम्हारा राज्य छोड़ कर दूसरे सुशासित राज्य में चले जायँगे। उन्हें आशा थी कि प्रजा के राज्य त्याग द्वारा कर की हानि के उर से राजा के होश ठिकाने आ जायँगे। पर यदि वह इस पर भी न सुबरे तो प्रजा उसे गही से उतार कर उसके कुल के किसी गुणवान व्यक्ति को उसके पद पर बिठा दे सकती थी। द इतना ही नहीं यदि और कोई उपाय न रह जाय तो महाभारत ने स्पष्ट शब्दों में अत्याचारी राजा के वध की भी अनुमित दी हैं । येण राजा इनमें से एक या जिसे ऋषियों ने देवत्व की दुहाई देने पर भी मार डाला। जनता की रोशिन में मस्म होनेवाक राजाओं में नहुष, सुरास, सुमुख और निमि भी हैं। यह उल्लखनीय है कि राजा के देवत्व का समर्थन करनेवाल मनु ने भी राजाओं को उपर्युक्त अत्याचारियों के हष्टांत से शिचा लेने की सलाह दी है। जातकों में भी प्रजा द्वारा अत्याचारियों से हष्टांत से शिचा लेने की सलाह दी है। जातकों में भी प्रजा द्वारा अत्याचारियों से हष्टांत से शिचा लेने की सलाह दी है। जातकों में भी प्रजा द्वारा अत्याचारियों से हष्टांत से शिचा लेने की सलाह दी है। जातकों में भी प्रजा द्वारा अत्याचारियों से हष्टांत से शिचा लेने की सलाह दी है। जातकों में भी प्रजा द्वारा अत्याचारियों से हष्टांत से शिचा लेने की सलाह दी है। जातकों में भी प्रजा द्वारा अत्याचारी राजाओं के वव के अनेक कथाएं हैं ।

प्रजा का अत्याचारी राजा के वध का अधिकारी मानने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन शास्त्रकार प्रभुता या सार्वभौमता का स्रोत जनता को ही मानते थे। पर विद्रोह के सिवा इसके उपयोग का कोई शांतिमय उपाय न था। अतः

१ अधर्मशीलो नृपतिर्यदा तं भीषयेज्जनः। धर्मशीलातिबळवदिपोराध्रयतः सदा॥ ग्रुक, ४. १-३।

२ गुगानीतिबल्द्वेषी कुलभूनीप्यधार्मिकः । नृतो यदि भवेतं तु स्यजेद्राष्ट्रविनाशकम् ॥ तस्यदे तस्य कुलजं गुणयुक्तं पुरोहितः । प्रकृत्यनुमतं कृत्वा स्थापयेद्राज्यगुप्तये ॥ शुक्र, २. २७४-४

३ श्ररितारं हर्तारं विलोसारमनायकम्। तं वै राजकलि हन्युः प्रजाः संनद्धनिर्धणम् ॥ म. मा. १३. ८६. ३५-६

४ देखिये 'सच्चंकिर' श्रीर 'यदकुसल-मानव' जातक।

इसे वैधानिक अधिकार न कहकर विधनातीत ही कहना पड़ेगा। यह भी मानगा होगा कि यह उपाय काम में लाना कठिन था।

88

अत्याचारी राजा के नियमन का अधिक सुलभ और व्यावहारिक उपाय होना चाहिये था, पर हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि प्राचीनकाल में किसी अत्याचारी राजा को गद्दी से उतारना या मारना बहुत कठिन भी न या। जातकों में इस प्रकार की घटनाओं के बहुत उल्लेख मिलते हैं। प्राचीन काल में एक ओर तो स्थायी और वेतनभोगी सेना का भी बहुत रिवाज न था दूसरी ओर ग्रामों और नगरों में लोकसेनाएँ मी रहती थीं जिनके शस्त्रास्त्र राजकीय हथियारों से किसी निम्नकोटि के न होते थे। अतः विद्रोह की सफलता की संभावना सर्वथा असंभव न थो। देश में सामंतों और सरदारों की भरभार थी इनमें से या राज्य के मंत्रियों और उचपदाधिकारियों में से अत्याचारी राजा के प्रतिरोध के लिए नेता निकल ही आते थे। मौर्य और शुंग वंश के अंतिम शासकों और राष्ट्रकृट चतुर्थ गोविद का अंत अत्याचार पीड़ित जनता, मंत्रियों और धामंतों के विद्रोह द्वारा ही हुआ। प्राचीन काल में अत्याचारी राजा के स्थान पर श्रच्छे शासक को बैठाना जनता के हिए उतना दुष्कर न था जितना आजक है जब राज्य के पास टैंक विमान और अणु-वम का बल है और जनता को अपने दाथ में अधिक से अधिक लाठी आर तळवार का ही सहारा है।

अस्तु, राजशक्ति के साधारण प्रतिबंब, नरक और लोकमत की परवाह न करनेवाले राजा को, न्यायपथ पर रखने में असमर्थ थे। व्यावहारिकता और उपयोगिता की दृष्टि से वे आधुनिक लोक तंत्र और प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों के विधान की भी बराबरी न कर सकते थे। पर यह न भूलना चाहिये कि अति प्राचीन वैदिक काल में जब राज्य ग्रीक नगर-राज्यों की माँति छोटे होते थे, समिति जैसी लोकप्रिय संस्थाएँ राजाओं का उसी प्रकार निमंत्रण करती थी जैसी कोई श्राधुनिक प्रतिनिधि सभा कर सकती है। उस काल में राजा के लिए इससे बड़ी कोई विपत्ति कल्पित न की जा सकती थी कि समिति से उसका विरोध हो जाय । परंतु जब राज्य अधिकाधिक विस्तृत हो गये तब यातायातों के जल्द और मुलम साधनों के अभाव से समिति के इसमासदों का एकत्र होना दुष्कर हो गया। हमें यह भी न भूलना चाहिये कि प्रतिनिधि-मूलक लोक तंत्र की करपना, जिसमें जनता का प्रतिनिधित्व केंद्रीय प्रतिनिधि सभा द्वारा

१ नास्मै समितिः कल्पते । अ. वे. ,५. १६. १५

होता है, २०० वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। अतः प्राचीन ग्रीस और रोम की भाँति यदि प्राचीन भारत में भी उसका अभाव हो तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

यह भी न समझना चाहिये कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने सब कुछ नरक के भय, लोकमत के प्रभाव या विद्रोह की संभावना पर ही छोड़ दिया था। उन्होंने ग्राम, नगर और प्रादेशिक पंचायतीं और समाओं को शासन के व्यापक अधिकार टेकर और विविध कार्य सौंप कर शासन के विकेंद्रीकरण का प्रतिपादन मात्र ही नहीं उसे व्यावहारिक रूप भी दे दिया था । इन संस्थाओं में जनता का पूरा हाथ रहता या और इनके माध्यम से ही राज्य प्रजा के संपर्क में श्राता था। राजा चाहे कितने ही कर लगा दे पर प्रायः वसली केवल उन्ही की हो सकती थी जिले ग्राम-सभा वस्टूळ करने को तैयार होती थी। इन स्थानीय संस्थाओं को न्याय के भी पर्यात अधिकार थे. जिससे राजा के हाथ **से** एक और विभाग निकल जाता था जो अत्याचार का प्रमुख सामन बन सकता या । स्थानीय संस्थाओं को अपनी सीमा में उगाहे जानेवाले भूमिकर तथा अन्य करों के पर्याप्त अंग्र पर भी अधिकार रहता था, इनका उपयोग जनता को इच्छानुसार सार्वनिक हित के कार्यों में किया जाता था। गाँव के अधिकारी भी अधिकतर राज्य से तनलाह लेनेवाले कर्मचारो न थे, प्रायः उनका पद और अधिकार आनुवंशिक होता या। केंद्रीय सत्ता से संघर्ष उपस्थित होने पर वे स्यानीय संस्था का ही साथ प्राय: देते थे । अस्तु, ग्राम और नगर संस्थाएँ बहंश में छोटे छोटे प्रजातंत्र ही थे जिनमें जनता की ही चलती थी। अतः श्रत्याचारी राजा का शासन साधारणात: राजधानीं के परे न चल पाता था।

अस्तु, राजा की शक्ति पर सबसे बड़ी रोक प्राचीन भारत में प्रचलित व्यापक विकेंद्रीकरण की ही थी। आधुनिक प्रकार के प्रतिबंध इसिल्य न लगाये जा सके कि प्रतिनिधि-तंत्र की कल्पना १६ वीं शताब्दी के पहले पूर्व और पश्चिम दोनों में अज्ञात थी।

१ नवम श्रध्याय देखो

## अध्याय ६

## गणराज्य या प्रजातंत्र

पिछले अध्याय में हमने नृपतंत्र का विवेचन किया है अब हम राज्य के दूसरे प्रकारों का निसमें लोकतंत्र गणतंत्र और उच्चवर्गतंत्र या अभिजनतत्र आदि आते हैं विवेचन करेंगे।

कुछ लेखकों का मत है कि पाचीन भारत में केवल नृपतंत्र का ही प्रचलन था ; जिन राज्यों को प्रजातंत्र समझा जाता है वे वास्तव में जन-राज्य या शाति राज्य थे। इस मत के अनुसार मालव गण और यौधेय गण का अर्थ मालव और यौधेय प्रना तंत्र नहीं वरन मालव और यौधेय ( ज्ञाति राज्य है।) परंत यह मत ठीक नहीं है यदि हम मान मी हैं कि मालव और यीधेय गण या शातियाँ थी तो भी इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि इनकी राज्य • यवस्था प्रचातंत्रात्मक थी। यह निर्विवाद सिद्ध है कि गण का अर्थ एक विशिष्ट राज्य व्यवस्था है जो नुपतंत्र से नितांत भिन्न है। मध्यदेश के कुछ व्यापारियों से दिचण के एक राजा ने पूछा कि आपके देश में कौन राजा राज्य करते हैं तो उन्होंने उत्तर दिया कि महाराज, हम मे से कुछ ऐम देश के हैं जहाँ राजा का राज्य है पर औरों के देश में गणतंत्र की व्यवस्था है?। एक जैन ग्रंथ में कहा गया है कि जैन साधु ऐसे देश में न जायँ जहाँ राजा न हो. या जहाँ युवराज का राज्य हो या जहाँ आपस में लड्नेवाले दो राजाओं ( द्वैराज्य ) का राज्य हो या जहाँ गणराज्य हो। र इन दो उरद्धणों से स्पष्ट है कि गण का एक निश्चित वैधानिक अर्थ है और इससे ऐसे राज्य का बोध होता है जहाँ अधिकार एक आदमी के हाथ में न होकर गण अथवा अनेक व्यक्तियों के

देव केचिह्ंशा गणाधीनाः केचिद्राजाधीनाः । भवदानशतक, २. पृ. १०३

२ अशयणि वा गणरायणि वा जुवरायणि वा दोरज्जणि वा वेश्वतीण वा विरुद्धरज्जणि वा। आचारंग सूत्र, २. ३. १. १०१

हाथ में होता था। ठीक इसी अर्थ में 'संघ' शब्द का भी प्रयोग किया जाता था। अत: जब सैकड़ों मुद्राएँ हमारे सामने हैं जिन पर के छोटे लेखों में यौधेय मालव और अर्जुनायन राजाओं का नहीं वरन उनके गण का उल्टेख है तो उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उन का तात्पर्य बन या ज्ञाति से नहीं वरन् गण् या लोकतत्र राज्यव्यवस्था से हैं जिसकी ओर से उक्त मुद्राएँ जारी की गयी थीं।

मद्रा लेखों और पारिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त प्राचीन भारत में राज्यतंत्र से भिन्न प्रकार के प्रजातंत्रों का अस्तिस्व सिद्ध करने के लिए हमारे पास सम-सामयिक यूनानी लेखकों के विवरणों का बहुमूल्य प्रमाण भी है। कुछ लोग ·इन प्रमार्खों को संदिग्ध समझते हैं वे कहते हैं कि यूनानी इतिहासकारों ने जबग्दस्ती भारतीय राज्यव्यवस्था को अपने देश में प्रचलित व्यवस्था से मिलाने की चेष्टा की है। यह तर्क विचित्र है। प्राचीन यूनान में जितनी राजनीतिक सिढांतीं श्रीर मूलतत्वों की चर्चा और विधेचन और शासन **ब्यवस्था** का श्रध्ययन और विश्लेषण हुआ या उतना अन्यत्र कहीं नहीं हुआ था। यूनानी इतिहास लेखकों ने प्राचीन भारत में नृप-तंत्र और अनेक प्रकार के प्रचातंत्र दोनों देखे थे । वे स्वयं लोकतत्र के समर्थक थे और कोई कारण नहीं कि वे भूठ-मूठ अपने शत्रओं में ऐसी राज्यव्यवस्था का अस्तित्व सिद्ध करना चाहें बिर वे अपने गौरव का विषय मानते थे। उनके लेखों के अध्ययन से सिद्ध होता है कि उन्होंने भिन्न प्रकार के राज्यों की विभिन्नता का बढ़ी सक्ष्मता से अध्ययन किया था। आंभी और पुरु दोनों सिकंदर के समकालीन राजा थे, युनानी लेखकों का कथन है कि जब पुरु ने सिकदर की अधीनता स्वीकार कर ली तो िंकदर ने अपना जीता हुआ बहुत बड़ा भूमिभाग उसको प्रदान कर दिया ; यूनानी इतिहासकार बड़े सावधानी से कहते हैं कि उस प्रदेश में प्रजातंत्रात्मक राज्यव्यवस्था थी । यूनानी लेखकों ने हिखा है कि न्यासा के नगर राज्य में उच्चवर्गतंत्र प्रचलित था3 । वे आगे जाकर कहते हैं कि सबरक नामक पबल भारतीय शांति में प्रजातंत्र या, नृपतंत्र नहीं। व्यास नदी के पूर्व एक शिन्तिशाली राज्य अवस्थित था जिसका शासन

वेणीप्रसाद, स्टेट । १६८-६ । मॅक क्रिंडल, अलेक्जेंडस इन वेजन,
 पृ. ६०८-९ ३ विही पृ. ८१ ६-वही पृ. २४२, ४ - पृ. १२१

उच्चवर्ग के हाथ में या जो जनता पर न्याय से और सौम्यता से शासन करता या सिंधु नदी की घाटी में बहुत से प्रजातंत्रीय राज्य थे मगर उनका वर्णन करने मे यूनानी इतिहासकार जो वहां इनेगिने नृपतंत्रात्मक राज्य थे उसका उल्लेख करना नहीं भूळे हैं। वे लिखते हैं कि मुस्क राज्य पर एक राजा का राज्य है और पाटल में भिन्न कुल के दो राजाओं का राज्य है को लोक-समिति की सलाह से एक साथ राज्य करते हैं। जब हम देखते हैं कि यूनानी छिखकों ने शासन पद्धति और राज-व्यवस्था की विभिन्नता का किस सूक्ष्मता स वर्णन किया है तब हमें उनके वर्णनों की प्रामाणिकता स्वीकार करनी ही पहती है और यह विचित्र तर्क अखीकार करना पहता है कि उन्होंने केवल यूनान से समता दिखाने के लिए अपने मन से भारत में प्रजातंत्र राज्यों का वर्णन दिया है। मैकिकिंडल का यह मत भी निस्तार है कि यूनानी लेखकों द्वारा वर्णित प्रजातंत्रात्मक राज्य वास्तव में ग्राम संस्थाएँ थीं श्रूनानी लेखकी ने तो ग्राम जीवन या ग्राम शासन का उल्लेख भी नहीं किया है। फिक का यह मत है कि ग्रीक लेखकों द्वारा वर्णित प्रजातंत्र या स्वयं शासित राज्य छोटी छोटी रियासर्ते या एक्के दुक्के नगर थे जा मगन जैसे बड़े बड़े साम्राज्यों के अद्दोस पद्दोस में रहते हुए और किसी स्कार श्रपनी स्वायत्तता को बनाये रख सके थे । परंतु यह मत भी ठीक नहीं है। एक तो विकंदर के समय में पंजाब में कोई बड़ा साम्राज्य भी न या दूधरे उस समय के प्रजातंत्रात्मक राज्य राजाओं द्वारा शासित राज्यों से कहीं अधिक विस्तृत और शक्तिवाली थे।

अभी तक हमने इन राज्यों के लिए प्रजातंत्र शब्द का सामान्य प्रयोग किया है। अब हमें इनका प्रकृत स्वरूप निश्चित करना है। कुछ लेखक इनकी शासनसंस्था को केवड शांति या जन को पंचायत बताते हैं कुछ दूसरे उसकी उच्चजनतंत्र समझते हैं, कुछ ऐसे भी लेखक हैं जो इनमें विश्वद प्रकातंत्र देखते हैं। अब हमें देखना है कि इनमें से कौन सा शब्द इनके विधान का ठोक ठीक वर्णन कर सकता है।

कुछ लेखकों का कहना है कि इन राज्यों को प्रजातंत्र या लोकतंत्र कहना ठीक नहीं क्योंकि इनमें सारे अधिकार सावारण जनता के हाथ में नहीं बरन एक छोटे से उच्च वर्ग के लोगों के हाथों में ही रहते थे। हम जानते हैं कि यौधेयों में शासन सत्र ५००० व्यक्तियों की पारिषद के हाथ में था जिनमें से

१ मैकिकिंडल, पृ. ११४

२ फिक, सोबाल कंडिइंस इन दि नार्थ ईस्टर्न इंडिया, पृ. १३७

मत्येक के लिए राज्य को एक हाथी देना जरूरी था। अस्तु, यह स्पष्ट है कि इस राज्य के शासक अमीर या उच्च वर्ग के सदस्य ही होते थे जिनमें एक एक हाथी दे सकने का समर्थ्य था, जन सावारण का राज्य के शासन में कोई हाथ न था। शास्यों और कोलिया के राज्य में भी यही रिथति थी। समस्त जनता के जीवन से घनिष्ट संबंध रखनेवाड़े संधि विग्रह जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न का निर्णय भी थोड़े से शास्य और कोलिय राजाओं अर्थात् सरदारों के हाथ था। साधारण किसान और मजदूरों का काम केवल अधिकारी वर्ग के निश्चय को मानना और पूरा करना था।

इसमें संदेह नहीं है कि आजकल प्रजातंत्र और लोकतंत्र का जो अर्थ है उस अर्थ में तो प्राचीन भारत के यौधेय, शाक्य मालव और लिच्छवि गण-राज्य लोकतंत्र नहीं कहे जा सकते । आधुनिक काल के अधिकांश उन्नतिशील होकतत्र राज्यों की भाँति प्राचीन भारत के इन गग-राज्यों में शासन की बागडोर सामान्य जनता के हाथ में नहीं थी। फिर भी हम इन्हें प्रजातंत्र या गणतंत्र कह सकते हैं। राजनीति के प्रमाणभूत ग्रंथों के अनुसार प्रजातंत्र राज्य वह है जिसमें सर्वोच शासन अधिकार राजतंत्र की भाँति एक व्यक्ति के दायों में न होकर एक समूह गग या परिषद के हाथ हो जिसके सदस्यों की संख्या चाहे कम हो या अधिक । इस प्रकार सरदारतंत्र, उच्चजनतंत्र और प्रजातंत्र सभी लोकतंत्र की श्रेगी में आते हैं। इसी प्रकार प्राचीन रोम, एयेंस, स्पार्टा, कार्थेज, मध्यकालीन वेनिस, संयुक्त नेदरलैंड और पोलैंड सभी प्रजातंत्र माने गये हैं यद्यपि इनमें से किसी में भी आधुनिक लोकतंत्र के सब लवण वर्तमान न थे। प्राचीन यूनान और रोम के प्रजातंत्र राज्यों में मतदान का अधिकार बहुत छोटे से अल्परंख्यक समूह के हाथ में या जो स्वतंत्र मगर अधिकार रहित नागरिक और बहु संख्यक दास वर्ग पर शासन करता था। मध्य युग में वेनिस के प्रजातंत्र में कौंसिल की समाप्ति के बाद मताधिकार थोड़े से रई सों के हाथ में रह गया या और इन पर भी एक छोटे से गुट का बड़ा प्रभाव रहता था। संयुक्त नेदरहैंड के सात राज्यों का शासक निर्वाचित 'स्टैथोल्डर' होता या परंतु उसे चुनने का आधकार भी बहुत योड़े लोगों की ही था। आधुनिक काल में भी भ्यक्त राष्ट्र श्रमेरिका में लाखों निशो चिरकाल तक मताविकार से वंचित रहे हैं, इंग्लैंड में भी १९ वीं सदी के मध्य तक 'पाकेट बारो' पाये जाते थे जिनके सहारे सरदार लोग जिसे चाहे उसे निर्वा-

१ मॅक्किडलू इन्वेजन श्रॉफ अलेनजंडर दि ग्रेट, पृ. १८१

चित कर सकते थे। और अभी हाल तक फ्रांस में स्त्रियाँ मताधिकार से वंचित थीं जिससे ब्राघी फ्रेंच जनता चुनाव में भाग नहीं छे सकती है।

अस्तु, शास्त्रीय और ऐतिहासिक दोनों आं वारों से प्राचीन भारतीय गण-राज्य प्रजातंत्र कहे जायेंगे उसो प्रकार जैसे प्राचीन रोम और यूनान के राज्य प्रजातंत्र कहे जाते थे। इन राज्यों में शासनाधिकार एक ही व्यक्ति अथवा मुद्दीमर आद्मियों के हाथ में नहीं बरन काफी बड़े वर्ग के हाथ में या। वैशाली का लिच्छिव गण राज्य आजकल के दो जिलों से बड़ा न था फिर भी उसके शासक वर्ग में ७७०० आदमी थे। इस वर्ग के सदस्य चात्रिय होने के कारण 'राजा' कहे जाते थे। शवर ने स्पष्ट लिखा है कि च्वत्रिय और 'राजा' पर्यायवाची हैं। उत्तरी-पूर्वी भारत के प्रायः सभी गण-राज्यों में शासन मंडल के सभासदों को राजा की पदवी देने की प्रथा थीं?। इसी से अभरकोष में 'राजन्यक' का अर्थ चित्रयों का गण-राज्य बताया गया है, और वृष्ण अपने की राजन्य माने चित्रय गण कहते थे।

अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय गणराज्यों में शासक वर्ग प्राय: चित्रय होता था और संख्या में वह प्राचीन ग्रीस या रोम के प्रजातत्र राज्यों के शासक वर्ग से अधिक नहीं तो कम भी न था। अतः किस अर्थ में प्रामाणिक राजनीति ग्रंथों में प्राचीन यूनान या रोम के राज्य प्रजातंत्र कहे गये हैं उसी अर्थ में ये गणराज्य भी प्रजातंत्र थे। साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि ये आजकल के लोकतंत्र राज्यों की कोटि के नहीं थे, जिनमें अधिक से अधिक लोगों को मताधिकार दिया जाता है। प्राचीन गणराज्यों में राजनीतिक अधिकार अधिकतर च्रित्रयों के हाथ में हो था। अस्तु इस प्रकार के राज्यों को प्राचीन वाङ्मय और लेखों में गणराज्य कहा गया है, और आगे चलकर हम भी उनको उसी संज्ञा से निर्दिष्ट करेंगे।

अब हम अपने गगतंत्र राज्यों के विकास-क्रम का अध्ययन करेंगे। हम देख चुके हैं कि वैदक काल में नृपतंत्र ही सर्वत्र प्रचलित था। इस काल में

१ पू. मी. ६. ७. ३

२ किच्छित्रकृष्टिजकमरुककमद्गकङ्कन्दुरकुरुपांचालाद्यो राजन्यशब्दोपजीविनः अर्थशास्त्र, एकाद्श भाग ।

३ "अय राजकम् । राजन्यकं च नृपतिचत्रियाणां गयो क्रमात् ॥

२. इ. ६. ३

४ वृष्णिराजन्यगण्स्य जयः।

आर्थ होग नये नये प्रदेश पादाकांत कर रहे थे इसिलए उनको एकमुखी नेतृत्व की बड़ी आवश्यकता थी। मेगास्थीन ने भी लिखा है कि ४थी शताबदी ई ॰ पू॰ में भारत में एक परंपरा प्रचलित थी जिसके अनुसार प्रजातंत्र का विकास राजतंत्र के बाद माना जाता था । पुराणों में बुद्ध के पूर्व की जो राज-वंशावली है उनसे प्रकट होता है कि ६ ठीं शताब्दी के मद्र, कुरु, पांचाल, शिवि और विदेह गण-तंत्र पहले नुपतंत्र ही थे।

ऋग्वेद के अंतिम स्क में प्रार्थना की गयी है कि समिति की मंत्रणा एकमुखी हो, सदस्यों के मन भी परम्परानुकूल हो और निर्णय भी सर्वसम्भत हों। द इस स्क का संकेत गणतंत्र की समिति की ओर भी हो सकता है पर साधा-रणतः समिति का संबंध राजा से ही रहता था। अतः इस बात में संदेह है कि इसका तात्पर्य गणतंत्र की केंद्रीय समिति से रहा हो। केवल इस स्क से अमुन्वेद काल में गणतंत्र का अस्तिस्व सिद्ध नहीं होगा।

एक अन्य स्थल पर राजाओं के समिति में एकत्र होने का वर्णन किया गया है । दूबरे स्थान पर यह कहा गया है कि राजा वही हो सकता है जिसे अन्य राजा लोग स्वीकार करें । यहाँ पर अन्य राजाओं का अर्थ संमवतः विश्पति है, और यह राज्य मी बाद के प्रजातत्र राज्य के प्रकार का था। राजशक्ति सर्वसावारण जनता के हाथ में न हो कर विशों के मुखियों के हाथ में थी। यदि इनके द्वारा स्वीकृत अध्यन्न या अधिपति का पद आनुवंशिक हो जाता था तो राज्य नुपतंत्र में परिवर्तित हो जाता था। पर यदि विश्पति या सरदारों द्वारा स्वीकृत अधिपति के अधिकार की कालमर्यादा सीमित होती थी और उसका पद आनुवंशिक न होने पाता था तो बाद में चलकर यही राज्य परवर्ती काल के स्वित्रय गगराज्य के रूप में विकसित हो सकता था।

ब्राह्मण बाङ्पय के एक प्रसिद्ध उद्धरण में कहा गया है कि प्राच्यों के राजा 'सम्राट्' कहे बाते थे, सात्वतों के राजा 'माज', तथा नीच्यों और आपाच्यों के राजा 'स्वराट्' कहे जाते थे; और उत्तर-भद्ग तथा उत्तर-कुरु आदि हिमालय के उत्तर के प्रदेशों में 'वैराज्य' व्यवस्था थी और वहाँ के लोग 'विराट्' शब्द

इस प्रकार कई पीढियाँ बोतने पर नृपतंत्र समाप्त हुआ और उसका स्थान प्रजातंत्रासमक शासन ने जिया । एश्यिन, अध्याय ९ ।

२ समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् । १०.११ १.३

३ यत्रीषधी: समग्मत राजानः समिताविव ॥ ऋ. वे., १०, ६७. ६

४ यस्मै वे राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न । श. प. ना. ६. ३. २. ४

हे संबोधित किये जाते थे'। 'स्वराट्' और 'मोज' उपाधियों के अर्थ के विषय में कुछ मतमेद है । पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि उत्तर-कुछ और उत्तर-मद्र के 'वैराज्य गणतंत्र ही थे क्योंकि 'विराट' संबोधन उनके राजाओं का नहीं वरन् 'नागरिकों' का है और अमिषेक राजा का नहीं जनता का होता था । यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि उत्तर-कुछओं और उत्तर-मद्रों के देश में ४थी सदी ईसवी तक गणतंत्र-व्यवस्था ही प्रचलित थी।

ऐतिहासिक काठ में भारत के उत्तरी-पश्चिमी और उत्तरी-पूर्वी भूभागों में गणतंत्र राज्य कायम थे। पर दक्षिण में किसी गणतंत्र राज्य का पता नहीं चलता यद्यपि उत्तर भारत की अपेचा वहाँ स्थानीय शासन में जनता का हाथ कहीं अविक था। अब हम ऐतिहासिक काल के विविध गणतंत्र राज्यों पर दृष्टिपात करेंगे और उत्तर-पश्चिम से शुरू करेंगे ।

२ डा॰ जायसवास का मत है कि ये प्रजातंत्र राज्य थे, पर यह संभव नहीं प्रतीत होता। हिंदू पॉलिटी, १. ८०-१

१ ये के च प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते...ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरवः उत्तरमद्गा इति ैराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते विराहित्येतानभिषिकानाचचते । ऐ. जा., ७, ३० १४

इ सायण प्रजातंत्र राज्यों के अस्तित्व से अनिमज्ञ थे अतः उन्होंने वैराज्य का अर्थ 'इतरेश्यो भूपतिश्वः श्रेष्ट्यम्' किया है। महाभारत (१२.६७. १४) में 'विराट्' राजा का एक पर्याय माना गया है। पर यदि विराट् का अर्थ 'विशेषण राजा' हो सकता है तो वि (बिना) राजा भी हो सकता है। 'ैदिक इंडेक्स' में वैराज्य भी राजशक्ति का एक प्रकार कहा गया है पर वैराज्य में बद्दि पूरी जनता का अभिषेक होता या तो स्पष्ट है कि राजशक्ति अनेक आदिमयों के हाथ में थी।

४ प्राचीन सारत के गणतंत्र राज्यों का बृत्तान्त उत्तर पश्चिम में मुख्यतः ग्रीक छेखकों और उत्तर पूर्व में बौद्ध ग्रंथों से ज्ञान होता है। पाणिनि, कात्यायन, पतंजिब, जयादित्य और वामन आदि वेयाकरणों से भी घहुत सहायता मिळती है क्योंकि इनके ग्रंथों में राजनीतिक विधान संबंधी बहुत से शब्दों की व्युत्पत्ति सिद्ध की गयी है। महाभारत में भी दो अध्यायों में इन राज्यों के विधान और उनके गुण दोषों की सहानुभूति पूर्वक वर्चा की गयी है (१२.८१,१०७) अर्थशास्त्र ने मुख्यतः गर्णी

५०० ई० पू० से ४०० ई तक पंजाब और सिंधु की घाटो में गणतंत्र राज्यों का ही बोलबाला था। उनमें से कुछ ऐसे मी हैं कि जिनके केवल नाम ही वैयाकरणों के प्रथा में हमें मिल जाते हैं पर उनके बारे में दुर्भाग्यवध हम और कुछ नहीं जानते। इस श्रेणी में इक, दामणि, पार्श्व और कंबोज हैं। पाणिनि के समय में त्रिगर्त-श्रष्ठ छ गणतंत्रों का राज्यसंघ था, काशिका (१००० वर्ष बाद रचित) के अनुसार ये छ राज्य कोडोपरथ, दंडिक, कोष्ठिक, जालमानि, ब्राह्मगुप्त और जानिक थे। संभवतः उन्होंने श्रपनी सुद्रा भी चलायी थी जिस पर 'त्रकत (श्रिगर्त) जनपदस्य' 'त्रिगर्त देश की सुद्रा' ऐसा लेख पाया जाता है । संभवतः यह गणसंघ बलंबर दोश्राव में स्थित था और बाद में उसका 'कुणिंद' नामांतर हुआ। कुणिंदों की सुद्राएँ बड़ी संख्या में मिली हैं। कुणिंद राज्य दूसरी सदी ईसवी तक बर्तमान था और कुषाण साम्राज्य की नष्ट करने में इससे यौधेयों को बहुत सहायता मिली।

आधुनिक आगरा-जयपुर प्रदेश में लगभग २०० ई० पू० से ४०० ई० तक अर्जुनायन गणतंत्र कायम था। इसकी मुद्राएँ भी मिटी हैं। इन पर किसी राजा का नाम नहीं है केवल इतना ही लिखा है 'अर्जुनायनानाम् जयः' 'अर्जुनायनों का जय हो'। मुद्राओं का समय अनुमानतः १०० ई० पू० है पर गणतंत्र इससे कहीं पुराना रहा होगा क्योंकि उसका शासक वर्ग अपनी उत्पत्ति महाभारत के प्रख्यात योद्धा 'अर्जुन' से मानता था। इनका यौधेयों से जो अपने को घर्मराज युधिन्दिर के वंशज मानते थे, बहुत सहयोग रहा करता था।

यौधेय गणतंत्र काफी बड़ा राज्य था। इसकी मुद्राओं के प्राप्ति स्थानों से ज्ञात होता है कि इसका विस्तार पूर्व में सहारनपुर से पश्चिम में भावलपुर तक और उत्तर-पश्चिम में लुंचियाना से दिल्ला-पूर्व में दिल्ली तक रहा होगा। यह तीन गणतंत्रों का राज्यसंघ था। इनमें से एक की राजधानी पंजाब में रोहतक थी। दूसरे के शासन में उत्तर-पांचाल का उपजाक 'बहुधान्यक' प्रदेश था और तीसरे की सीमा में संभवतः राजपूताना का उत्तरी भूमाग था।

<sup>(</sup>७४ पृष्ठ से)

और संघों की घाक्त भंग करने के उपायों पर विचार किया है, पर इसी सिकसिके में इनके विषय की बहुत सी बातें मालूम हो जाती हैं।

प्रतन, कॉइन्स आफ ऐंशिएंट इंडिया, चित्रफळक ३१. १०, इन सुद्राओं के
 लेखों से गणतंत्र का अस्तित्व सिद्ध होता है।

२ मजुमदार और आहतेकर-दि एज ऑफ बाकाटक ए ड गुलाज, अध्याय २

सिकंदर के वृत्तलेखकों ने लिखा है कि व्यास पार एक उपजाक देश था जिसमें बीर लोग रहते थे आर जिसके शासन की बागडोर उश्ववंग के हाथ थी। यह गणतंत्र निस्संदेह योधेय गणतंत्र ही था और उसका प्रभाव उस समय सर्व विख्यात था। योधेय अपनी अप्रतिम बीरता के लिए प्रख्यात थे। वे देवसेना के सेनानो कार्तिकेय को अपनी कुल्देवता मानते थे और इसीलिए उनके वाहन के नाम पर मत्तमयूरक' विशेषण धारण करते थे । इनके पराक्रम और शक्ति का वर्णन सुनकर ही सिकंदर के सैनिक दहल गये थे आर उन्होंने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया था। प्रथम शताब्दी ई स्वीं में कुशाण सम्माद किनक ने इनका पराभव किया पर अधिक समय तक कुशाण इन्हें अपने कान् में नहीं रख सके। सद्दामा के शिलालेख के शब्दों में 'अपने पराक्रम के लिए समस्त खात्र्यों में अप्रगण्य' इन अभिमानी वीरों ने शीव्र सिर उठाया ये और रूप ई० तक न केवल इन्होंने अपनी खोयी हुई स्वतंत्रता ही पुनः प्राप्त कर ली बरन कुशाण सम्मान्य को ऐसा घनका दिया जिससे वह फिर समल न सका । ३५० ई० तक यह गणतंत्र वर्तमान था, पर इसका बाद का इतिहास जात नहीं है।

मध्यपंजाब के मद्रों का भी एक गणराज्य था। मद्र लोग संभवतः कठों से भिन्न न थे जिनको प्रजासत्तात्मक राज्य का उल्लेख सिकंदर के वृत्त लेखकों ने किया है। इनकी राजधानी स्यालकोट थी। शत्रु के सम्मुख सिर इन्हिकर प्राण बचाने से इन्होंने खंत तक निकंदर के विरुद्ध लड़ते लड़ते मर बाना ही अच्छा समझा। इनका गणराज्य ४ थी सदी ईसवी तक वर्तमान था।

माडव और जुदक उन गणतंत्रों में अप्रगण्य है जिन्होंने सिनंदर के अभियान का प्रबलतम प्रतराब किया था। इस समय मालव चेनाव और रावी के बीच बाले तथा उसन दुळ दिल्ल के प्रदेश में बसे थे और जुदक उनके दिल्ली पद्दोशी थे थे। सिकंदर का सामना करने के लिए उन्होंने संयुक्त योजना बनायों थी पर दोनों सेनाओं के मिलने के पहले ही सिकंदर मालवों पर दूट पड़ा। मालवों के पास १ लाख लड़ाके थे और उन्होंने जमकर यूनानियों से लोहा लिया, यहाँ तक कि मालवों के एक गढ़ पर हमला करते समय सिकंदर के प्राण जाते जाते

<sup>।</sup> महाभारत, प. ३५. ३-४ ।

२ जुनागढ़ का शिकालेख।

३ मञ्जमदार और अल्तेकर-दि एज श्रॉफ वाकाटकाज एंड गुप्ताज, पृ.२८-३२

४ मैक्किडल, इस्हेजन ग्रॉफ अलेग्जॅडर, पृ० १३८

बचे । अंत में मालवों और चुद्रकों को संधि-प्रार्थना करनी पड़ी । पर इस संकट से सबक सीखकर दोनों राज्यों ने जो राज्यसंघ स्थापित किया वह कई शताब्दियों तक कायम रहा । महाभारत में श्रानेक बार मालव और चुद्रकों का उल्लेख साथ साथ पाया बाता है । श्रीर वैयाकरणों ने इन दोनों नामों से बने हुए एक विशेष रूप के 'द्रंद्र सनास' का उल्लेख किया है । आगे चलकर चुद्रक पूर्ण रूप से मालवों में मिल गये । १०० ई० पू० के आसपास मालव अजमेर-चिचौड़ टॉक प्रदेश में बाकर बसे और आगे बहते हुए ४०० वर्ष बाद मध्य हिंदुस्थान के प्रदेश में गये जिसे अब मालवा कहा जाता है । १५० ई० के करीब शकों ने उन्हें पराजित किया पर २२५ ई० तक वे फिर स्वतंत्र हो गये । मालव श्री रामचंद्र के प्रख्यात इक्ष्वाकु वंश्व होने का दावा करते हैं । उनको तांव की मुद्राएँ भी बहुतायत से मिलती है । इन पर किसी राजा का नाम न होकर 'मालवों की जय' लिखा है ।

ि सिंदर के श्वस्तेखकों द्वारा वर्णित मालवों के पड़ोसी गणतंत्र 'अगेसिनाह' और सिवियों का ठीक स्थान निश्चित नहीं है। सिवियों का राज्य पहले नृपतंत्र या बाद में गणतंत्र में परिवर्तित हुआ। १०० ई. पू. तक वे राजपूकाने में चित्तीर के पास मध्यामिका में जाकर बस गये थे। यहाँ उनके गणतंत्र का स्पष्ट निर्देश करनेवाली मुदाएँ बहुत बड़ी धंख्या में मिली हैंर।

चुत्रकों के पड़ोस में अम्बष्ट गणतंत्र भी था। यूनानी इतिहासकार कर्टियस ने रपष्टतः उनके राज्य को प्रजातंत्र (Repulic) कहा है। इनकी सेना में ६० हजार पदाति, ६ इजार घुड्सवार और ५०० रथ थे, सिकंदर का सामना करने के लिए इन्होंने तीन सेनानी चुने थे, पर अंत में अपने बृद्धों की सलाह मानकर उन्होंने सिर झका दिया। इनके भी बाद के इतिहास का कुछ पता नहीं।

द्वारिका (काठियावाड़ ) के श्रंघक वृष्णियों का राज्य भी गणतंत्र था। इसका श्रास्तित्व प्रागैतिहासिक काल से ही था, महाभारत में इसका उल्लेख किया गया है। अर्थशास्त्र में काठियावाड़ के 'संघ' माने गणराज्यों के उल्लेख से पता चलता है कि इस प्रदेश में गणतंत्र की परंपरा कायम रही।

बौदों के त्रिपिटक और भाष्यों से पता चलता है कि वर्तमान युक्त-

<sup>9 2. 4. 80, 4. 40. 9</sup>E

२ इन सुद्राभो पर यह छेख है 'सिक्तिमिकाय सिक्षित्रनपदस ।' पुलन-कॉइंस ऑफ एंझंट इंडिया, प्र० १२४

प्रांत के गोरखपुर और उत्तरी बिहार के प्रदेशों में भी अनेक गणतंत्र वर्तमान थे। इनमें से भगा, बुळी, कोळिय और मोरिय राज्य तो आधुनिक तहसीळों से बड़े न थे। शाक्य, मल्ल, लिच्छिब श्रीर विदेह राज्य कुछ बड़े थे पर सब मिलाकर भी इनका विस्तार लंबाई में २०० और चौड़ाई में २०० मील से अधिक न था। पश्चिम में गोरखपुर से पूर्व में दरमंगा तक श्रीर उत्तर में हिमालय से दिखाए में गंगा तक इन गणराज्यों का विस्तार था। इन चारों में शाक्यों का राज्य सबसे छोटा था। यह गोरखपुर जिले में स्थित था इनके पूर्व में महुराज्य स्थित था। इसका विस्तार पटना जिले तक था। इसके बाद लिच्छिब और विदेह राज्य थे?।

शाक्य राज्य की शासन व्यवस्था के बारे में कुछ संदेह है। बौद्ध ग्रंथों के कुछ उल्लेखों से जान पहता है कि यहाँ नृपतंत्र था। बुद्ध के समय में महीय यहाँ का राज। था, उसने जब संघ में भवेश करने का निश्चय किया तो अपने राज्य के उत्तराधिकारी की ब्यवस्था करने के लिए एक सताह का समय माँगा। पर हम देख चुके हैं कि पूर्वी भारत के हन चात्रिय गणतत्रों का प्रत्येक सदस्य 'राजा' कहलाने का अधिकारी था। अहिय भी संभवतः इसी अर्थ में राजा हुआ होगा। जातकों में शाक्यों के संथागार का वर्णन है जहाँ एकत्र होकर वे संधि विग्रह आदि महस्वपूर्ण विषयों पर विचार किया करते थे। इनमें संपूर्ण शाक्य प्रदेश पर राज्य करनेवाले किसी आनुविश्वक राजा का उल्लेख नहीं है।

इसमें तो कुछ भी संदेह नहीं कि बुद्ध के जीवन काल में मल्छ, लिच्छिव और विदेह राज्य गणतंत्र थे। उनके पड़ोसी मगम और कोशल के राजा उन्हें जीतने का बारबार प्रयत्न करते थे इसिल्ए अपनी रह्मा के लिए थे गणतंत्र अपना एक संयुक्त राज्यसंघ बीचबीच में बनाते थे। कभी लिच्छिव मह्लों से मिल जाते थे तो कभी विदेहों से। पर ५०० ई० पू में मगम ने मल्ल और विदेह राज्यों को जीत लिया। लिच्छिवियों को भी मगम साम्राज्य के आगे नतमस्तक होना पड़ा पर २०० ई० पू न तक वे पुनः स्वतंत्र हो गये। ध श्री

अस्तु, यह प्रकट हो जाता है कि ये गणतंत्र राज्य ग्रीस के नगर-राज्यों से बड़े न थे। सबसे बड़े नगर राज्य स्पार्टी का क्षेत्रफड़ ३३६० वर्गमील था, किस्छिव राज्य का विस्तार भी प्राय: इतना ही था। अपने चरम उरक्ष के समय एथेंस का विस्तार जगमग १०६० वर्ग मीक था, ज्ञाक्य राज्य का विस्तार भी गाय: इतना ही था।

सदी ईसनी में लिच्छिन राज्य अत्यंत शक्तिशाली या और गुप्त साम्राज्य के संस्थापक चंद्रगुप्त को उनसे वैनाहिक संबंध करने से अपने उत्थान में बहुत मदद हुई।

अब हम प्राचीन भारतीय गणतंत्रों के विधान श्रीर उनकी शासन-व्यवस्था का विवेचन करेंगे। हमारी कठिनाई यह है कि इस विषय पर सामग्री बहुत कम है। अतः विभिन्न काल के और विभिन्न प्रदेशों के अनेक गणतंत्रों के संबंध की बिखरी बातें जोड़ कर हमें उनके विधान की एक रूपरेखा बतानी है। यद्यपि यह तरीका बहुत अच्छा नहीं पर दूसरा कोई रास्ता भी नहीं है।

यह तो स्पष्ट ही है कि मोरिय, कोलिय शास्य आदि छोटे छोटे थोड़े से गाँवोवाले गणतंत्रों की शासन-न्यवस्था यौधेय, मालव आदि सैकड़ों प्रामों और दर्जनों नगरों वाले विशाल गणतंत्र राज्यों से बहुत भिन्न होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर-पूर्व के इन छोटे छोटे गणतंत्रों की केंद्रीय समिति के सदस्य अधिकतर राजधानी में ही रहते थे और वहीं संथागार याने सभा भवन में एकत्र होकर राजकाज के विषयों पर निश्चय किया करते थे। वे उच्चवर्ग के थे और उनमें से प्रत्येक सदस्य को राजा और उसके पुत्र को उपराजा की उपाधि दी जाती थी । संभवतः इन 'राजा' जोगों को देहातों में कुछ जमींदारी हुआ करती थी जिसका प्रबंध उनके कारिंदे करते थे। शासक वर्ग के अतिरिक्त साधारण प्रजा में कुषक. भृत्य, दास, कारीगर आदि सम्मिलित थे जो बहुसंख्यक होने पर भी सत्ताहीन रहते थे। बब रोहिणी नदी के जल के उत्तर कोलियों और शाक्यों के किसानों और भृत्यों में झगड़ा हुआ तो उन्होंने अपने श्रपने राज्य के कर्मचारियों को खबर दी और इन्होंने अपने 'राजाओं' को समाचार पहुँचाया। इससे प्रकट होता है कि संधि विश्व ह आदि महत्वपूर्ण सार्वजनिक

अतथ निचकालं रज्जं कारेखा वसंतानं येव राजूनं सत्तसहसानि सत्तसतानि सत्त च राजानो होंति तत्तका येव उपराजानो तत्तका सेनापतिनो तत्तका मंद्यागरिका । जा. १. ए० ५०४ । इस वाक्य का अर्थ जो ऊपर किया गया है वही ठोक मालूम पदता है । दा० मांदारकर का कहना है कि उपर उद्घत वाक्य एक ऐसे राज्य-संघ का संकेत करता है जिसके घटक ७७०७ राज्य थे, जिसमें हरेक राज्य का पृथक् राजा, युवराज इस्पादि रहते थे । कारमायकल लेक्चर्स, १९१८, ए० १३५ । इस वाक्य पर दा० मजुमदार के भाष्य के छिए देखिए, कॉर्पोरेट् छाइफ्, ए० ६३-४ (प्रथम संस्करण)

विषयों पर निर्माय देने का अधिकार उच्चवर्गीय 'राजा'ओं को था जन गिषारण को नहीं। परंतु बाक्य राज्य में छोटे छोटे करनों और प्रामों में भी पंचायते होती थी जिनके ग्रमा भवन (ग्रंथागार) का उल्लेख बौद बाङ्मय में मिलता है । संमवतः इन प्राम पंचायतों में सब वर्गों के लोगों को प्रवेश श्रीर शासनाधिकार मिलता था।

यौधेय, मालव, आदि विशाल गण-राज्यों की व्यवस्था स्वभावतः बहुत भिन्न थी। विस्तृत होने के कारण ये अनेक प्रांतों में विभाजित रहते थे जिनके शासक नंभवतः उच्चवर्ग से ही चुने जाते थे। राज्य के बहुसंख्यक नगरों का एक अलग शासन विभाग था। उनको स्वानीय विषयों में पूरा अधिकार था और इनका शासन-प्रवंध स्थानीय नेताओं के ही हाथ में था। दुर्भाग्य वश्य यह पता नहीं कि नगर परिषदों का संघटन किस प्रकार का था। संभव है कि इनमें भी उच्च वर्ग की ही प्रधानता रही हो, पर नृपतंत्र राज्यों की नगर पिषदों के बारे में जो विश्वसनीय बुक्तंत उपलब्ध है उनसे ज्ञात होता है कि इनमें साधारण वर्ग के व्यापारियों, कारीगरों और किसानों का भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व रहता होगा। राज्यों में फैले हुए सैकड़ों गावों की पंचायतों में तो सामान्य जनता के हाथ में ही प्रायः सर्वस्ता रहती थी। संभव है कि गाँव का मुखिया ज्ञासक वर्ग का ही होता हो। राज कर्मचारी भी श्रधिकतर इसी वर्ग के होते रहें हों पर ग्राम पंचायतों के अत्यधिक सदस्य साधारण श्रेणी के श्रीर हर जाति तथा वर्ग के होते थे।

इन गणतंत्रों में शासन का सर्वोच अधिकार केंद्रीय समिति के ही हाथों में बा। जिसके सदस्यां की संख्या काफी बड़ी होती थी। यौधेयों की समिति में ५००० और लिच्छिबियों की समिति में ५००० सदस्य थेरे। चुद्रकों ने अपने १५०० में लिच्छिबियों की सिकंदर से संधिवार्ता के किए मेजा था, उनकी समिति की सदस्य-संख्या इसकी कई गुनी रही होगो। ये संख्याएँ बहुत बड़ी जान पड़ती है पर स्मरण रखना चाहिये कि इसी समय यूनान में एथेनियन असंबली में ४२००० नागरिक थे और हरएक को उसकी बैठक में शामिल होने का अधिकार था। पर वास्तविक व्यवहार में बहाँ ऐसा नहीं होता था।

१ चतुमा गाव का संथागार का उल्लेख बौद्ध वाङ्मय में मिछता है। म. नि., १. !

म. नि., १. प्र. ४४७

२ वैशासी की पूरी जनसंख्या जगभग १, ६८, ००० थी, ऐसा मालूम होता है। जातक, १. पृ. २७१

देहात के सदस्य हरेक मामूली बेठक में शामिल होने के लिए समय और धन का व्यय करना न पहंद करते थे। साधारणतः दो तीन हजार सदस्य उपस्थित होते थे को पूरी संख्या कि ७-८ फी सदी से अधिक न थे। लिच्छिव और यौधेय समिति के सदस्य संभवतः गणतंत्र के मूल संस्थापकों के वंशा थे, वे सब 'राजा' कहलाने के अधिकारी थे, इनमें से कुछ राजधानी में रहते थे, कुछ राज्य के बिभिन्न पदों पर थे और शेष राज्य के देहातों में रहते थे। इन सबको समिति में शामिल होने का अधिकार या पर मुश्किल से एयंस की भाँति १० प्रतिशत ही स्थित्यत होते रहे होंगे। जब कि न्यासा बेसे छोटे से नगर-राज्य की परिषद में ३० सदस्य थे तब योधेय ऐसे विशाल गणतंत्र की केंद्रीय समिति में ५००० सदस्य रहे हों तो आश्चर्य ही क्या। हमें यह भूलना न चाहिये कि शासक वर्ग का प्रत्येक सदस्य अपनी वंश परंपरा से समिति की सदस्यता का अधिकारी था, हरेक को अपने श्राभिकात्य और ऊँचे पद का इतना अभिमान था कि प्रतिनिधित्व का सिद्धांत उन्हें शत भी होता तो भी, प्रतिनिधि नियक्त करने का विचार उनके मन में आ ही न सकता था।

डा० जायसवाल का मत है कि कुछ गणतंत्रों में व्यवस्थापिका समा के अमीर समा श्रीर सामान्यसमा ऐसे दो माग होते थे । पर यह बहुत असमव प्रतीत होता है। हम देख चुके है कि केंद्रीय समिति में केवल उञ्चवर्ग के लोग रहते थे। उनको अपने कुल और है स्वियत का बढ़ा गर्व था, अपने से श्रेष्ठ सभा की कल्पना भी कदापि सहन न करते। सामान्य श्रीसायों के लोगों की सभा ही अस्तित्व में न थी। जिन 'वृद्धों' या अगुत्रों की सलाह पर अम्बद्धों ने सिकंदर की अधीनता स्वीकार करने का निश्चय किया वे किसी अमीरसमा के सदस्य नहीं वरन् अपने वर्ग के वयोवृद्ध और अनुभवी लोग थे।

अस्तु, गणतंत्रों में सर्व शासनाधिकार केंद्रीय समितियों में निहित थे इन्हें अपने श्रिधिकाने और शक्ति का बड़ा ध्यान रहता था। ये केवल मंत्रि मडल के सदस्यों का ही नहीं वरन् देना के नायकों का भी निर्वाचन करती

भ अमीर सभा = House of Lords or Upper House.

र हिंदू पालिटी पृ. ८४—'संघे चातुत्तराघें' (पाणित ३. ३. ४२) इस सूत्र का तारपर्यं व्यवस्थापिका समित्त के दा खंडों से नहीं है न इसका राज्य विधान से ही संबंध है, बिक इसमें तो ब्राह्मण और अमणों के समूह तथा शुकरों के यूथ का उच्छेख करके बताया गया है कि एक के सदस्यों की स्थित में घंतर है इसरे में नहीं।

थीं। सिकंदर के श्रमियान की खबर मिलने पर अम्बष्टों ने तीन प्रख्यात योद्धाओं को श्रपनी हेना का नेतृत्व करने के लिए चुना। रोमन सीनेट की भाँति ये समितियाँ भी हरेक युद्ध के लिए अलग श्रलंग हेनापित नियुक्त करती थीं। कम हे कम ग्रुक्त में तो हेनापित युद्ध के समय उसी युद्ध के लिए नियुक्त किये जाते थे, इससे किसी एक हेनापित द्वारा राज्य पर कब्जा करने की आशंकों न रह सकती थी। जो परिपाटी अम्बष्टों में ४०० ई० पू० में थी वहीं यौधेयों में ई० चौथी सदी में भी थी, नयोकि ग्रम काल के एक नेख में यौधेय गण द्वारा एक सेनापित के पुरस्कृत (निर्वाचित) किये जाने का उल्लेख हैं। पर धीरे घोरे यह पद भी अनुवंशिक हो गया। २२४ ई० में जिस मालव सेनापित ने अपने राज्य की खोयी हुई स्वतंत्रता हुन: प्राप्त की थी उसके वंश में लोग तोन पीढियों से सेनापित होते आये थे?। पर ये सेनापित कभी भी राजा या महाराजा कैसी राजत्व सूचक उपावि घारण न कर पाते थे।

बौद्ध ग्रंथों से जात होता है कि गणतंत्रों की केंद्रीय समितियाँ परराष्ट्र नीति पर पूरा अधिकार रखती थी। विदेशी राज्यों से श्रानेवाले राजदूतों से मिलकर उनके अस्तावों पर विचार करती थीं और संधि-विप्रह के प्रश्न का निपटारा करती थीं । संकट के समय यह अधिकार समिति के प्रमुख नेताओं को दे दिया जाता था, जुद्रकों ने सिकंदर के पास अपने जो डेल् सौ दृत भेजे थे वे वास्तव में सनकी केंद्रीय समिति के प्रमुख सदस्य थे श्रीर उन्हें चर्चा करके संधि करने का पूरा अधिकार दिया गया था । कुछ शास्त्रकारों का मत है कि राज्य के लिए केंद्रीय समिति में संधि विग्रह ऐसे नाजुक प्रश्नों पर प्रकट चर्चा होना श्राहतकर है इन प्रश्नों का निर्णय गय-मुख्यों पर ही छोड़ देना चाहिए। संभव है कि कुछ गणतंत्रों ने अर्मी मंत्रणा गुप्त रखने के विचार से यह प्रथा अपनाई हो, पर उनकी संख्या अधिक न थी क्योंकि विधान शास्त्रियों ने गणतंत्र राज्यों का यह बहुत बड़ा दोष बताया है कि वे अपनी मंत्रणा गुप्त न रख सकते थे।

१ फीट, कॉ. इ. इ., ३. पृ. २४२

२ सभवतः एपि, इ. भा. २७ में यह लेख प्रकाशित होगा।

३ जातक, भाग ४, १४४ (नं ४६४) रॉकहिल-लाइफ आफ बुद्ध, पृ ११८-६

४ मैक्किंडल, असे. इन., पृ. १४४।

१ न गणाः कृत्स्नशो मंत्रं श्रोतुमहैन्ति भारत । गणसुरुवैस्तु संभूय कार्ये गणहितं मिथः ॥ सृभाः, १२. १०७. २४

साधारण तौर पर गणतंत्र राज्यों की सरकार पर केंद्रीय समिति का पूरा नियंत्रण रहता था। अंघकचृष्णि संघ के प्रधान श्री कृष्ण नारद से शिकायत करते हैं कि—में ज्ञाति का (सिमिति का) दास हूँ स्वामी नहीं और मुझे आलोचकों के कटु वचन सुनने और सहने पहते हैं ! अर्थ ज्ञास्त्र (एकाद्य माग) से पता चलता है कि संघ-मुख्य (अध्यत्त्) या शासन परिषद् के सदस्य सावेबनिक घन का दुरूपयोग या नियम का उल्लंघन करने पर राज्य के न्यायाख्य द्वारा दंखित और पदच्युत किये जा सकते थे। यह भी प्रायः निश्चित है कि ऊँचे पदाधिकारियों और प्रादेशिक ज्ञासकों की नियुक्ति भी केंद्रीय समिति द्वारा ही की जाती थी, यद्यपि इस विषय का कोई उदाहरण हमें नहीं मिलता। इसी कारण इस संस्था के सदस्यों में बड़ी लाग-डाँट रहा करती थी।

संयागार (समायह) केवड राजकाज करने का ही स्थल नहीं था; उसमें बीच-बीच में गोष्ठी भी जुड़ती थी जिसमें सामाजिक और वार्मिक विषयों पर चर्चा होती थी। कुशीनार के मल्लों ने अपने संयागार में ही एकत्र होकर मगवान बुद्ध के ऋंत्येष्टि संस्कार के विषय पर विचार किया था। इन्हीं मल्लों और लिन्छवियों ने भगवान बुद्ध से अपने नवनिर्मित संयागारों में उपदेश देकर उसके उद्वाटन करने की प्रार्थना अनेक समय पर की थी।

इस प्रकार के सामाजिक या चार्मिक अवसरों पर संबागार में समा के समय मले ही शांति रहती हो पर महत्वपूर्ण राजनीतिक विषयों के विचार के समय यह शांति न रहती थी। आजकल की म्युनिसपलिटियों और पार्लमेटों की माँति इन सिमितियों में भी दल बदी का बहुत जोर रहता था। यहाँ तक कि बौद्ध ग्रंथों, अर्थ-शास्त्र और महाभारत में गणतंत्रों में आपस का ईर्ष्यादिष श्रौर दलबंदी की प्रवलता ही उनकी सबसे बदी कमजोरी बतलाई गयी है। बुद्ध और नारद जो गयातंत्र व्यवस्था के समर्थक थे इन्हें आपस के झगड़ों से बचने का उपदेश देते हैं और उसका उपाय भी बताते हैं?। कौटिल्य इस व्यवस्था के विरोधी थे अतः उन्होंने बहुत से ऐसे अनुचित उपाय बताये हैं जिनसे गणतंत्रों में फूट डालकर उनका विनाश किया जा सके। ( अर्थ-शास्त्र १३)

१ दास्यमैशवर्यभावेन ज्ञातीनां वै करोब्यहम् । अर्थभोक्तास्म भोगानां वारदुरुक्तानि च चमे ॥ म. मा, १२. ८१. ४

२ बाबकॉग्ज ऑफ बुद्ध, सा. २, पू. ८०; स. सा., १२. ८१

दलबंदी का कारण प्रायः सदस्यों की आपसी ईर्ष्या और अधिकार लोलुपता थी। आजकल की माँति उस प्राचीन काल में भी संघ के सदस्य अधिकार प्राप्ति के लिए गुष्ट बनाया करते थे। दौड़ धूप करनेवाले, गुट बंदी में निपुण और माघणपटु व्यक्ति अधिकार प्राप्ति में सफल सिद्ध होते थे। जब दलें को शक्ति बराबर बराबर रहती थी तो छोटे छोटे गुटों को सरकार को बनाने और विगाइने का अवसर मिल जाता था। कुछ लोग अपनी दुष्टता के कारण ही प्रभावशाली बन जाते थे, पच्च और विपच्च सभी उनसे घनड़ाते थे। अधिक-वृष्णि संघ में अहूक और अकूर इसी प्रकार के महानुमाव थे?। आजकल की माँति उस समय भी अधिकाराइद दल को खिसकाना कठिन काम या3। समिति में दलबंदी तीन होने पर बेचारे संघ-मुख्य की स्थित बहुत नाजुक और दयनीय होता थी। वह स्वार्थ के लिए झगड़नेवाले दानों पच्चों के रोष का लक्ष्य बनता था। परंतु राज्य के हित से प्रेरित होने के कारण वह किसी को तरफदारी न कर सकता और उसकी दशा उस माता की तरह हो खाती यी जिसके दो पुत्र जुआ खेलते समय आपस में झगड़ रहे हों, और किसी की भी विजय उसके हर्ष का कारण नहीं हो सकता हो।

सिमित के संचालन और वादिववाद के नियंत्रण संबंधी कुछ नियम तो अवश्य ही बने होंगे पर किसी राज्यशास्त्र के लेखक ने उनका वर्णन नहीं किया है। यदि हम यह मान लें कि बौद्ध 'संब' के नियम तत्कालोन 'गण' या 'संब' राज्यों के आधार पर बनाये गये हैं तो हम इस विषय की कुछ जानकारी मिल जाती है। बौद्ध संघ की गणपूर्ति (कोरम) के लिए २० सदस्यों की उपस्थित आवश्यक थी, इसी प्रकार का कोई नियम गणतंत्र की समिति में भी अवश्य रहा होगा, खासकर जब विभिन्न दलों में अधिकार प्राप्ति के लिए स्व

अन्ये हि सुमहामागा बलवन्तो दुरासदाः। नित्योत्थानेन संपन्ना नारदान्धकवृष्णयः॥ यस्य न स्युर्नं वै स स्याधस्य स्युः क्रत्स्नमेव तत्॥ म. भा., १२. ८१. ८-६

२ स्थातां यस्याहुकाकूरी किं न दुःस्ततरं ततः । यस्य चापि न तौ स्यातां किंतु दुःस्तरं ततः ॥ स. सा., ११. ८१, १०

३ बञ्जूग्रसेनतो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथंचन । शतिभेदभयात् कृष्ण त्वया चापि विशेषत: ॥ म. मा. १२. ८१, ३७

एक कर्मचारी नियुक्त था. संभवतः गण-प्रमुख मंच पर बैठते थे और शेष सदस्य दलों के अनुसार उनके सामने रहते थे। गणमुख्य अधिवेशन का अध्यक्त होता था और मंत्रणा का नियंत्रण करता था। जरा भी पद्धपात करने पर उसकी कट आलोचना होती थी। पहले प्रस्तावक औपचारिक रूप से प्रस्ताव उपस्थित करता था, तत्पश्चात् उस पर वादविवाद होता था। बौद्ध संघ में यह प्रया थी कि जो लोग प्रस्ताव के पत्त में रहते थे वे जुप रहते थे केवल विरोधी ही असहमति प्रकट करते थे। परंत गणतंत्र की समितिओं में तो कोरों का विवाद बराबर होता रहा होगा । आज कल की भाँति बौद्ध सघ में प्रस्ताव तीन बार उपस्थित और स्वोकृत किया जाता था, गणतंत्रों की समितिओं में शायद यह परिपाटी न बरती जाती थो । जब मतभेद दिखाई देता था तब मत लिये जाते थे और बहमत का निश्चय मान्य होता था। जब शाक्यों को कोशल की सेना द्वारा अपनी राजवानी विर जाने पर कोशल नरेश की आखिरी चेतावनी या अतिमेरथं ( Ultimatum ) मिला तब उनकी समिति यह निश्चय करने के लिए बुलायी गयी कि दुर्ग के फाटक खोड दिये जायँ या नहीं। कुछ लोग इसके पदा में थे कुछ विपद्ध में। अंत में मत संग्रह करने पर मालूम हुआ कि बहमत आत्मसमर्पण की ही ओर है, वैसा ही किया भी गया । यही परिपाटी सर्वत्र प्रचलित रही होगी।

परंतु आदर्श गण राज्य में मत लेने की नौबत न श्राती थी। समिति में मिन्नता का वातावरण एहता था और निर्णय दृद्धों की सलाह ए होते थे, बहुमत के संख्या बल से नहीं। लिच्छिव संघ के स्वर्ण युग में यही अवस्था थीर। अंबच्छो ने भी पहले तो सिकंदर से लहने के लिए सेनापित चुने फिर दृद्धों की सलाह मानकर संधि का निश्चय किया।

सिति की कार्रवाई का व्योरा रखने के लिए लेखक भी अवस्य रहते होगे। एक बार निश्चय हो जाने पर फिर पुनर्विचार कुछ समय तक न

अब इम गग्राराज्यों के मंत्रिमंडल पर विचार करेंगे। राज्य के आकार और परंपरा के अनुसार मंत्रियों की संख्या में अंतर रहता था। मलल राज्य के मंत्रिमंडल में केवल चार सदस्य थे, इन सब ने भगशन बुद्ध की अंत्येष्टि में प्रमुख भाग लिया था। इससे बड़े जिच्छिन राज्य में नौ मंत्री ये यद्यपि इनकी समिति

१ रॉ॰हिङ—बाइफ., पृ. ११६—९ ।

२ दायसाम्ब ऑफ बुद्ध, भा. दो, पृ. ८०।

में ७७०७ सदस्य थे। लिच्छिव-विदेह राज्य-संघ की मंत्रि-परिषद में १८ सदस्य थे। योधेय, मालव और जुद्रक श्रादि बड़े राज्यों के मंत्रिमंडल में कितने मंत्री रहते थे यह हमें माल्म नहीं। सिकंदर से संविवार्ता के लिए जुद्रकों ने १४० मध्य और प्रभावकारी आकृति के प्रतिनिधि मेजे थे। कहा जा सकता है कि वे ही उनके मंत्रिमंडल के सदस्य थे। मगर मंत्रिमंडल कितना हा बड़ा क्यों न हो इसमें १५० तक सदस्य शायद हीं हो सकेंगे।

केंद्रीय समिति ही संभवतः मंत्रिमंड के सदस्य नियुक्त करती थी। मंत्रियों का चुनाव कुछ प्रतिष्ठित कुछों के प्रमुखों से ही होता था या कोई भी इस पद के लिए खड़ा हो सकता था, इसका ठीक पता नहीं। घीरे घीरे मंत्रिपद भी आनुवंशिक हो गया, यद्यपि पिता के स्थान पर काम करने से पहले पुत्र का औपचारिक निर्वाचन होता रहा हो। मालवों की स्वतंत्रता के उद्धारक श्रीसोम का वंश कम से कम तीन पीढ़ियों से गणमुख्य होता आ रहा था। अर्थशास्त्र से जात होता है कि पिता का पद न मिलने पर कुछ मंत्रि-पुत्र अनसर शत्रु से मिलकर राज्य नष्ट करने की भी कुचेष्टा करते थे। लिच्छित और यौधेय श्रादि कुछ मण राज्यों में तो मंत्रिपरिषद के सदस्यों को 'राजा' की उपाधि दी जाती थी। परंतु मालव इस प्रकार की उपाधि देने के विरुद्ध थे, २२५ ई० में उनको स्वतंत्रता का उद्धार करनेवाले महान नेता के लिए भी, विजय की घोषणा में भी ऐसी किसी उपाधि का प्रयोग नहीं किया गया।

गण राज्य श्रपनी समर-श्र्रता के लिए प्रक्यात थे। उनके मंत्रिमंडल के सभासद अवश्य ही संकट से अपने गण के खद्धार की शक्ति रखने वाले भीर कर सेनानी रहे होंगे। गण नेता के लिए प्रज्ञा, पौरुष, उत्साह, अनुभव, शास्त्र और गणपरंपरा का ज्ञान आदि गुणों की श्रस्यंत श्रावक्यकता थीर।

गणाध्यद्व हो मंत्रिमंडल का प्रधान और सिमिति का अध्यद्व हुआ करता था। शासन कार्य की देखरेख के साथ ही उसका मुख्य कार्य गण की एकता बनाये रखना और झगड़े तथा फूट का निवारण करना था जो बहुषा गगराज्यों

संभवतः एपि. इ. २७ में यह लेख प्रकाशित हो जायगा।

२ प्राज्ञाज् श्रूरान्महोत्साहान्कर्मसु स्थिरपौरुषान् । मानयन्तः सदा युक्तान्विवर्धन्ते गणा नृप ॥ द्रव्यवन्तश्र श्रूराश्र शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः । कृष्णस्वापतसु संमूहान्गणानसन्तारयन्ति ते ॥ म. मा., १२. १०७. २०-२१

के नाश के कारण होते थे। एक मंत्री के जिम्मे परराष्ट्र विभाग रहता था को गुसचरों के विवरण सुनता था और अपने तथा दूसरे राज्यों के छिद्रादि पर आँख रखता था । कोष विभाग एक अन्य मंत्री के हाअमें रहता था उसे राज्य के घन को बाजार में लगाने और राज्य का ऋण वस्त्र करने का अधिकार था । तीसरा विभाग न्याय का था, इसके अध्यक्ष का काम संभवतः मातहत न्याया- ह्यों के विचारों की अपील सुनकर व्यवहार और धर्म के नियमानुसार अंतिम निर्णय करना था । अर्थशास्त्र ने गणतंत्र का नाश चाहनेवाले राजा को सलाह दी है कि युवती विघवाओं को फरियाद लेकर इस विभाग के अध्यक्ष के पास मेजना चाहिये और उसे पथन्नष्ट कराकर गण शासन की बदनामी करानी चाहिये। अन्य विभागों में दंड ( पुलिस ), कर, व्यापार और उद्योग भी थे। कुछ गणतंत्र व्यापार में भी उतने हो उन्नत थे जितने वे युद्ध में विख्यात् थे ।

आधुनिक काल के मंत्रिमंडलों की भांति प्राचीन मंत्रिमंडल के भिन्न भिन्न सदस्यों के पदों और अधिकारों में संभवतः कुछ अंतर था। "

अत्येक विभाग के अध्यक्ष के अधीन विभिन्न श्रेणी के अधिकारी काम करते थे। शाक्य कोळिय आदि छोटे-छाटे राज्यों के मातहत अधिकारी सीधे विभागाध्यक्ष से संबंध रखते थे, बड़े राज्यों में बीच की कई श्रेणियाँ होतो थीं।

यौधेय और त्तुद्रक आदि विशाल गणराज्यों में बहुसंख्यक नगरों की श्रपनी स्वायत्त परिषदें होता थीं। इनमें शासक उच्च श्रेणी के अतिरिक्त बन-साबारण श्रेणों के विविच बगों का भी प्रतिनिधित्व रहता था, जैसा नृप-तंत्र द्वारा शासित नगरों में होता था । इन परिषदों के निर्वोचन और कार्य-प्रणाली का हमें श्रान नहीं है इसलिए अभी यह जानना संभव नहीं है कि इन परिषदों पर

चारमंत्रविधानेषु कोषसंनियमेषु च।
 नित्ययुक्ता महावाहो वर्धन्ते सर्वतो गणाः ॥ म. भा. १२. १०७-१९

२ धन बागाने के विवरण के बिए अर्थ शास्त्र अ. 1२ देखिये।

३ धर्मिष्ठान्व्यवहारांख्य स्थापयन्तश्च शास्त्रतः । यथावस्त्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गयोत्तमाः ॥ वही, १७

४ वार्ताशस्त्रोपजोविनः । अर्थशास्त्र, अ. ११

प्रइससे शत्रुको अन्सर गर्यातंत्रों में फूट डाउने का भवसर मिक जाता था। अर्थशास्त्र ११

६ गुप्तसाम्राज्य की अवस्था के लिए दामोदरपुर ताम्रपत्र देखिये एपि. इ., १५. पृ. १९९

केंद्रीय शक्ति का नियंत्रण कैंसे और किस रूप में रहता था और केंद्रीय समिति में इनके पतिनिधि जाते थे या नहीं।

गणराज्यों के श्रतर्गत ग्रामों में भी पंचायतें अवश्य रही होंगी, उनके अधिकार भी नृप तंत्रान्तर्गत ग्राम पंचायतों से कम न रहे होंगे। यह भी संभव नहीं प्रतीत होता कि इनको सदस्यता देवल उच्च या शासक वर्ग तक ही सीमित रही हो क्योंकि इस वर्ग के लोग अधिकतर राजधानी श्रीर अन्य नगरों में ही रहते होंगे। अन्य राज्यों के समान किसान, ज्यापारी, कारीगर आदि सभी ग्रामीण वर्गों के प्रतिनिधि पंचायत में रहते थे। यह भी अनुमान ही है पर संभवतः वस्तु स्विति भी यही थी।

षमुचित सामग्री का अभाव गणतंत्रों के संबंध में जितना खलता है उतना अन्य कहीं नहीं खलता। उनके विधान और कार्यप्रणाली का जो चित्र हमारे सामने है वह अत्यंत धुंघला और अस्पष्ट हैं। पर जो भी जानकारी मिली है उसने झात होता है कि ये राज्य बड़े ही समृद्ध और सुन्यवस्थित थे। सिकंदरका जैसा प्रवाह प्रतिरोध हन्हों ने किया वैसा तत्कालीन नृपतंत्र राज्य न कर सके। हन राज्यों के नागरिकों में तो उत्कट देशमित और ज्वलंत स्वातंत्र्यप्रेम बा वह नृपतंत्र की प्रजा में दुर्लभ था। इस व्यवस्था में व्यापार और उद्योग की मी बहुत उन्नित हुई थी। पंजाब और सिंधु के गणराज्यों में सुली और समृद्ध नगरों की बहुतायत थी। इनमें विचार-स्वातंत्र्य को प्रश्रय दिया जाता बा अतः यहाँ दार्शनिक चिंतन की भी खूब प्रगति हुई। पूर्वी गणराज्यों की तो यह विशेषता थी। उपनिषद, बौद्ध और जैन दर्शन के विकास में इनके नागरिकों का महत्वपूर्ण माग रहा। सिधुनद की घाटो के दार्शनिकों से भी यूनानी बहुत अमावित हुए थे।

अधिकांश गणतंत्र एक ही जाति के रहते थे। इनका शासकवर्ग समझता का कि उसके सब व्यक्ति एक ही ऐतिहासिक या पौराणिक मूल पृश्व के वंशव हैं। केंद्रीय समिति की सदस्यता का अधिकार प्रायः उन्हीं तक सीमित या।

नगर और ग्राम संस्थाओं में सभी वर्गों और वृत्तियों को उचित प्रति-निधित और स्थान मिलता था। विशेषाधिकारी उच्चवर्ग और शेष जनता में किसी संघर्ष का प्रमाण नहीं मिला है। यह मूलना न चाहिये कि छठवीं सदी तक ग्रंतर्जातीय विवाह की प्रथा थी अतः चित्रयों की अलग और स्वयंपूर्ण जाति न बन सकी थी। सेना में उच्च पद प्राप्त करनेवाले वैश्य था शुद्ध को चित्रय पद से वंचित करना संभव न था। पाणिनि के एक सूत्र से यह ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण का पद चुत्रिय के ही समान था।

गणतंत्रों को स्थापना या विकास में वंशैक्य की भावना का बढ़ा हाथ रहा। जहाँ यह भावना वर्तमान न थी वहाँ गण राज्यों की स्थापना प्रायः न हो सकी। यह भी प्रतीत होता है कि गणराज्यों के अविकार का विस्तार या प्रभाव ऐन प्रदेशों में न हो पाता था जहां उनके वंश के लोग पर्याप्त संख्या में नहीं रहते थे। यह सत्य है कि गणराज्य समान शत्रु से मार्ची लेने के लिए श्रापस में मिल जाते थे परंतु मोर्थ या गुप्त साम्राज्यों की भांति कोई शक्तिशाली और विशाल साम्राज्य वे स्थापित न कर सके। उनकी हांष्ट अपने निवास प्रदेश के परे न जाती थी। अपनी स्वतंत्रता पर संकट आने पर वे प्राण होम करने को तैयार रहते थे पर विदेशी आक्रमण के निवारण के लिए पंजाब, राजपृताना और सिंव के गण राज्यों को मिलाकर एक विशाल उत्तर-पश्चिमी राज्य संघ बताने की कल्पना उनके मन में न आ सकी। कुलामिमान, आपसी झगड़े और अत्यिक स्वातंत्र्य प्रेम के कारण गणतंत्रों में सुहद् केंद्रीय शासन का विकास भी न हो सका क्योंकि इसके लिए विशेषाधिकारी वर्ग और स्थानीय संस्थाओं के बहुत से अधिकार केंद्रीय सरकार को सौंपने पढ़ते हैं।

श्रव हमें इस बात का विचार करना है कि किन कारणों से ४०० ई. के बाद इन गणतंत्रों का अस्तित्व नष्ट हो गया। डा० जायसवाल इनके पतन का कारण ग्रुप्त वंशी नृपों के साम्राज्यवाद को मानते हैं। उनका कथन है कि 'सिकंदर की भाँति समुद्रगुप्त ने देश की स्वातंत्र्यभावना को कुच र डाला, उसने योधेय, मालव तथा उन अन्य गण-राज्यों का नाश किया जिनके उत्संग में स्वतंत्रता का पालन, पोषण और संवर्धन होता था।' परंतु यह कथन ठीक नहीं। मालव, अर्जुनायन, योधेय और मद्र आदि गर्गो ने समुद्रगुप्त की श्राचीनता केवच कुछ कर भर देने तक स्वीकार की थो। ग्रुप्त सम्माट् को कर देते हुए भी उनकी अन्तर्गत स्वतंत्रता सुरच्चित रही उनक प्रदेशों पर गुप्त राजाओं का प्रत्यद्व शासन न था। अतः उनकी गणतंत्रात्मक शासन-व्यवस्था पर ग्रुप्त साम्राज्यवाद का विशेष प्रभाव पड़ना संभव न था। पहले भी मौर्य और कुषाण साम्राज्यों ने उन्हें आत्मसात् कर लिया था, पर इन

१ आयुधनीविसंव ज्ञ्यड्वाही हेषु अब्राह्मणराजन्यात् । पाणिनि, ४-३।११४ यहां ब्राह्मण और चुत्रिय एक साथ रखे गये हैं ।

साम्राज्यों के कमजोर पहते ही गणराज्य पुनः स्वतंत्र हो गये। गुप्त साम्राज्य-बाद ने उनकी अंतर्गंत स्वाचीनता में इस्त दोप न किया या अतः यह समझना मुश्किल है कि वह उनकी प्रजातंत्र ब्यवस्था के लिए कैसे घातक

चिद्ध हुआ।

नंदसा गाँव के यूप पर के लेख से पता चलता है कि तीसरी शताब्दी में ही मालब तण राज्य की सत्ता पैतृक परंपरा गत हो कर ऐसे कुलों के हाथ में ना रही थी जो अपना उद्भव इक्ष्वाकु राजर्षियों से बताते थे। चौथी शताब्दी मे' यौधेय श्रीर सनकानिक गणों के नेता महाराज और महासेनापत जैसी राजसी रुपाधियाँ घारण कर रहे थे। यही दशा लिच्छिन गण राज्य की भी रही होगी क्योंकि 'राजपुत्री' कुमारदेवी लिञ्छवि प्रदेश की उत्तराविकारिणी थी। अस्तु, जब गणर ाज्यों को सत्ता ( भानुवंशिक ) अध्यत्तों के द्वाय में सीमित हो गयी, जो सेनापित रहते थे श्रीर जो राजसी उपाधियाँ मी घारण करते थे, तो गणराज्य और तृप तंत्र में त्रांतर ही क्या रहा ? गणतत्रों के सदस्यों ने इस नयी प्रवृत्ति का विरोध क्यों नहीं किया और गण व्यवस्था कैसे कमजोर होती गयी, इसका ठीक कारण जात नहीं। राजा के देवत्व की भावना के जोर पकड़ने से प्रभावित होकर ही गण राज्यों ने संभवतः अध्यक् पद के आनुवंशिक होने का विरोध नहीं किया। संमव है उन्होंने यह भी सोचा हो कि गणतंत्र की अपेचा नृपतंत्र द्वारा विदेशी आक्रमण से अधिक सुरद्धा हो सकती है।

## अध्याय ७

# केंद्रीय लोकसमा

आधुनिक राज्यों के केंद्रीय शासन में, राज्याध्यत्न, राजा या राष्ट्रपति, उसकी परिषद् या मंत्रिमंडल, तथा सरकार पर नियंत्रण रखने श्रीर विधि नियम या कानून बनाने के लिए पूर्णतः या मुख्यतः लोकमतानुवर्ती प्रतिनिधिसमा या घारासमा का समावेश होता है। इस समा को केंद्रीय लोकसमा कहना उचित होगा। पिछले दो श्रध्यायों में नुपतंत्र और गणतंत्र के अध्यत्वों के संबंध में विचार किया जा चुका है। श्रव हम केंद्रीय लोकसमा के विषय पर विचार करेंगे। क्या प्राचीन भारत में आज कल की पार्लमेंट की मांति कोई केंद्रीय लोकसमा थी? यह किसी विशेष ग्रुग या विशेष प्रकार के राज्य में ही थी या सब काल में श्रीर सब प्रकार के राज्यों में थी? इसके सदस्य किस प्रकार चुने जाते थे? सरकार पर इसका नियंत्रण था या नहीं और यदि था तो किस सीमा तक था? कानून या विधिनियम बनाने का अधिकार समा को ही था या सरकार बिना इसकी स्वीकृति या श्रनुमित के विधि या कानून बना सकती थो। इन्हीं प्रकार पर हमें इस अध्याय में विचार करना है।

पिछले अध्याय में यह दिखाया गया है कि प्राचीन गग्-राज्यों में आधु-निक पार्लेट से मिन्नती जुलती केंद्रीय लोकसभा वर्तमान थी। यह भी बताया जा जुका है कि उनमें किन वर्गों का प्रतिनिधित्व या और शासन पर उनका क्या प्रभाव था। श्रव हमें यह देखना है कि इसी प्रकार की संस्थाएँ नृप-तंत्रात्मक शासन पद्धति में भी होती थीं या नहीं।

वैदिक बाङ्मय के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तःकालीन प्रायः सर्व राज्यों में लोकसमाएँ होती थो जो राजाओं का नियंत्रण करतो थीं। अप्रुप्तेद काळ का औसत राज्य ग्रीस के नगर राज्यों की भाँति विस्तार में कुछ वर्ग मीळ से अधिक न थे। इनको राजधानी इनमें श्रंतर्भृत ग्रामों से कुछ विशेव बड़ी न होती थी। हर ग्राम में जनता की 'सभा' होती थी और राजधानी में संपूर्ण राज्य की केंद्रीय लोकसभा होती थी जिसका नाम 'समिति' था। 'समा' और 'सिमिति' का बैदिक काढ में बड़ा ऊँचा स्थान था। एक सक्त में उन्हें प्रजापित की जुड़वा 'दुहिताएँ' कहा गया है । इससे माल्म होता है कि लोग समझते थे कि ये सनातन ईश्वरिनिर्मित संस्थाएँ है और यह मानते थे कि यदि समाज के आदिकाल से नहीं तो कम से कम राजनीतिक जीवन के प्रादुर्भाव के साथ ही साथ ये भी अस्तित्व में आयों। बैदिक काल के मारत के गाँव गाँव में ये संस्थाएँ विद्यमान थी और होनहार राजनीतिष्ठ या विद्वान की इससे बड़ी कोई आकांचा न यी कि समिति उसकी योग्यता स्वीकार करें । यही नहीं, विवाह के समय यह मनाया जाता था कि नववधू भी अपने वक्तव्व से समिति को वश्व में कर सकें ।

बेदिक बाङ्मय में तीन प्रकार की समाएँ मिलती हैं, 'बदय', 'समा' और 'सिमिति'। इन शब्दों का ठीक अर्थ निश्चित करना किन है। संगव है कि देश काल के अनुसार इनके श्चर्य में वैदिक युग में भी परिवर्तन हुआ हो। आधुनिक विद्वान भी इस विषय में एक मत नहीं हैं। छुडिवग का मत है कि 'समा' में पुरोहित, धनिक आदि उच्चर्य के लोक संमिलित होते थे, श्चीर 'सिमिति' में साधारण लोक रहते थे। झिमर का अनुमान है कि 'सभा' ग्राम संस्था थी और 'स्मिति' पूरे 'जन' की केंद्रीय परिषद थी। हिलेबांड का मत है कि सभा और समिति एक ही थीं, सभा उस स्थान का नाम था जहाँ लोग एकत्र होते थे और 'समिति' एकत्रित समृह को कहते थे।

इन विभिन्न मतों की विवेचना न तो यहाँ संभव है न आवश्यक ही। 'विदय' शब्द 'विद्' घातु से निकला है और इस हा अर्थ संभवतः विद्वानों को समा है। शासनव्यवस्था के संबंध में इसका प्रयोग शायद ही कहीं किया गया हो अतः इसे हम छोड़े देते हैं। हिलेब्रांड का यह मत भी ठीक नहीं कि सभा कोई अलग संस्था नहीं वरन समिति के अधिवेधनस्थल ही का नाम था, क्योंकि ऊपर दिये गये अथवंवेद के उद्धरण में सभा और समिति दो बहने अर्थात् दो अलग संस्थाएँ कही गयी हैं। एक अन्य स्थल में वर्णन है कि बात्य का अनुसरण सभा समिति और सेना के सदस्यों ने किस प्रकार किया है।

१ सभा च मां समितिश्रावतां प्रजापतेर्दुहितरी संविदाने । अ. वे., ७. १२. १

२ ये जामा यद्रण्यं याः सभा श्रधि भूम्याम् । ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदाम्यहम् ॥ श्र. वे., १२. १. ५६

३ विश्वानी स्वं विद्धमावदासि । ऋ. वे., १०. ८५. २६

८ तं च सभा च समितिश्चानुन्यचरन्। झ. वे., १५. ६

इससे स्पष्ट है कि 'सभा' 'समिति' के अधिवेशन का स्थान नहीं बरन अलग संस्था थी। एक पुराने वैदिक मंत्र में वर्णन है कि 'सभा' में बहुषा गड्यों की ही चर्चा होती थी और उनके दूध के पौष्टिक गुण का बखान किया बाता था?।

एक अन्य स्थल पर वर्णन है कि जुआरी लोकसमा में एकत्र होकर किसी प्रकार जुए में सब कुछ लो बैठने पर बाद में अपनी स्त्री और अपने को भी लगा देते थे । ब्राह्मण ग्रंथों में भी 'समा' और जुए के इस संयोग का वर्णन है । इससे प्रकट होता है कि 'समा' मुख्यतः गाँव की सामाजिक ग्रोष्टी ही थी परंतु आवश्यकता पड़ने पर प्राम व्यवस्था से संबंध रखने वाले छोटे मोटे मामलें पर भी इसी में विचार कर लिया जाता था। आपसो झगड़े निपटाना और गाँव की रह्मा का प्रबंध करना ही मुख्य विषय थे, पुरुषमेध यज्ञ के वर्णन से पता चलता है कि सभा और सभाचरों का न्याय दान से धनिष्ठ संबंध था।

संभव है कि कुछ राज्यों या प्रदेशों में 'समा' का संबंध राजा से या श्रीर वह सामाजिक गोष्टी नहीं वरन राजनीतिक संस्था रही हो। अथर्वद के एक मंत्र में यम के समास्दों को राजसी पद दिया गया है और उन्हें यम को प्राप्त होनेवाले यज्ञ-भाग के १६ वें हिस्से का अधिकारी बताया गया है। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि मत्यलोक के समास्दों का पद भी स्वर्गलोक के समास्दों की भाँति राजसी श्रेणी का या और वे भी राजा को कर और ग्रुल्क से होनेवाली आय में कुछ हिस्सा बटाने के हकदार थे। मगर यह संभव है कि उपरि निर्दिष्ट स्थलों में 'सभा' से यम या इस लोक के राजा के अमार्य मंडल का सकत रहा हो न किसी लोकसभा का। एक स्थल पर सभासद के प्रचुर घन (गोधन) का उल्लेख और उसके खूब टाट-बाट से बढ़िया बोड़ों के रथ पर सवार होकर सभा में जाने का वर्णन किया गया है।

१ युयं गावो मेदयथा कृशं चिद् । ऋ. वे., ७. २८, ६.

२ सभामेति कितवा पृच्छमानः जेष्यामीति तन्वा शोश्चचानः ।

ऋ, वे., ा•. ३८. ६

३ तैत्ति. ब्रा., १. १. १०. ६; शत. ब्रा., ५. ३. १. १०।

४ यदाजानो विभजनत इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी समासदः ॥

त्रह. वे. १. **२**९. १.

प अक्वी स्थो सुरूप इद्गोमाँ इन्द्र ते सखा । ऋ. वे., ८ ४, ६

उससे भी यह स्वित होता है कि वह बड़ा अधिकारी होता था। फिर भी अधिकतर प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि 'सभा' प्रायः प्राम संस्था थी और उसमें सामाजिक और राजनीतिक दोनों निषयों पर विचार किया जाता था।

ऋग्वेद के श्रितम मंत्र में 'स्पिति' का उल्लेख सामाजिक या विद्वद्मंडली के रूप में किया गया जान पड़ता है । परंतु एक और पहले के मंत्र में वर्णन है कि राजसका को हस्तगत करने की (क्ला से एक नेता ने समिति को भी अपने वदा में करने की योजना बनायो थी । ऋग्वेद में एक स्थल पर आदर्श राजा के अपनो 'सिमित' में जाने का उल्लेख किया गया है। अथवें वेद में एक पदच्युत राजा ने पुनः सिंहासनारूढ़ होने पर सबसे बड़ी आकां ज्ञा यही प्रकट की कि मेरी सिमिति सदा मेरी ओर रहे । इसी प्रकार ब्राह्मण का बन अपहरण करनेवाले राजा को स्वसे बड़ा शाप यही दिया जाता था कि 'तुम्हारी सिमिति तुम्हारा साथ न दे' ।

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रकट होता है कि एक दो स्थानों पर 'सिमिति' का समाजिक गोष्ठो के रूप में उल्लेख होने पर भी वह वास्तव में राजनीतिक संस्था थी और उसका रूप केंद्रीय शासन की व्यवस्थापिका सभा का सा था। यह संस्था अर्थेत प्रभावशाली थी, बहुचा इसी के समर्थन पर राजा का भविष्य निर्भर रहता था। 'सिमिति' के विरुद्ध हो जाने पर राजा की स्थिति अत्यंत संकट पूर्ण हो जाती थी। खोये हुए राज्य को फिर से प्राप्त करने वाल राजा की स्थिति तब तक सुदृद्ध न मानी जाती थी जब तक सिमिति उसने सहयोग करने पर तैयार न हो जाय। यह स्पष्ट है कि राज्य के केंद्राय शासन और सेना पर 'सिमिति' का बहुत अधिक प्रभाव था, पर व्यवहार में इसका उपयोग कैसे होता था और राजा के अधिकारों से इसका समंजस्य किस प्रकार किया जाता था इसका हमें ज्ञान नहीं।

सगच्छथ्वं संदृथ्वं सं वो मनांति ज्ञानताम् ।
 समानं मंत्रः समितिः सम नी समानं मनः सह चित्तमेशाम् ॥

<sup>90. 999.</sup> २-३

२ आ विश्वतं आ वो त्रतं आ वोऽहं समिति दुरे । १०. १६६, ४

३ ध्रुवाय ते सिमतिः कल्पतामिह । अ. वे., ६. ८८- ३

<sup>8</sup> नास्मैः समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् । अ. वे., प. १६. १५

सिमित के संघटन के विषय में भी हम कुछ नहीं जानते। सिमिति सरकारी संस्था यी या गैर सरकारी? यदि गैर सरकारी तो निर्वाचित यो या नहीं १ विविचित तो निर्वाचिक एक विशेष वर्ग था या साधारण जनता? निर्वाचिन समस्त जीवन भर के लिए था या कुछ वर्षों के लिए १ इन सब प्रश्नों का समुचित उत्तर देने के लिए हमारे पास कुछ भी साधन नहीं हैं। चूँकि गणतंत्रों की समितियाँ उच्चर्ग की संस्थाएँ थीं, अतः संभव है कि राजनंत्र की समित भी उसी प्रकार की रही हो। वैदिक काल के राज्य ग्रीस के नगर राज्यों की भाँति छोटे-छोटे होते थे अतः संभव है कि समाज में प्रमुख स्थान रखनेवाले योद्धा या प्रतिष्ठित परिवारों के गृहपति ही समिति के सदस्य रहे हों। उस युग में पुरोहित का कार्य युद्ध च्लेत्र में भी महस्व रखता था अतः समिति में उनके प्रतिनिध रूप में श्रीर कोई नहीं तो राजा के पुरोहित तो अवश्य ही रहे होंगे।

'सिमिति' के सदस्य समाज के प्रतिष्ठित और घनी व्यक्ति होते थे और शासन पर उनका बढ़ा प्रमाव रहता था, 'समा' के सदस्यों की भाँति वे भी पूरे ठाठ से 'सिमिति' के अधिवेशन में उपस्थित होने जाते रहे होंगे।

संमति में गहरा वादिववाद होता था, राजनीति में नाम करने के इच्छुक नये सदस्य अपनी भाषणकला से समिति को प्रमावित करने के लिए उरमुक रहते थे । समिति में सफलता उसी को मिस्ती थो जो अपनी बाक्चातुरी और तक बल से सदस्यों को अपनी ओर कर ले। कभी कभी दलबंदी की तीवता होने पर गरमा-गरम बहस हो जातो थी और हाथा-पाई की भी नौबत आ जाती रही होगी। इसी से ऋग्वेद में यह प्रार्थना की गयी है कि समिति की कारवाई सौहाद पूण हो, सदस्यां में मेल जोल रहे और उसके निर्णय एक मत से हों ।

यह खेद और आश्चर्य की बात है कि जो 'सिमिति' ऋग्वेद और अवर्ष वेद के युग में इतनी अमुख और प्रभावशाली संस्था रही हो, वह संहिता और ब्राह्मण के युग आते आते छत सी हो जाय। 'सभा' का नाम तो शेष था पर स्वरूप एकदम बदल गया था। ग्राम संस्था के बजाय अब वह राज की परामर्श्यायी परिषद या राज-सभा बन गयी थी और अनेक शताब्दियों तक उसका यही अर्थ था। इसकी बैठक बार्बार हुआ करती थी और इसका अपना

९ ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदाम्यहम् । अ. वे., १२. १. ५६ 🐃

र देखिये पृ. ९४ नोट १।

सभापित होता था । इसके सदस्यों (सभासदों ) का पद पुरोहित या उच्च राज्याधिकारी के बराबर होता था । इसमें करद सामंत भी उपस्थित रहते थे । इससे पता चलता है कि यह धीरे धीरे लोकप्रिय संस्था से राजदरबार में परिवर्तित हो गयी थी । केंद्रीय लोकसभा के रूप में इसका इतिहास यहीं समार्त होता है।

उपनिषद काल में सिमिति पुनः प्रकट होती है अपनी शिचा समाप्त करने के बाद श्वेतकेतु पाँचालों की सिमिति में जाते हैं। राजा भी इस सिमिति में उपस्थित थे और उन्होंने श्वेतकेतु की विद्या के परीचार्थ उनसे कुछ प्रश्न भी किये थे। इससे जात होता है कि उपनिषद काल में सिमिति पंडित सभा जैसी संस्था थी जिसके सभापित कभी कभी राजा भी होते थे खासकर किसी नये स्नातक की परीचा आदि के अवसर पर, जैसे ब्राजकल विश्वविद्यालय के उपाविवितरण समारोह के सभापित गवर्नर हुआ करते हैं। यह तो निश्चित है कि धर्म-सूत्रों के समय से पहले ही (इ० पू० १००) 'सिमिति' और 'सभा' राजनीतिक संस्था का रूप सो चुकी थीं, क्योंकि सूत्रों में राजा या शासन के कार्यों के वर्णन के प्रसंग में इन संस्थाओं का कभी नाम भी नहीं लिया गया है। 'स्नामात' के तो नाम से भी वे परिचित्त न थे। 'सभासद' शब्द का उल्लेख अवश्य हुआ है वर उससे न्यायसमा या राजसभा के सदस्य निर्दिष्ट होते थे न कि लोकसभा या व्यवस्थांपक सभा के।

परंद्र गणराज्यों में केंद्रीय लाकसमाए बराबर काम करती रहीं यह हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। नृपतंत्र में वे क्यों बिछत हो गथीं यह बताना किन है। एक कारण यह हो सकता है कि गणराज्य बहुत बाद के समय तक भी विस्तार में बड़े न थें, जब कि ब्राह्मण काल (१५००-१००० ई० पू) में ही राजशासित राज्य बहुत विस्तृत हो गये थे। विस्तृत राज्यों में जहाँ प्राम दूर-दूर पर बसे होते थे, 'सिमिति' जैसी केंद्रोय लोकसमा का मिलना और काम करना किन हो जाता था। प्रतिनिधि व्यवस्था उस समय न निकली थी इसलए सिमित का काम करना छोटे-छोटे राज्यों में ही उसन वा सुकर था जहाँ जनता राजधानी से अधिक दूर न रहती थी। अस्तु, बड़े राज्यों में एक भीर सदस्यों के एकत्र होने और काम करने में किनाई थी, दूसरी ओर राजा

१ वा. सं., १६. २४

२ थे. मा-, ८, २१

रे श. हा., ३. १. ४. १४

सारी सत्ता अपनी मुद्दी में ही कर छेने का अवसर दूँढा करते थे। अतः 'समा' और 'सिमिति' का इन परिस्थितियों में भीरे भीरे समाप्त हो जाना स्वामाविक ही था।

# पौर-जानपद सभा

श्री काशी प्रसाद जायसवाल का मत है कि वैदिक काल की 'समा-सिमिति' एकदम विनष्ट नहीं हुई, बल्कि उनका स्थान 'पौर-जानपद' ने ले लिया, जिनका उल्लेख बाद के साहित्य और उत्कीण लेखादि में कभी-कभी मिलता है। श्री जायसवाल ने बड़े विस्तार से इस मत का प्रतिपादन किया है। आप कहते हैं कि साधारणतः पौर-जानपद का अर्थ किसी राज्य के प्राम और नगर की जनता है पर जब इसका उल्लेख नपुंसक एक वचन में 'पौर जानपद' के रूप में हो तब इसका अर्थ राजधानी और देश के नागरिकों को 'प्रतिनिधि सस्था' होता है। रामायण में इस संस्था का उल्लेख है और दूसरी शताब्दी ई० पू० में खारवेल के राज्य में यह काम कर रही थी। मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों में जानपदों के कानूनों के वर्णन से भी इसका अस्तित्व खिद्ध होता है; इनके अध्यक्तों का भी उल्लेख स्मृतियों में पाया जाता है। इस संस्था की प्रतिष्ठा इतनी अधिक थी कि इसके विरुद्ध आचरण करनेवाले व्यक्ति की सरकार द्वारा किसी भी प्रकार की सुविधा देने का निषेध किया गया है?।

डा० जायस्वाल ने अपने मत का प्रतिपादन बड़ी विद्वत्ता और चतुरता से किया है। पर उन्होंने जो प्रमाण दिये हैं तथा इस विषय में जो अन्य समग्री उपलब्ध है उन सबकी निष्ण इष्टि से समीचा करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ६०० ई. पू० से ६०० ई. तक के काल में 'पौर-जानपद' नामक कोई कोक-समा प्राचीन भारत में न यो। रामायगा (कांड दो, सर्ग १४. १४) में उिल्लिखत 'पौर जानपद' शब्द (एक वचन में याने 'पौरजानपदश्च' के स्वरूप में) मानने और तब उसका अर्थ 'नागरिकों की एक संत्था' करने के पच्च में व्याकरण के जो प्रमाण दिये खाते हैं, वे पुष्ट और मान्य नहीं हैं? । रामायग में

१ हिन्दू पांखिटी, भाग दो, अध्याय २७-२८।

२ विवादमूत इज्ञोक यह है:— ड'पतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम् । पौरजानपदश्चाचि नैगमश्च कृतांजिक्टः ॥ कृ. पृ. उ.

अधिकतर यह शब्द बहुवचन में (पीर-जानपदाः) ही प्रयुक्त हुआ है और इसका अर्थ कोई होकसमा नहीं वरन जनसाधारण ही है। उदाहरणार्थ रामायण (कांड दो. सर्ग १४ रहोक सं ५४) में 'पीर-जानपद' से प्रमुख व्यक्तियों की ओर ही संकेत है। अन्यत्र (२, १११. १६ में ) मरत जिस पौर-जानपद का उल्लेख करते हैं उसका तात्पर्य उन इजारों लोगों से है जो श्री राम को लौटाने के लिए भरत के साथ गये थे? । यदि यह मान भी लिया बाय कि पीर-जानपढ़ का अर्थ बनता की होकसभा से है तो भी यह स्पष्ट है कि इमे कुछ विशेष अधिकार न थे। न तो यह श्रीराम के वन गमन के दशरथ के आदेश का निषेध कर सकी न श्रीराम को अयोध्या लौटने को राजी कर सकी। यह भी ध्यान देने योग्य है कि रामचन्द्र से आखिरी बार ऋयोध्या लौटने का अनुरोध करते हुए मरत अपनी और अमात्यों की प्रार्थना का तो उल्लेख करते हैं, पर पौर-जानपद या लोकसभा का नाम भी नहीं खेते 3। राम भी भरत को बिदा करते समय उन्हें मित्रों, अमात्यों और मंत्रियों की सलाह से राजकाज चलाने का उपदेश देते हैं। यहाँ भी पौर-जानपद का नाम नहीं है । यदि पौर-जानपद वास्तव में जनता की प्रतिनिधि संस्था थी, तो यह उपेचा और भी आश्चर्यजनक हो जाती है।

जायसवालजी का यह दावा है कि चूंकि 'डपतिष्ठति' कियापद एकवचन
में है इसलिए उसका हरेक कर्ता एकवचन होना चाहिए; ऐसा होने से
रक्षोक में का 'पौरजानपदः' पद एकवचन मानना पहेगा और उसका
अर्थ 'पौरजानपद' सभा होगा। मगर व्याकरण शास्त्र में ऐसा कोई नियम
नहीं है। प्रत्युत वह कहता है कि कर्ताओं में से कुछ एकवचन कुछ
दिवचन कुछ बहुवचन हो सकते हैं, ऐसी अवस्था में कियापद बहुवचन
होना चाहिये।

<sup>(</sup>पू. ६७ से भागे)

१ पौरजानपद्धेष्ठा नैगमाश्च गर्णैः सह । २. १४, ५४

२ डवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमायमनुज्ञासय ॥ २. १४. ४०

३ पुमिश्र सिवदेः सार्घ शिग्सा याचितो मया। भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमहसि॥२.१०४.१६

४ अमार्थेश्च सुहिन्नस्य बुद्धमिन्नस्य मंिकाः। सर्वकार्याण संमध्य सुमहान्त्यपि कारय॥

लाखेळ के हाथी गुंफा हेख में भी किसी केंद्रीय लोकसभा का उल्लेख नहीं है। ढेख की ७ वीं पिक्त में कहा गया है कि खारवेल ने पौर-जानपद पर लाखों 'अनुग्रह' किये । जायसवाल 'अनुग्रह' का अर्थ वेधानिक ग्रधिकार मानते हैं. जो पौरसमा और जानपद समा को दिये गये। पर वैधानिक अधिकारों की संख्या कभी छाखों नहीं हो सकती अत: अनुप्रह का अर्थ यहाँ विविध सुविधाएँ ही समझना चाहिये जो नगर और देहातों की जनता के लिए दी गयी और जिनका मूल्य लाखों रुपये तक था। राज्य की ओर से सडक कर. रुग्गालय और विश्राम गृह श्रादि बनवाना और लगान आदि में छट देना प्रजा पर लाखों रुपयों के बराबर 'अनुप्रह' करना कहा जा सकता है। हाथीगुफा लेख के सूदम विवेचन से भी स्पष्ट हो जाता है कि खारवेल की नीति या शासन पर किसी लोकसमा का कुछ भी नियंत्रण न था। लेख में उसके भारत के विभिन्न भागों पर अभियान और विजय का बर्णन है, परत यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि पौर-जानपद से कभी इनके किए परामर्श या सहमति ली गयी थी। यदि पौर-जानपद की कोई वैधानिक सत्ता थी भी ता उसे संधि विग्रह के समान महत्व के मामळे में बोलने का हक न था।

स्मृतियों में जानपद-धर्मों के उल्लेख से केंद्रीय व्यवस्थापिका या लोक-समा के रूप में जानपद का अतिरव सिद्ध नहीं होता। मनु द्वारा ( ऋष्टम अध्याय ४३ ) उल्लिखत 'जानपद धर्म' का अथं देश घर्में अर्थात् देश प्रयाप् या लोकाचार है, केंद्रीय व्यवस्थापक सस्था द्वारा बनाये गये विधि नियम या कानून नहीं। इस श्लोक की अथम अध्याय के ११८ वें श्लोक से तुलना करने

१ अनुग्रहानेकानि सतसहसानि विसजति पौरं जानपदम् । ए. ई., २०. ७६

२ दोनों श्लोक धर्म के आधार का वर्णन करते हैं और दोनों की तुक्रना से ज्ञात होता कि ८. ४१ का 'जानपद धर्म' १.११ म का 'देशधर्म' ही है। देशधर्म और जानपद धर्म में कुछ भी फरख नहीं था। देखिये: —

बातिज्ञानपदान्धर्माश्रेणीघर्माश्र धर्मवित् । समोच्य कुरुधर्मा श्व स्वधर्म प्रतिपावयेत् ॥ ८. ४१ देशवर्मान् जातिधर्मान् श्रेगोधर्माश्र शादवतान् ।

देशधमाञ् जातधमाञ् श्रणाधमाश्र शाववतान् । पाषण्डगणधर्मादच शास्त्रेस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥ १. ११४ कृ. ए. उ.

पर स्पष्ट हो जायगा कि जानपदधर्म और देशधर्म एक ही हैं। कारयायन की परिभाषा के अनुसार 'देशधर्म' किसी देश में प्रवृत्त वह सार्वलोकिक श्राचार है जो श्रुति और स्मृतियों के प्रतिकृत न हो । कोटित्य के अर्थशास्त्र में भी विभिन्न प्रदेशों के आचार को ही देशधर्म कहा गया है । देश के विभिन्न भागों में दायभाग, विवाह, खान-पान और वृत्ति संबंधी नियम अलग अलग होते थे। कहीं विधवा दायभाग की हकदार थी तो कहीं नहीं। दिल्ल में मामा की ब्रद्धकों के साथ विवाह होता था पर उत्तर में नहीं। उत्तर में मिद्रा-पान पर रोक नहीं थी, दिल्ल में थी। इसीलिए मनु तथा अन्य स्मृतिकार सलाह देते हैं कि न्याय करते समय उस देश के 'जानपदधर्म' श्रोर 'देशधर्म' का ध्यान रखना चाहिये। परंतु यह धर्म प्रचलित आचार ही था, 'जानपद' कैसी व्यवस्थापक सभा द्वारा बनाये विधि-नियम या कान्यन नहीं।

मनु एक स्थल पर 'ग्राम' और देश के 'समयों' का उल्लंबन करनेवाले व्यक्तियों के लिए दंड का निर्देश करते हैं। जायसवाल इन 'समयों' का अर्थ ग्राम और देश की व्यवस्थापक समाओं द्वारा बनाये गये विधि नियम या कानून समझते हैं, पर यह घारणा भी ठीक नहीं हैं। मनु श्रध्याय ८, श्लोक १६ में स्पष्ट कहते हैं कि 'समय' या संविद् राज्य के विधिनयम या कानून नहीं थे, किंद्र ग्राम और देश के अधिकारियों की राजी से किये समझौते मात्र थे । यदि लोभवश कोई आदमी इनका उल्लंधन करे तो उस पर ज़र्माना

और भी वचन देखिये (पृ. ६६ से भागे) देशज।तिकुळधर्मा भाग्नायैरविरुद्धाः प्रमायाम्॥ गौतम घ. स्. ३१. २० पचघा विप्रतिपत्तिः दिव्यातस्तथ।त्तरतः। तज्ञतत्र देशप्रामाययमेव स्यात्। बौ. घ. स्., १. १० १७ – १८

यस्य देशस्य यो धर्मः प्रवृत्तः सार्वकौकिकः।
 श्रुतिस्मृत्यनुरोधेन देशदृष्टः स उच्यते॥

२ देशस्य जात्या संघस्य धर्मो प्रामस्य वावि यः । 
ृ

उचितस्तस्य तेनैव दायधर्म प्रकश्पयेत् ॥ अर्थशास्त्र, ३. ७

श्रत उद्धं प्रवक्ष्यामि धर्म समयभेदिनाम्
 यो प्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।
 विसंवदेश्वरो कोभार्च राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥
 निगृद्ध दापयेष्वैनं समयव्यभिचारिणम् ।
 चतुः सुवर्णान् षण् निष्कान् शतमानं च राजतम् ॥ मतु, ८. १८-२०

किया जाता था। अर्थशास्त्र भाग ३ श्रध्याय १० में जहाँ ग्राम, देश, जाति या कुदुंब के 'समयों' के उल्लंघन पर विचार किया गया है, कौटिल्य ने इन 'समयों' का उदाहरण देकर सारी बात और भी स्पष्ट कर दी है। कौटिल्य कहते हैं, यदि खेत मजदूर ग्राम के लिए होनेवाले किसी कार्य में काम करने का इकरार करके पीछे उसने इनकार करे, या कोई व्यक्ति किसो तमारो के लिए चंदा न दे और चोरी से उसे देखे, या कोई ग्रामवासी मान के मुखिया के आम के हितार्थ दिये गये किसी आदेश को न पूरा करे तो ऐसी बातों में 'प्राम समय' का उल्लंघन हो जायगा और दोषी दंड का भागो जरूर होगा। श्रंत मे यह भी कहा गया है कि 'देश समय' का उल्लंबन भी इसी प्रकार समझना चाहिये । इसते स्पष्ट है कि 'देश समय' केंद्रोय व्यवस्थापक समा की व्यवस्था नहीं वरन देश या प्रांत के प्रधान श्रधिकारी 'देशाध्यव्य' से किये गये समझौते ही होते थे। बायसवाल की यह धारणा ( पू० १७ ) ठीक नहीं है कि 'देशाध्यदा' या 'देशां बप' देश की व्यवस्थापक सभा के 'अध्यदा' को कहते थे। विष्ण-स्मृति और शुक्र-नीति के नोचे लिखे रुद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि जिलें का प्रधान अधिकारी हो 'देशाध्यत्त' या 'देशाधिप' कहा जाता थार । इसका अविक वितरण आगे दसवें अध्याय में मिलेगा।

जायस्वाल के इस मत का भी स्मृतियों से कोई समर्थन नहीं होता कि पौरजानपद के विरोधी की न्यायालयों में कोई सुनवाई नहीं होती थी। नोचे टिप्पणी में उद्धृत वीरिमित्रोदय के बचन को जायसवाल ख्राधार मानते हैं, मगर वह केवल यही कहता है कि यदि वादी का दावा नगर या देश में सर्वसंमत पुरातनी व्यवस्था के विरुद्ध हो तो उसे न्यायालय स्वोकार न करें ।

कर्षकस्य प्राममञ्जुपेत्पाकुर्वतो प्राम प्वात्ययं हरेत् । प्रेचायामनंशदः सस्वजनो न प्रेक्षेत । प्रच्छक्षश्रवणेत्यो च सर्वहिते च कर्मणि निप्रहेख द्विगुणमंशं द्यात् । सर्वहितमेकस्य ब्रुवतः कुर्युराज्ञाम् । श्रकरणे द्वादशपणो दंदः । तेन देशजोतिकुरुसंघानां समयस्यानपाकमे व्याख्यातम् । अर्थशास्त्र मार्ग ३ प्रस्याय १० ।

२ तत्र स्वस्वद्रामाधिपान् कुर्यात् । दशाध्यत्तान् । दाताध्यत्तान् देशाध्यत्तात्र । विष्णु ३. ७-१० ॥ चतुरिक्षयवा देशाधिपान् सदा कुर्यात् नृपः । शुक्र १. १४७ ।

३ वीरिमित्रोदय का अरुकेल यह है —यत्र नगरे राष्ट्रे च या व्यवस्या पुरातनी तिद्वरोद्यापादको व्यवहारी नादेवः पौर जानपद्योभाषादकःवात्। याज-क्र. प. उ.

इस स्थल में न्याय के एक पुष्ट सिद्धांत का प्रतिपादन है, पर इससे यह अर्थ कभी नहीं निकलता कि 'पौर-जानपद' का विरोधी न्यायालयों से कोई सहायता न पा सकता था।

पौरसमा का भूतपूर्व सदस्य शूद्ध होने पर भी ब्राह्मण का समानाई है, यह घारणा भी मृल उल्लेख का ठीक अर्थ न समझने से ही हुई है। मृल में एक नगर के रहनेवाओं के परस्पर शिष्टाचार का वर्णन है। गौतन का कथन है कि अपने से कम उम्र के ऋत्विक और माना आदि का भी उठकर अभिषादन करना चाहिये, ८० वर्ष का अवस्था से ऊपर शूद्ध का भी इसी भाँति सम्मान करना चाहिये। पौर यहाँ 'नगर निवासी' का बोबक है नगर लोक-सभा के सदस्य का नहीं ।

अब हम तथोक 'पौर-जानपद' संस्था के वंशनिक अधिकारों के विषय में जायसवाल जी के मत की समीचा करेंगे। रामायग में राम के यौवराज्यामिषेक के प्रस्ता में पौरों को भी जो उल्लेख आ गया है उसी के आधार पर जायसवाल जी का यह निष्कर्ष है कि इस संस्था को युवराज जुनने का अधिकार था। परंदु रामायण में स्पष्ट कहा गया है कि राजा ने केवल अपने सचिवों से राय करके श्री राम को युवराज नियुक्त करने का निश्चय किया । जिस श्लोक के बल पर कहा जाता है कि पौरों से भी राय ली गयी, उसमें 'आमन्त्र' शब्द का अर्थ ही गलत समझा गया है। 'आमन्त्र' का अर्थ 'शाय देना' नहीं बिक 'बिदा करना' है। अस्तु, विवादमूत क्लोक'

(पृ. १०१ से आगे)

वस्त्रय स्मृति के अध्याय दो, रलोक ६ पर टीका करते हुए अपरार्क 'पौरराष्ट्रविरुद्ध' का अर्थ स्पष्ट 'पौरराष्ट्राचारविरुद्धः' बतलाते हैं।

- अमृत्विक्रवशुरिविक्रमातुष्ठानां तु यवीयसां प्रत्युत्थानमभिवादनाद्याः । यथाऽ
   न्यपूर्वः पौरः अशीतिकावरः ग्रुद्धोऽपत्यसमेन । गौ. घ, सू. ६, ६-१० ।
- १ देखिये वी. मि. सं. पू. ४६६, मनु के श्रध्याय दो के १३४ के दशान्दाक्यं पीरसक्यं पंचान्दाक्यं कलामृताम् की न्याख्या इस प्रकार स्पष्ट की गयी है एकपुरवासिनां अधिकतरविद्यादिगुणरहितानां दशाब्दपर्यन्तं ज्येब्ठे सस्यिप सखेत्येवमिनस्यायते न तु अभिवाद्यः । पुरग्रहणं प्रदर्शनार्थं तेन एकप्रामवासेपि एवं मवति ।
- ३ निश्चित्य सचिवैः सार्धं युवराजममन्यत । २ १ ४१
- ४ ते चावि पौरा नृपतेर्वचस्तच्छुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु । नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा देवानसमानर्जु स्तिपहण्याः ॥ २.८.३४

का सही ऋर्थ है कि राजा से बिदा लेकर राय देकर नहीं, पौर-गण अपने घर गये। रामायण से थोड़ा भी परिचय रखनेवाले व्यक्ति जानते हैं कि श्री राम के भविष्य का निपटारा जनता की राय से नहीं, किंतु अंतः-पुर के षडयंत्रों से हुआ।

इसी प्रकर मुच्छकटिक नाटक के दशम श्रंक के एक स्थल का कुछ और ही अर्थ लगा जाने के कारण यह मत प्रतिपादित किया गया कि पौर-जानपद राजा को गद्दों से उतार सकता था। इस अंक में धर्नेलिक दुष्ट राजा पालक का वब करके अपने मित्र आर्थक को गद्दी पर बैठाता है। पौर जानपद का इस कार्य में कुछ भी हाथ न था। शर्नेलिक शासन परिवर्तन की घोषणा 'जानपद संस्था' में नहीं, जनता के समूह में करता है, जो चारदत्त का वब देखने को एकत्र हुए थे। शर्नेलिक अपने मित्र चारुदत्त को खोज रहा था, कि उसको हिष्ट जनसमूह पर पड़ती है, और वह अनुमान करता है कि चारुदत्त का मृत्युदंड देखने के लिए ही भीड़ एकत्र हुई है। मृज्यकटिक नाटक के किसी अंक में कहीं भी पौर-जानपद संस्था का उल्लेख नहीं है।

जायसवाल जी के मतानुसार पौर जानपद संस्था का एक प्रधान कार्य संकट के समय अतिरिक्त कर बगाने की स्वीकृति देना था। महाभारत से एक उद्धरण लेकर वे बताते हैं कि इस राजा द्वारा पौर-जानपद से अतिरिक्त कर की यांचा की गयी है। परंतु इस उद्धरण के अतिम श्लोक में कहा गया है कि मौका पहचाननेवाला राजा इस प्रकार की मधुर, चतुर और आवर्षक बात लेकर अपने दूर्तों को प्रजा में भेजें । अस्तु, उपशुंक्त उद्धरण में पौर जानपद सभा में का राजा का भाषण नहीं वरन आवश्यकता पहने पर किस प्रकार चिक्तनी चुपड़ी बातों द्वारा प्रजा को फुसला कर अतिरिक्त कर देने पर राजी किया जाय इसका एक नमूना है।

यह धारणा भी ठोक नहीं है कि राज्य में चोरी डकैती द्वारा होने वास्त्री हानि के लिए राजा से चिति पूर्ति माँगने का पौरजानपद समा को अधिकार

भवतु अत्र तेन भवितव्यं यत्रायं जनपद्समवायः ।
 मृन्छकटिक, दशम अंक, क्लोक संख्या ४७ के बाद ।

२ इति वाचा मधुरया श्रद्धणया सोवचारया । स्वरदमीनम्यवस्त्रेचोगमाधाय काळवित् ॥ म. मा. १२. ८७, ३४

या । प्राचीन भारतीय राजनीति का यह सिद्धान्त या कि चोरी का माळ बरामद न होने पर राज्य नागरिक की चित पूरी करे। याज्ञवल्क्य आदेश देते हैं कि राजा 'जानपद' (नागरिक) को 'चोरहत घन' दे। यहाँ 'जानपद' का अर्थ लोकसभा नहीं, यह मनु स्मृति के इसी विषय के निर्देश ने स्पष्ट हो जाता है, जिसमें यह कहा गया है कि चोरों हारा अपहत घन पाने का अधिकार सब बर्गों के लोगों को है?। इसने स्पष्ट है कि मनुस्मृति में 'जानपद' का अर्थ किसी भी वर्षा का नागरिक है 'जानपद सभा' नहीं।

१० वं ग्रध्याय में दिखाया जायगा कि नगर और ग्रामों में गैर सरकारी लोकस्ता या पंचायतें होती थीं जिन्हें काफी अधिकार रहते थे। पर जायस्वाल की यह घारणा गलत है कि जानपद (देहात) समाओं से पृथक राजधानी की अपनी 'पौर समा'थी। इसका कोई प्रमाण नहीं कि उत्तर बौद्ध काल में जानपद-समाएँ विद्यमान थीं। जायस्वाल जी ने जितने प्रमाण दिये वे ऐतिहासिक स्वरूप के नहीं है, वे सब साहित्यक ग्रंथों के उल्लेख मात्र हैं और इनसे पौर-जानपद जेसी किसी भी युक्त संस्था का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता जिसे राजा को गदी से उतारने, युवरान नियुक्त करने, नये कर स्वीकार या अस्वोकार करने या देश के लिए औद्योगिक, ज्यापारिक और आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने या देश के लिए औद्योगिक, ज्यापारिक और आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने का अधिकार रहा हो। कहा जाता है कि ६०० ई० पू० से ६०० ई तक इस प्रकार को संस्था काम कर रहीं थीं। यदि ऐसा है तो तत्कालोन किसी भी उत्कीण लेख में इसका उल्लेख कर्या नहीं मिलता। मेगास्थेनीस के विवरणों और अशोक के धर्मलेखों में मौर्य शासन का स्विरत्तर वर्णन है, पर ये दोनों ही पौर जानपद सभा का कोई उल्लेख नहीं करते । न कौटिल्य

१ हिंदू पॉलिटो, माग दो, पृ० ६८।

२ देयं चौरहतं राज्ञा द्रव्यं जानपदाय तु । याज्ञ०, २. ३६

३ दातव्यं सर्ववर्णेभ्या राज्ञा चोरैंहतं धनस् । मनु, ७. ४०

४ दिन्यावदान पृ० ४०७-८ में उदिलखित तम्विश्वा के पौर नगर-निवासी हैं, नगर-समा के सदस्य नहीं। राजा की अगवानी के किए वे सदकों की सफ ई और मकानों की सजाबट कर रहे है, यह काम साधारण नागरिकों का ही है, नगर की प्रतिनिधि संस्था के सदस्यों का नहीं। 'श्रुत्वा च तक्षिणणौरा श्रयों चिकानि योजनानि मार्गशोभां नगरशोमां च कृत्वा पूर्णकुम्मैः प्रत्युद्गताः'।

के अर्थ शास्त्र में ऐसी किसी सभा का जिक है । ग्रुप्तों के उत्कीण लेखों में अनेक शासन अविकारियों का उल्बेख है, पर पौर-जानपद समा का नाम भी नहीं लिया गया है। जानपदों की मोहरें नाडन्दा में बहुतायत से मिली हैं पर वे विभिन्न ग्रामी की पंचायत की मोहरे है किसी केंद्रीय संस्था की नहीं । ४०० से १२०० ई० के बीच उत्तर और दिल्लग भारत में राज्य करनेवाले विभिन्न वंशोंके राजाओं के हैकड़ों ताम्रपत्र मिले हैं। इन ताम्रपत्रों में बहां भूमिदान का उल्लेख है वहां युवराज से लेकर गाँवके मुखिया तक समस्त शासनसंस्थाओं और श्रिषकारियों से, जिनसे कुछ भी नावा की आशंका थी, दान पानेवाले व्यक्ति की अधिकार रद्या का अनुरोध किया गया है पर एक भी ताम्रपत्र में जायसवालको की पौर-कानपद सभा का उल्लेख नहीं है। यदि इस प्रकार को सभा उस समय कार्य कर रही थी श्रीर राज्य की आयव्यय पर उसका नियंत्रण का तो ताम्रपत्रों में इनका उल्लेख सबसे प्रथम होना च हिये था। जब राज्य के श्रन्य सब अधिकारियों से दान में बाधा न देनेका अनुरोध किया जाता है तो पौर-जानपद से यह अनुरोध करना तो और भी आवश्यक या, क्योंकि राज्य की आय-व्यय पर इसका नियंत्रण बताया जाता है। हजारों ताम्रपत्रों में से जिनमें राज्य में तिनक भी अधिकार रखनेवाले एक एक अविकारी के नाम गिनाये गये हैं.

सचियो द्वन्दिनस्तीर्थसभाशालासमवायेषु विवादं ऋयुः सर्वगुणसंवन्नोयं राजा श्रूयते । न चास्य कश्चिद् गुणो दृश्यते यः पौरजानपदान् दृण्डकराभ्यां पीइयति । ७. १३

श जायसवाल जी की यह धारणा (भाग दो, पृ. ८४) भी ठोक नहीं है कि अर्थशास्त्र में पौरसभा की उपसमितियों का उरलेख है जिनके जिसमे सीयों, सार्वनिक भवनों और बाजार भादि की देखरेख का काम था। अर्थशास्त्र के उक्त स्थक में इस प्रकार का वर्णन है; राजा के चर (खुफिया) तीथों, सभा शालाओं और पूगों (बाजार) में 'जनसमवाय' (भीड़) में जायें और बहस छेड़कर राजा के बारे में उनके विचार जानने की चेष्टा करें। चर पौर सभा की उपसमितियों में, जिसके वे सदस्य भी न थे, कैसे जा सकते थे और बहस छेड़ सकते थे? फिर समिति के वाद-विवाद से ही सदस्यों के विचार मालूम हो सकते थे फिर चर मेजने की क्या जरूरत थी? मुख इस प्रकार हैं—

२ पुरिकामामजानपदस्य, वारकीयमामजानपदस्य; श्रीनालंदाप्रतिबद्धमन-यिकामामजानपदस्य—मे. अ. स. इं., तं. ६६. पु. ४४-६ ।

एक में भी पौर-जानपद सभा का उल्लेख न मिलना हमारी समझ में इस बातका पक्का प्रमाण है कि ईसवी प्रथम सहस्राब्दी में ऐसी कोई भी संस्था भारत में अस्तित्व में न थी। काइमोर के जीवन और शासन व्यवस्था का सविस्तर वर्णन करनेवाली राजतरंगियाी में भी इस प्रकार की किसी लोक संस्था का उल्लेख नहीं है।

जैसा कि दसवें और ग्यारहवें अध्याय में दिखाया जायगा, १२ वीं सदी के अंत तक भारत में प्राम-पंचायतें और नगरों तथा पुरों की परिवदें विद्यमान रहीं और इन्हें शासन के काफी अधिकार भी थे। पर इस बातका कोई प्रमाण नहीं कि। बायसवाल जी द्वारा प्रतिपादित प्रकार की कोई केंद्रीय सभा उत्तर-बौद काल में रही हो। इस संस्था के विलोप हो जानेके कारण भी ऊपर इस अध्याय में बता दिये गये हैं। शासन पर लोकमत का प्रभाव डालने की विधि कुछ और ही थी जो पांचवे अध्याय में बतायी जा जुकी है।

# सरकार और विधि-नियम (कानून) बनाने के अधिकार

इसी अध्याय में यह भी समझ लेना चाहिये कि प्राचीन भारत के राज्यों को विधि-नियम बनानेके अधिकार कहां तक थे। अधुनिक कालमें ये अधिकार राज्य की केंद्रीय सभा को रहता है। देखना है कि प्राचीन भारत में जब सभा और सिर्मातयां वर्तमान थीं, तब उन्हें ये अधिकार थे या नहीं।

व्याजकल के लोगों को यह जानकर बड़ा श्राश्चर्य होगा कि प्राचीन भारत में राज्य या सिर्मित न तो विधि-नियम बनाती थो न उनको बनाने के अधिकार का दावा करता था। श्राष्ट्रनिक युगमें सर्वोच्च व्यवस्थापक सभा द्वारा बनाये गये विधि-नियम सर्वमान्य हो रहे है और सनातन रूढिनियमों का त्वेत्र अधिकाधिक संकुचित करते जा रहे हैं। पर प्राचीन कालमें यह स्थिति न थी। विधिनियम या कानून वार्मिक और लौकिक दोनों श्रेणोंके होते थे। धार्मिक विधिनियमों के आधार शास्त्र (श्रुति और स्मृति), लौकिक प्रयाएँ और पुराने रीतिरवाज थे। सरकार या कंदीय समिति का इस विषय में कोई अधिकार न समझा जाता था। यदि सरकार ने परंपरागत विधिनियमों को बलात् बदलने की नेष्ठा की होती तो उसका श्रिधक दिन टिकना असंभव हो जाता। परंपरागत रिवाज भी धार्मिक नियमों की ही मांति दिव्य समझे जाते थे। इनमे भी कालक्ष्म से परिवर्तन होता था। पर यह परिवर्तन व्यवस्थापक सभा द्वारा प्रकाश्य श्रीर मुखर रूपमें नहीं वरन् घीरे घीरे प्रथाओं के स्वयं परिवर्तित होनेसे चुपचाप अलक्ष्य गतिसे हो जाता था। व्यवस्थापक सभाके आदेश से हठात् परिवर्तन से समाज में घोर देवी आपित्यों के विद्योम की आशंका थी।

अतः वेदिक कालमें राज्य या समिति कोई भी विधिनियम बनाने का दावा न करती थी श्रीर स्मृति कालतक यही स्थिति रही ।

प्राचीन यूनान के प्लेटो बैसे राज्यशास्त्र भी विधिनियम बनाना सरकार के कार्यचेत्र का छंग न समझते थे। उनका यह मत था कि विधिनियम परंपरागत अनुभव पर ही अधिष्ठित होने चाहिये; कोई भी व्यक्ति या व्यक्तिसमूह में वह योग्यता नहीं हो सकती है जो प्रामाणिक प्रथोंमें लिखित या परंपरागत विधिनियमों में रहती है।

धर्मशास्त्रों में बहुत जोर देकर कहा गया है कि राजा का काम धास्त्र और प्रचलित प्रयाओं से अनुमोदित धर्मका पालन करना और कराना है, क्यं या किसी राज्य संस्था द्वारा धर्म में परिवर्तन करने का उसे अधिकार नहीं है। धर्म और नीतिश्रास्त्र परमात्मा ने स्वयं रचे हुए हैं और राजाका कार्य उनके निर्देशों को कार्यान्वित करना है, अपने अधिकार से उनमें कोई परिवर्तन वह नहीं कर सकता ।

परंतु समय बीतने पर ज्यों ज्यों शासन का विकास होता गया और जीवन की पेचीदगी बढ़ने लगी, राज्य को विधि-नियम बनाने का अधिकार देनेकी आवश्यकता जान पड़ी। ऐसी अवस्थाएं उपस्थित होने लगीं जिनके लिए धर्म और नीतिशाओं में कोई व्यवस्था न की गयी थी और राज्य तथा जनता दोनों के हिता में पुराने नियमों के संशोधन और नये नियमों को व्यवस्था को भी जहरत जान पड़ी। मनुस्मृति ने राजाको शासन या आदेश जारी करने का अधिकार दिया<sup>3</sup>, परंतु वे शास्त्र और आचार के विरुद्ध न होने चाहिये । याशवल्क्य

१ देशजाति कुळघर्मान्सवांनेवैतान सुप्रविषय राजा चतुरो वर्णान् स्वबर्मे प्रतिष्ठा-पयेत् । व. घ. सू. १९.४ जातिज्ञानपदान्धर्मान् श्रेणोधर्माश्च धर्मवित् । समीक्ष्य कुजधर्माश्च स्वधर्मे प्रतिपाळपेत् ॥ मनु, ८. ४१

२ यहचापि धर्म इत्युक्ती दंडनीतिव्यपाश्रयः। तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥ म. सा., १२. ५१. ११६

३ तस्माद्धमें यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः । श्रमिष्टं चाण्यनिष्टेषु तं धर्मे न विचालयेत् ॥

भेवातिथि की स पर टोका है-यतः सर्वतेजोमयः स राजा तस्मादेतो-रिच्टेषु वब्द्रभेषु मंत्रिपुरोहितादिषु कार्यगस्या धर्मकार्यव्यवस्यां शास्त्राचारा-विरुद्धां व्यवस्थेतं न विचालयेत् ।

भी कहते हैं कि त्यायालय को भी राजाके बनाये नियमों को मान कर कार्यान्वितः करना चाहिये ।

परंतु राज्यशास्त्र के प्रंय राजशासन को धर्मशास्त्रों से भी अधिक मान्य श्रीर प्रामाणिक मानते हैं? । बृहस्पति का भी यही मत है (२. २७)। नारद का कथन है कि राजप्रवर्तित नियमों का पाठन न करनेवाला राजशासन की उपेद्धा के अपराध के लिए दंड पावे । शुक्त कहते हैं कि प्रजाको सचित करने के लिए राजशासन लिखकर चौमुहानी आदि सार्वेजनिक स्थानींपर लगाये जायं ।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि साधारणतः सरकार का काम घर्मशाझों और लोकाचार द्वारा निर्दिष्ट व्यवस्था का परिपालन करना था पर बादमें तीसरी सदी ई. पू. के लगभग विधिनियम बनाने के कुछ अधिकार दिये गये। इस समय तक सभा और समिति विख्त हो चुकी थीं अतः राजा अपने सचिवों से परामश-पूर्वक इस अधिकार का उपयोग करते थे।

परंतु राजशासन जारी करने का अधिकार उतना न्यापक नहीं या जितना आधुनिक न्यवस्थापक समाओं के श्रिषकार न्यापक हैं। न्यवहार , दंड, और उत्तराधिकार के नियमादि स्मृतियों और लोकाचार द्वारा निर्देष्ट थे और राजशासन का इनपर विशेष प्रमान न पड़ता था। पर शासन और कर ग्रहण के लेश में राजा बहुत कुल संशोधन परिवर्तन कर सकते थे। वे नये विभागों और पदों को स्विष्ट कर सकते थे, नये कर लगा सकते थे श्रीर अशोक की माँति अपनी नयी नीति निर्धारित कर सकते थे। इसके परिणाम स्वरूप राजा के अधिकार काफी विस्तृत हो गये और प्रजा के अधिकार घटते गये, क्योंकि जनता की कोई प्रतिनिधि सभा राजा के इन नये श्रिषकारों को नियंत्रित करने के लिए न थी।

१ निजधर्भावरोधेन यस्तु सामियको भवेत् । सोऽिप यस्तेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः ॥

२ धर्मश्र व्यवहारकच चरित्रं राजशासनम् । विवादार्थचतुष्पादः परिचमः पूर्ववाधकः ॥ अर्थशास्त्र ३. १

३ राज्ञा प्रवर्तितान्धर्मान्यो वरो नानुपाळयेत् । द्यदयः स पापो बध्यश्च कोषयन्नाजशासनम् ॥ १. १३

४ लिखित्वा शासनं राजा धारयेत चतुष्पथे । इति प्रबोधयन्तिस्यं प्रजाः शासनदिखिमैः ॥ १. ३१३

प व्यवहार=दीवानी झगडे, civil law

#### अध्याय =

### मंत्रि मंडल

आधुनिक राज्य व्यवस्था में केंद्रीय शासन के विभाग में राजा या राष्ट्रपति, केंद्रीय व्यवस्थापक सभा, प्रजातंत्र, मंत्रिमंडल (बहुषा केंद्रीय सभा द्वारा निर्वाचित), विभागों के अध्यक्ष और केंद्रीय शासन का जार्यालय का समावेश होता है। हम ने अभी तक इनमें से राजा, प्रजातंत्र और केंद्रीय व्यवस्थापक सभा के स्वरूप और कार्यों का निरूपण कर लिया है। अब इम मंत्रिमंडल, विभागों के अध्यक्ष और केंद्रीय शासनकार्यालय पर विचार करके केंद्रीय शासन विषय का अध्ययन पूरा करेंगे।

शाचीन भारतीय श्राचारों ने मंत्रिमंडल को राज्य व्यवस्था का अत्यंत महत्वपूर्ण श्रंग माना है। महाभारत में कहा गया है (५.३७.३८) कि राजा श्रपने मंत्रियों पर उतना ही निर्भर है जितना प्राणिमात्र पर्जन्य पर, ब्राह्म ण वेदों पर और स्त्रियों श्रपने पतियों पर। अर्थशास्त्र का कथन है कि जिस प्रकार एक चक (पहिये) से रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार दिना मंत्रियों को सहायता के अकेले राजा से राज्य नहीं चल सकता। मनु का कथन है कि सुकर कार्य भी एक आदमी को अकेले होने के वजह से दुष्कर हा जाता है फिर राज्य ऐसे महान कार्य को बिना मंत्रियों की सहायता के चलाना कैसे समत है । शुक्र का कथन है कि योग्य से योग्य राजा भी सब बातें नहीं समक सकता, पुरुष पुरुष में बुद्धि वैभव अलग अलग होता है, श्रतः राज्य की अभिवृद्धि चाहने वाला राजा

सहायक्षाध्यं शजस्यं चक्रमेकं न वर्तते ।
 कुर्वात सविवाँस्तस्मानेषां च श्रणुयान्मतम् ॥ अर्थ १. ३ १ प्रध्याय ३

२. अपि यत्सुकरं कर्म तद्प्येकेन दुष्करम् । विशेषतोऽसहायेन किंतु शक्यं महोदयम् ॥ सनु-आठ, ४३

योग्य मंत्रियों को चुने अन्यथा राज्य का पतन निश्चित है । उपयुक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि हिंदू विघानशास्त्री मंत्रिमंडल को राज्यका अविच्छेद्य श्रंग मानते थे।

अब हमे देखना है कि व्यवहार भी ऐसा ही या या नहीं। ऋग्वेद श्रीर अवर्व वेद में राजा के मंत्रियों का कोई उल्लेख नहीं है, न उल्लेख का कोई प्रयोजन ही है। हां यजुर्वेंद की संहिताओं और ब्राह्मण प्रंथों में राज्य के कुछ उच्चाधिकारियों का उल्लेख है ये 'रत्नी' कहे जाते थे और संभवत: राजपरिषद के सदस्य ये<sup>द</sup>। परंतु भिन्न-भिन्न प्रंथों में इनके जो नाम दिये गये हैं उनमें श्रंतर है और इन सबके कार्यों का ठीक ठीक वर्णन करना भी बहुत कठिन हैं। साधारणतः यद्द कहा जा सकता है कि रितयों की सूची में राजा के संबंधी, मंत्री, विभागीं के अध्यव और दरबारी गण सम्मिलित थे। पहली श्रेणी में राजा की पहरानी और प्रिय रानी भी थीं क्योंकि इनका नाम सभी संहिताओं में मिलता है। इससे यह लिज्जत होता है कि वैदिक काल में रानी की हैसियत केवल राजा की पत्नी ही की नहीं थी वरन् शासनव्यवस्था में भी उसका एक स्थान था। युव-राज भी राज परिषद में रहते होंगे यद्यपि रहिनयों की सूची में उनका नाम नहीं मिलता । इसका कारण संभवतः यह है कि राज्याभिषेक के समय ही रत्नियों का उल्लेख संहिताओं में आता है, और उस समय बहुत छोटा, और इसीलिये शासन कार्य में सहयोग करने में असमर्थ होने के कारण, युवराज का अंतर्भाव रिलयों में न किया होगा।

पुरोहित का नाम सर्वत्र रिल ओं की सूचिओं में मिलता है। उस युग के लोगों का विश्वास था कि जिस राजा के योग्य पुरोहित न हों उसका हिवर्भाग देवता अंगीकार न करते थे। अतः जिस युग में यज्ञ द्वारा देवता का प्रसाद प्राप्त करने पर ही युद्ध चेत्र में विजय प्राप्त निर्भर मानी जाती थी उस युग में पुरोहित का नाम मंत्रियों की सूची में पहके रखा जाना अनिवार्य ही था।

पुरुषे पुरुषे भिन्नं दृश्यते बुद्धिवैभवम् ।
 श्राप्तवाक्यैरनुभवैरागमैरनुमानतः ।
 न हि तस्त्रकलं शातुं निरंग्यैकेन काक्यते ।
 भतः सहायान्वरयेद्राजा राज्याभिनृद्धये ॥
 विना प्रकृतिसंसन्त्र्याद्राज्यनाशो भवेद् श्रुवस्।
 रोधनं न भवेत्तस्माद्राज्ञस्ते स्युः सुमंत्रियाः ॥ श्रुकर. म ।
 रां जा । १६, १, ७ मे रत्नी को 'वीर' पद्वी से संबोधित किया है ।

रिवयों की सची में मिलने वाले विभागाध्यद्धों के नामों में सेनानी स्त, ग्रामणी संग्रहीता और भागधुक के नाम हैं। सेनानी सेनापित या। स्त संभवतः रथसेना का नायक या और सम्मान के लिए राजा के सार्थों का पद वहन करता था। ग्रामणी गांव के मुख्यों में प्रधान होता होगा, जो रत्नी वर्ग की सदस्यता के लिए संभवतः चुना जाता होगा। एक स्थल में उसे देश कहा गया है संभवत वह इसी वर्णका होता था। भागधुक स्पष्ट ही कर वस्लने वाला या अर्थमंत्री था और संग्रहीता कोषाध्यक्त था।

रिवयों की सूची में उिछिखित च्या, श्रचावाप और पाठागल, दरवारी श्रेणी के जान पढ़ते हैं। च्या संभवतः राजा का परिपार्श्वक था। अचावाप घूत कीड़ामें राजा का साथी और पाठागळ उसका अंतरंग मित्र था, बाद के युग के विदूषक की मांति। कुछ लोगों का अनुमान है कि पाठागळ पड़ोसी राज्य के राजदूत को कहते थे पर यह ठोक नहीं जान पड़तार। कुछ ग्रंन्थों में गोविकर्तन या गोव्यच्छ, तचा और रथकार के नामों का भी रिवयों की सूची में उल्लेख किया है । वैदिक काल में गौएं ही घन समझी जाती थीं श्रतः गोविकतन राजा के गोघन का श्रिषकारी रहा होगा। तच्चा का अर्थ बढ़ है है और रथकार रथ बनानेवाला था। आजकळ के युद्ध में विमान का जो स्थान है वही वैदिक काल में रथ का था अतः यह असंभव नहीं कि बटई श्रीर रथकारों की श्रेणी के प्रमुख भी रही वर्ग में शामिल किये गये हो।

अतः वैदिक काल की रित्नपरिषद में पट्टरानी, युवराज, राजन्य आदि राजा के संबंधी, अद्धावाप, ज्ञाचादि दरवारों और सेनानी स्त, संब्रहीता और रथकार आदि वसुल अविकारी शामिल रहते थे।

रती लोगों का पद बहुत ऊँचा समझा जाता था। वाजपेय यह के अवसर पर राजा 'रित बिल' प्रदान के लिए स्वयं रित्नयों के घर जाता था, वे उसके घर नहीं आते थे। वैदिक काल की समिति बहुत शक्तिशाली संस्था

शबाद के साहित्य में इस शब्द का यही अर्थ है। परंतु डॉ, घोसाल का मत है कि च्ला भोजन बांटने वाले को कहते थे। हिस्ट्री ऑफ हिंदू पब्लिक लाइफ, भाग १ पृ १०६ परंतु इस प्रकार का कोई विमाग वैदिक कालमे था, इसमें संदेह है।

२. द्याप श्री. सू., १४. १०. २६।

३. श. प. हा., ४. ३. १. १.; का. सं., १५.४

थी। संमवतः रती इसी के सदस्यों में से चुने जाते थे, परंदु इस संभाव्य अनुमान का कोई पर्याप्त प्रमाण नहीं है। इस यह भी नहीं कह सकते कि रती किस प्रकार कार्य करते थे, राजा को परामर्श देने के लिए परिषद के रूप में उनकी कोई बैठक होती थी, अथवा राजा उनसे अलग-अलग परामर्श करता था।

वैदिक यहाँ का प्रचार घटने से घीरे घीरे रतनी वर्ग का भी अंत हो गया। बाद के बाल्मय में यदा-कदा राजा के 'रतनी' का उल्लेख मिल जाता है पर 'रलों' का अर्थ राजा के परामर्श दाता या सहायक ही नहीं रह गया था। यथा बायुपुराण में रती दो श्रेंणियों में विभाजित किये गये हैं सजीब और निर्जीव। सजीव श्रेग्णी में रानी, पुरोहित. सेनानी, सूत मंत्री श्रादि ही नहीं बोड़े और हाथी भी आ जाते हैं। दूसरी श्रेणी में मणि तलवार, घनुष, माला, रत, पताका और कोष आदि रखे गये हैं । इससे पता चलता है कि बाद के काल में रती शब्द का मूळ अर्थ वदल गया था और रतो गण का शासन में कोई प्रयोजन न रह गया था।

पंतु धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों से पता चलता है कि रती का स्थान एक और भी प्रमाव-शाली लंस्था ने ले किया था। यह मंत्रों या 'श्रमात्य' अथवा 'संचव' परिषद थी। हम बता चुके हैं कि मंत्रिमंडल हमारी राज्य व्यवस्था का अधिकलेब अंग समझा जाता था और ऐतिहासिक काल में भी अधिकतर राज्यों में यह संस्था काम कर रही थी। भारत के सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राज्य मगध में राजा अजातरात्र के महामात्य वत्सकार का उल्लेख हैं । यह भी बताया गया है कि उसका समकालीन कोशल राजा प्रस्तेजित अपने मंत्री मृगधर और श्रीष्टद की सलाह लेकर ही किसी बड़े काम में हाथ लगाता था । जातकों में भी मंत्रियों का उल्लेख बार बार मिलता है । उत्कीर्ण लेखों और साहित्य में भी मौयों और श्रुंगो की मंत्रिपरिषद का अ

१ अध्याय ४७, ६८-७१

२ डायकॉग्स ऑफ् बुद्ध, मा. २, पृ. ७८।

३ दवसगदसञ्जो, दो, परिशिष्ट, पृ. १८।

४ सं० परम, पर्रे ।

५ अर्थशास्त्र भाग १ अध्याय , अशोक के चटनलेख, सं० ३ और ६, माल-विकाग्निमित्र, अंक ५।

वर्णन है। पश्चिम भारत के शक राजा भी एक परिषद की सहायता से राज्य करते थे, जिसमें 'मित सचिव' (परामर्श दाता ) और 'कर्म सचिव (शासन विभागों के अध्यक्ष) सदस्य होते थे । गुप्त राजाओं के लेखों में भी मंत्रियों का उल्लेख बराबर होता है।

मौखरि राज्य के मंत्रियों के अधिकार तो बहुत ही अधिक थे। मौखरि बंध के श्रांतिम राजा का अचानक निरसंतान निधन हो जाने पर मांत्रयों ने ही हवंबर्धन को मौलिर राज्य का सिंहासन प्रदान किया थार। मंत्रिमंडल मध्ययगीन शासन तंत्र का भी अविच्छेद अंग था। परमार राजा-यशोवमां के एक लेख में उसके 'महा-प्रधान' (प्रधान मंत्री ) प्रशीचम देव का नाम 🗦 । गुजरात के चौछ स्य और युक्त प्रांत के गाइडवाल राजाओं के प्रायः सभी ताम्रपट्टों में उनके 'महाभात्य' का उल्लेख पाया जाता है। नाडोल के चाहमान राजाओं के दानलेखों में महामात्य का नाम सब राजकर्म-चारियों में पहले किया गया है । महोबा के चंदेहों के लेखों में अनेक मंत्रियों के बंध का उल्लेख हैं । राजतरंगिणी से 'ज्ञात होता है कि कश्मीर के शासन में मंत्रियों का स्थान कितना महत्व का या। दिल्ला के राष्ट्रकृट, चालु य और शिलाहार वंश के राजाओं के लेखों से भी यही स्थिति लिखत होती है। यादव दंश के एक टानपत्र में बताया गया है कि मंत्रियों की सह भति से ही उक्त दान दिया गया । दिख्ण भारत के अनेक लेखों से पता चलता है कि बहुषा मंत्रियों को हैसियत समंत राजाओं के समान उच थी और 'महासामत' तथा 'महा-मडलेश्वर' बैसी ऊँची उपाधियों से वे विभूषित किये जाते थे।

सुशासन के लिए मंत्रियों का द्योता। इतना आवश्यक समझा जाता या कि युवराज और प्रांतों के शासक भी अपनी मंत्रि-परिषद् नियुक्त करते थे। मौर्य साम्राज्य में तब्शिला में एक प्रांताविकारी की मंत्रि परिषद् थी; पुष्यमित्र के

१ रुद्रदामा का जूनागढ़ शिकालेख, एपि. इं. प. पृ. ४२

२ बाटर्स प्रथम भाग, पृ. ३४६।

३ इं. एं., १६. पृ. ३४६

४ पुवि ई. ११. ३०म।

र ,, ,, १. ११७ तथा २०६।

६ श्री सेडखाक्येन नृपेण प्रधानयुक्तेन विचार्य इटद्वयं दत्तम् ।

युवराच और मालवा के प्रांताधिकारी अग्निमित्र की भी (१५० ई० पू०) मंत्रिपरिषद् थी। गुप्त राज्य में युवराज के मंत्रियों को 'युवराजपदीय कुमारा-मात्य' कहते थे । यादव नरेश पंचम मिल्लम (११६०-१२१० ई०) के युवराज के यहां भी मंत्रिमंडल था। यादव राज रामचंद्र के दिच्छण प्रदेश के शासक टिक्कम देवरस भी मंत्रि परिषद् की सहायता से शासन करता था । युवराज और प्रांताधिकारी सामंत राजाओं के समकत्त्व होते थे और सम्राट् की मांति उनके लिए भी मंत्रि परिषद् का होना जरुरी समझा जाता था।

अब हमें देखना है कि मंत्रिमंडल में कितने सदस्य होते थे। मनु का मत है कि मंत्रियों की संख्या ७ या ८ होनी चाहिये<sup>3</sup>। महाभारत ८ के पद्म में है । अर्थशास्त्र इस विषय में विभिन्न मतों का उल्लेख करता है जिससे पता चळता है कि मानव संप्रदाय वाले १२, बाईस्पत्य पंथवाले १६ और औशनस पंथवाले २० मंत्रिया के पद्म में थे । शुक्रनीति १० मंत्रियों की राय देशी है । नीतिवाक्यामृत के अनुसार मंत्रिसंख्या ३, ५ या ७ से अधिक न होनी चाहिये।

यह अंतर इसिलए है कि मंत्रियों की संख्या निर्दिष्ट करते समय विभिन्न आचार्यों की दृष्टि विभिन्न राज्यों पर थी। इसीलिए मनु और कौटिल्य इस बात में एकमत है कि इरेक राज्य की आवश्यकतानुसार उसके मंत्रियों की संख्या निश्चित की जाय। यदि राज्य छोटा है और उसका कार्यचेत्र भी सीमित है तो ४-५ मंत्रियों से ही काम चल जायगा, जैसा कि शिलाहार राज्य में था । जातक काल में जब कि राज्य का कार्य चेत्र व्यापक न होता था साधारणतः पाँच मंत्री होते थे । परंतु बड़े-बड़े साम्राज्यों में मंत्रियों की संख्या अधिक होती थी। परराष्ट्र विभाग में ही भिन्न-भिन्न विषयों के लिए कई मंत्री भी होते थे। शिलाहार राज्य में एक प्रधान परराष्ट्रमंत्री के

१ अ.स. रि., १६०३-४, पृ. १०७

२ सौ. इं. इ., भाग ६, सं. ३६७ त. ३७८

३ सचिवान्सम्र चाण्टौ वा कुर्वीत सुपरीचितान्। ७. ५४

४ अष्टानां मंत्रिणां सध्ये मंत्रं राजोपधारयेत् ॥ १२. मर

पू आग एक, अध्याय १५।

<sup>\$ 2.001</sup> 

७ सनु ७. ६१।

<sup>🖚</sup> यथासामर्थंमिति कौटिल्यः । १. १४

९ इं. पें. जिस्द पांच, पृ. २७८ जिस्द १. पृ. ३५

१० बातक सं. ५२८

अतिरिक्त कर्णाटक के परराष्ट्र संबंध की व्यवस्था के लिए एक प्रथक् मंत्री भी रहता था । यह शिलाहार जैसे छोटे राज्य में परराष्ट्र विभाग में दो मंत्री थे, तो मौर्य, गुप्त, श्रीर राष्ट्रकूट जैसे विशाल साम्राज्यों में तो अनेक रहे होंगे । परंतु मंत्रिमंडल को संख्या सर्व संमत परंपरा के अनुसार प्रायः आठ ही रहती थी। और आवश्यकता पड़ने पर शुक्र के मतानुसार उपमंत्री नियुक्त किये जाते रहे होंगे।

ऐसा प्रतीत होता है कि ७ या ८ मंत्रियों के मंत्रिमंडल के अतिरिक्त आज कल की पिनी कौंसिल की भांति एक बड़ी परामर्श्वात्री संस्था भी होती थी जिसके सदस्य 'अमास्य' कहे जाते थे । महाभारत में उल्लिखित १६ अमास्यों की परिषद् इसी प्रकार की संस्था थी। अर्थशास्त्र से भी ज्ञात होता है कि अमास्य विभागों के अध्यन्त जैसे उच्चपदस्य अधिकारी होने पर भी मंत्रियों से पद में नीचे थे इसीलिए संख्या में भी अधिक थे । उनका वेतन भी मंत्रियों से कम था। परंतु गंभीर स्थित उपस्थित होने पर सलाह के लिए वे भी मंत्रियों के साथ ही आमंत्रित किये जाते थे। बाद में सातवाहन और पल्लव राज्य में प्रादेशिक शासकों और विभागों के अध्यन्तों को अमास्य कहने लगे; मंत्रिपरिषद् या किसी परामर्शदात्री परिषद् से उनका कोई संबंध न रह गया था ।

मंत्रियों की कार्य दोत्र में शासन का पूरा दोत्र आ जाता था। उनका कार्य नयी नीति का निर्धारण करना, उसे सफलता पूर्वक कार्यन्वित करना, इसमें उठनेवाली किठनाइयों को दूर करना, राज्य के आयं व्यय के संबंध में नीति निर्धारण और उनका निरीचण करना, राजकुमारों की शिचा-दीचा का समुचित प्रबंध करना, उनके राज्याभिषेक में माग लेना और परराष्ट्र नीति का

१. इ. ए., ४, २७७

<sup>₹. ₹.</sup> १०६-११०

B. 17. 54. 0-5

४ मंत्रियो का साळाना वेतन ४८००० पण था, मगर अमार्थो का कैवळ १२००० ही पण था।

र गोवर्चन जिल्हाधिकारी अमात्य विष्हुपालित का उरलेख नासिक विकालेख सं. ३-४ में ब्राया है। ए. इं, ७. ; ए. इं. १. ५ में पञ्चवों के अमात्यों का उरलेख मिकता है।

संचालन, करके पदोसी स्वतंत्र राजाश्रों को और साम्राज्यांतर्गत करद सामंतो के नीतिपर विचार करना था ।

यह स्वामाविक ही था कि मंत्रिगण काम बांट ले और एक एक विभाग का जिम्मा ले लें। पर हमारे प्राचीन आचार्यों ने विभागों के विभाजन पर कुछ विचार नहीं प्रकट किये हैं। ८ वी सदी इसवी के आचार्य शक से ही हमें विभागों का कुछ परिचय मिलता है। उनके मतानु सार मंत्रिपरिषद में निम्निलिखित १० मंत्री होने चाहिये । १—पुरोहित २—प्रतिनिधि, ३—प्रधान, १—सचिष, ५—मंत्री, ६—प्राड्विषाक, ७—पंडित, ८—समंत्र, ९—श्रमात्य, और १०—दूत। वे यह भी कहते हैं कि कुछ लोगों के मत से पुरोहित और दूत की गणना मंत्रियों में नहीं की जाती।

यद्यपि पूर्व आचार्यों ने विभागों का वर्णन नहीं किया है फिर भी हम मान सकते हैं कि विभागों का विभाजन शुकाचार्य द्वारा वर्णित टंग पर ही होता चा, क्योंकि उस्कीर्ण देखों में इन मंत्रियों के उल्लेख इसी या इसके पर्यायवाचक नामों में मिलते हैं। अब हम इन मन्त्रियों के कार्यों पर विचार करेंगे।

पुरोहित का वैदिक काल के रिलयों में भी प्रमुख स्थान था और कई शताब्दियों तक उसका स्थान मंत्रिपरिषद् में कायम रहा। वह राजा का गुरु था। उसका काम शत्रुके अनिष्ठकारक अनुष्ठानों का प्रतीकार करना और अर्थशास्त्र में विश्वित पुरोहित कर्म द्वारा राष्ट्र का अम्युदय करना थां। वह राजसेना के हाथी और बोहों को मंत्रपूत करता थां, और वैदिक काल में राजा के साथ युद्ध लेत्र में जाकर अपने मत्रों और स्तुतियों द्वारा देवताओं को

१ मंत्रो मंत्रकत्वावाधिः कर्यानुष्ठानमायन्ययकर्म कुमाररच्यामभिषेकश्च कुमाराणां श्रायत्तममारयेषु । श्रर्थशास्त्र, ८.७; १.६.। जातक संव १५७ से ज्ञात होना है कि भनसर मंत्रिगण ही इस बात का निर्णय करते थे कि युवराज को राज्याधिकार कब दिया जाय ।

<sup>₹</sup> २७०७२

३ पुरोहित षडंगे वेदे देवै निमित्ते "अभिविनीतमापदां देवमानुषीणामथर्व-भिरुपायैश्च प्रतिकारं दुवीत । तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो सृत्यः स्वामित-मिवानुवर्तेत । अर्थः, १. ९

४ सुसीमजातक।

प्रसन्न करके बिजय श्री पात करने का प्रयत्न करता था । वह शहन, शास्त्र व विशेषतः नीतिशास्त्र में निष्णात होता बा। जब राजा किसी दीर्घ कालीन यश्च की दीला ले लेता था तब पुरोहित ही उसकी ओर से शासन चलाता था । रामायण में वर्णन है कि राज कुमारों की अनुपश्चिति से सिहासन खाली रहने पर राजगुरु विशिष्ठ ही श्रावश्यक समय तक राज्य का संचाबन करने को। मंत्रियो में केवल पुरोहित ही ऐसा था जिसके पद प्रहण के समय एक वैदिक विधि विहित था। उसका नाम बृहस्पतिसव था और वह वैदिक काल में रूढ़ था।

वैदिक कमों के पूर्यं अचार के युग में पुरोहित का प्रभाव बहुत रहा होगा । औपनिषदिक, बौद और बैन दर्शन के विकास के फळ स्वरूप यहांका प्रचार कम होंने पर पुरोहित का प्रभाव को भी घक्का लागा होगा । फिर भो जातकों के समय मे भी वह काफी परिणामकारक या, उसे जातक कथाओं में सन्वायक मंत्री अर्थात् स्वीधकार प्राप्त मंत्री का नाम दिया गया है। परंतु बाद में उसका प्रभाव अवक्य ही कम हो गया । ग्रुतकाल के बाद के लेखों में उसका उस्लेख मंत्रियों से अलग किया गया है जिससे प्रकट होता है कि वह मंत्रिमंडल का सदस्य न रह गया था। अस्तु, ग्रुक्तनीति में उसका मंत्रिपरिषद् में समिलित किया जाना संभवतः पुरानी परंपरा का द्योतक है, न कि तत्कालीन प्रथा का । साथ ही शुक्र नीति (२,७२) यह भी स्वीकार करती है कि अन्य लोगों के मतानुसार मंत्रिमंडल में पुरोहित को स्थान नहीं है। अस्तु, लगमग २०० ई० से पुरोहित की गणना मंत्रियों में न होती थी, फिर भी राजा पर उसका नैतिक प्रभाव काफी था। आदर्श पुरोहित को ग्रुक्ती हो राजा को सत्यथ पर ला देने के लिए काफी समझी जाती थी ।

१ दस राजाओं की बादाई में विश्वामित्र बराबर राजा सुदास के साथ थे। उनके मंत्रों से प्रसन्न होकर ही विपाश और शुतुद्रु निद्यों का जब उतर गया और सुदास की सेना सुगमता से पार उतर सकी।

२-अाप. औ- स्., २०. २-१२, ३. १-३, बौ. औ. स्०, १८. ४

२—राजराज्ञीयुवराजमंत्रिपुरोहितप्रतीहारसेनापितः। गहड्वाळों लेख। शिळाहार वंशके लेखो में भी वह मंत्री और भमारयों से पृथक रखा जाता है। एपि. इंडिका, जिस्द ९ पृ० २४।

४. यत्कोपभीत्या रात्रापि धर्मनीतिरतो भवेत् । शुक्र २. ६६

शुक्त की गंत्री-सूची में दूसरा स्थान प्रतिनिधि का है। इसका काम राजा की अनुपरिथित में उसके नाम से कार्य करना था। वयस्क होने पर संभवतः युवराज को ही यह पद मिलता था। जातकों में उल्लिखत 'उपराजा' शुक्त द्वारा वर्णित प्रतिनिधि के ही समान था। परंतु ऐसा जान पहता है कि प्रतिनिधि की गणना मंत्रिपरिषद् में न होती थी। क्योंकि उस्कीर्ण लेखों में इसका उल्लेख नहीं मिलता, और मनु भी प्रतिनिधि को नहीं प्रधान मंत्री को ही राजा का स्थान ग्रहण करने को कहते हैं ।

प्रधान या प्रधान मंत्री, मंत्रिपरिषद का सबसे महत्वपूर्ण स्ट्रस्य या।

शुक्र के मत में वह 'सर्व सर्धीर' पूरी शासन व्यवस्था पर आँख रखनेवाला, होता था। उत्कीर्ण हेलों में भी ख्रनेक प्रधान मंत्रियां के नाम मिलते

हैं। छठवीं सदी के एक कदंव वंश के हेल में 'सर्वस्य अनुष्ठाता' उपाधि से
संबोधित जियंत³, गुजरात की राष्ट्रकृट शास्ता के राजा दंतिवर्मन् (८८० ई)

का महामात्य कृष्णभट्ट , ११ वीं सदी के एक यादव हेल में वर्णित 'महाप्रधान' वर्मायक", चंदेल राजा कृष्णवर्मन् (१०९० ई) का 'मंत्रीन्द्र' बत्स
राज, वाहमान राजा विशालदेव (११६० ई) का 'महामत्री' सल्लक्ष्माल",
और श्रनेक परमार और प्रायः समी चौलुक्य हेलों में विश्त 'महामात्य',—
ये सब अधिकारी प्रधानमंत्री ही थे इसमें बिलकुल संदेह नहीं। इनका पद बड़ा
ही कँचा था। उत्कीर्ण हेलों में सामतों की मुकुट मणियों की प्रभा से महामात्य के चरणों के नलों के प्रकाशित होने का वर्णन किया गया है। श्राष्ट्रानिक काल
की भाँति प्राचीन भारत में भी प्रधानमंत्री के जिम्मे शासन का एक विभाग
रहता था; शिलाहार राजा अनंतदेव (१०८१ ई) का प्रधान मंत्री प्रधान
कोषाध्यन्त भी थां।

<sup>3. 0, 589 |</sup> 

२ सर्वदर्शी प्रधानस्तु ।

३ इंड. ऐंटि. ६. २४।

४ एपि. इंडि. ६, २८७।

४ एपि. इंडि. २. २२४ I

६ इंडि. ऐंटि, १८. २३६।

s इंडि. ऐंटि १९. २१८ I

<sup>⊏</sup> वही. १२. १२७।

प्रधान के बाद युद्ध मंत्री का स्थान है। शुक्र ने उसे स्थिव का नाम दिया है परंतु यह नाम साधारणतः उसके लिए प्रयुक्त न होता था। मौर्य राज्य में उसे सेनापित कहा जाता था, गुस्त राज्य में 'महाबलाधिकृत' कि कम्मीर में 'कंपन' व्योर यादव राज्य में 'महाप्रचंडदंडनायक'। नीतिवाक्यामृत में सेनापित को मंत्री परिषद में स्थान नहीं दिया गया है पर साधारणतः उसकी गणना मंत्रियों में ही की जाती थी। युद्ध मंत्री का युद्धकौशल शक्त संचालन और सैन्यसंगठन में निष्णात होना आवश्यक था। उसका काम राज्य के सब दुर्गों में यथोचित सेना रखना श्रीर सेना के सब विभागों की व्यवस्था करना था, ताकि उनकी युद्ध शक्त बराबर बनो रहे ।

इसके बाद परराष्ट्र मंत्री का स्थान है। शुक्र ने इसे 'मंत्री' का नाम दिया है पर उत्कीण लेखों में इसे अधिक सार्थक 'महासंघि विग्राहक' नाम से संबोधित किया गया है। प्राचीन भारत में छोटे मोटे राज्यों का बाहुल्य था। इनमें से कुछ स्वतंत्र थे और कुछ किसी बड़े राज्य के करद थे। पर सभी साम्राज्य पर के आकांची होते थे। इसलिए परराष्ट्र मंत्रि का कार्य कठिन और भारी होता था। प्रायः हर राज्य का अलग-अलग खाता होता था। शिलाहार जैसे छोटे राज्य में भी प्रधान परराष्ट्र मंत्री के अतिरिक्त कर्णाटक संबंधी समस्याओं के लिए एक मंत्री अलग था जिसे कर्णाटक संविधिग्राहिक कहते थे। मौर्य, गुप्त, राष्ट्रकृट और गुर्जरप्रतिहार जैसे बड़े बड़े साम्राज्यों में तो एक परराष्ट्र मंत्री के नीचे अनेक सचिव रहे होंगे।

परराष्ट्र मंत्री के लिए साम, दाम, बंड और भेद की चतुर्मुखी नीति में पद्धता अत्यावश्यक थी । बहुत से लेखों से पता चळता है कि उसके जिम्मे ब्राह्मणों, मंदिरों श्रीर मठों के लिए भूमिदान की व्यवस्था करना और ताम्रपष्ट तैयार करने का भी काम था। परराष्ट्र मंत्री को द्यह काम सौंपना कुळ विळवण सा जान पहता है। पर स्मरण रखना चाहिये कि दानपत्रों में दान देनेवाले राजा की वंशावळी ओर हरेक की वोरता और विजयों का बखान रहता या और यह काव्य परराष्ट्र मंत्री ही अच्छो तरह कर ठकता था। मिताच्या में किसो

१ एपि. इंडि, १०, ७ १। २ राजतरंगियो, सर्गं ७. ३६४।

३ अध्याय १०, १०१-२। ४ शुक्रनोति, २. ६४।

र इस पदवी का अर्थ छड़ाई और संबि कराने वाला बड़ा अधिकारी है।

इ इंडि. ऍटि., ४. २७७। ७ श्रुक, २. ९५।

अज्ञात श्राचार्य के मत का हवाला दिया गया है कि 'संधिविषह-कारी' ही दान-पत्र का लेखक हो ।

'प्राङ्विवाक' के जिम्मे त्याय विभाग था और वह प्रधान न्यायाबीश होता था। स्मृति और लोकाचार के पूरा ज्ञान के अतिरिक्त इने दोनों पद्मी द्वारा पेश किये गये प्रमाणों और साद्यों की ठीक-ठीक परख सकने की योग्यता भी होनी जरूरी थी। राजा की अनुपरियति में अंतिम निर्णय देने का अधिकार इसी को होता था। उत्कीण लेखों में इसका उल्लेख बहुत ही कम मिलता है?!

'पंडित' के हाथ में घर्म श्रीर सदाचार संबंधी विषय रहते थे। इसका काम राज्य की धार्मिक नीति निर्धारित करना था। घर्मशास्त्रों में पारंगत हाने के साथ ही यह लोकाचार पर भी सूदम दृष्टि रखता था और देखता था कि कीन से धार्मिक विचार और श्राचार समाज में प्रचिहत और मान्य है और कीन से लोक-काल-विरुद्ध होकर श्रनुपयोगी हा गये हैं। इन सब बातों का उदारता पूर्वक यथासांग विचार करके यह राज्य की धार्मिक नीति का स्वरूप निश्चित करता था। हम बता चुके हैं राज्य घर्म का संरक्षक माना जाता था। पर इसका अर्थ यह भी न था कि एकदम पुराने पड़ गये प्रंथों में भी जो कुछ भी लिखा हो उसे आँख मूँद कर कार्यान्वित किया जाता था। मत्री पंडित का यह काम था कि जो धार्मिक निर्देश पुराने और अनुपयोगी हो गये हों उनका पता लगा कर उन्हें प्रोत्साहन न दे और उनका पालन न करे। वह राज्य को यह भी सलाह देता था कि धर्म और संस्कृति के अनुकृत्ल पुरानी व्यवस्था में क्या संशोधन किये जायँ । 'अशोक' के 'घर्षमहामास्य', सातवाहनों के 'अमणमहामान्न', गृप्त राज्य के 'विनयस्थितिस्वापक','।

<sup>,</sup> संधिविग्रहकारी तु भवेद्यस्तस्य लेखकः । यात्रः १. ३१६-२० ।

२ प्रथम अमोधवर्ष के संजन दानप्रत्र का लेखक 'प्राड्विवाक' था । एपि. हंडि., १८, २३४ ।

३ वर्तमानाश्च प्राचीना घर्माः के बोक्सिश्रिताः । शास्त्रेषु के समुद्दिष्टा विरुध्यन्ते च केऽधुना ॥ कोकशास्त्रविरुद्धाः के पण्डितस्तान्त्रिचित्य च । नृपं संबोधयेत्तेश्च परत्रेष्ट सुस्त्रद्धैः ॥ शुक्र २, ९९-१००

८ एपि. इंडि. ८, १६१।

५ अ. स. रि., १६०३-४, १०९ धक २, १००

राष्ट्रक्टों के 'बर्मोकुश' और चेदि राज्य के 'बर्मप्रधान' सब इसी खेणी के अधिकारी थे। इसी विभाग के अंतर्गत मठ, मंदिर, पाठशाला और विद्यालयों को दान देने का कार्य भी रहा होगा।

शुक्र की सूची में अगला स्थान कोषाध्यद्ध का है जिसे 'सुमंत्र' का नाम दिया गया है। पर इससे अच्छा शब्द वैदिक काल का 'संग्रहीता' या कोंटिल्य का 'समाहतां' है। उत्कीण लेखों में इसे अधिकतर 'मांडागारिक' (कोष और मांडार का अधिकारी) कहा गया है। इस शब्द से इस पद के कर्तव्य का टीक-टीक ज्ञान होता है। साल भर में राजमांडार में कितना आया और गया और अंत में क्या बचा इसका पता रखना इसका काम थारे। राज्य को शुल्क या कर अधिकतर अनाज और पदार्थों में मिलता था। अतः मांडागारिक का काम बड़े झंझट का था। पुराने अनाज को वेचना ताकि वह सड़ न बाय और नया अनाज खरीद कर भांडार में रखना भी इसका काम था।

कीषाध्यत्त का पद बड़े महत्व का था। १०९४ ई० में शिहाहार राजा अनंत देव के केवल ३ मंत्री थे, फिर भी कोषाध्यत्त उनमें से एक था। महाभारत (१२. १३०. ३५) कागंदक नीतिसार (३१, ३३) और नीतिवाक्या-मृत (३१, ५) में कहा गया है कि कोष राज्य की जड़ है और इसकी देखरेख यत्नपूर्वक होनी चाहिये। गाहडवाल ताम्रपत्रों में 'कोषाध्यत्त्व' का नाम बराबर मिलता है। अन्य लेखों में यदि इसका नाम न हो तो संयोग वश ही।

अब माल मंत्री का नंबर श्रांता है। शुक्र की चूचीमें इसे 'क्षमात्य' का नाम दिया गया है। इसका काम राज्य भरके, नगरों ग्रामों और जंगलों तथा उनसे होने वाली आयका ठीक ठीक ब्योरा रखना था। इसके अतिरिक्त कृषि-योग्य और परती भूमि तथा खानों की अनुमानित आयका भी व्योरा इसके पास रहता था<sup>3</sup>। उत्कीर्ण लेखों में इसका उल्लेख बहुत कम हुआ है ।

१ इंडि. ऍटि. १८, २३०।

२ इयच संचितं द्रव्यं वस्तरेस्मिस्तृणादिकम् । व्ययीभृतमियवचैव शेषं स्थावरजंगमम् ॥ इयदस्तीति वै राज्ञो सुमंत्रो विनिवेद्येत्॥ ग्रुकः, २. १०१

<sup>₹</sup> 初布, २, 103-41

४ ग्यारहवीं शताब्दी के एक यादव केखमें इसका उत्तकेख मिलता है; एपि, 1, ए० २२१। चालुक्य छेखो में उत्तिकाखित 'महाभात्य' प्रधान मंत्रीका बोधक है मालमंत्री का नहीं।

यह खेदका विषय है कि राज्य शास्त्र के ग्रंथों या उस्कीर्ण हेखों से 'मंत्रि परिषद्' की कार्य प्रणाली का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं प्राप्त होता। साधारणतः मंत्रि-परिषद् की बैठक राजा की अध्यक्ता में होती थी। कहा भी गया है कि मंत्रियों की राय अपनी राय से भिन्न होने पर राजा कोच न करें । मनु की सलाह है (८. ५७) कि राजा मंत्रियों से सामृहिक और अलग-अलग दोनों प्रकार से मंत्रणा करे। संभव है कि अन्य मंत्रियों के सामने कोई मंत्री अपनी स्पष्ट राय देने में संकोच करे, इस लिए ग्रलग-अलग मंत्रणा करने की भी राय दी गयी है। शुक्र यह शंका करते हैं कि राजा की उपस्थिति।से मंत्री बहुवा सची और राजा को बुरी लगने वाली राय प्रकट करने में हिचक सकते हैं इस लिए वे यह राय देते हैं कि मंत्री ग्रपना अपना मत सप्रमाण लिखकर राजा के पास भेज दें । कौटिल्य उपस्थित विषयों से संबद्ध ३-७ मंत्रियों से एक साथ मंत्रणा करने के पद्ध में हैं । राजतरंगिंगी से पता चडता है कि कश्मीर में ये सभी प्रयाएँ प्रचलित थीं ।

फिर मी इम मान सकते हैं कि साधारणतः मंत्रिपरिषद् एक होकर कार्य करती यी श्रीर संयुक्त रूप से राजा को मंत्रणा देती थी। सम्यक् विचार के बाद मंत्रिपरिषद् एकमत होकर जो शास्त्र-सम्मत राय देती थी वह 'उत्तम मंत्र' समझा जाता या और उसका बहुत महस्व होता था"। कीटिल्य का कथन है कि गंमीर रियतियों में भी राजा को साधारणतः मंत्रिपरिषद् के बहुमत की राय माननी चाहिये, यद्यपि उचित समझने पर उसे इस राय से अद्या जाने का भी पूरा अधिकार था। है

१ मंत्रकाले न कोपयेत् । वार्हस्पत्य अर्थशास्त्र, २. ४३।

श् रागास्कोभाद्रयाद्वाज्ञः स्युर्म्का इव मंत्रिणः । न वाननुमतान्विद्यान्त्रपतिः स्वार्थेतिद्वये ॥ पृथक्पृथङ् मतं तेषां छेखयित्वा ससाधनम् । विस्रशेरस्वमतेनैव शस्कुर्याद्वदुसंमतम् ॥ १. ३६३-४ ।

३ भाग ३, अध्याय १५।

४ हाजा हर्ष अपने सब मंत्रियों से एक साथ मंत्रणा करते वर्णित किये गये हैं (अध्याय ७, १०४३ और १४१४ ) राजा जयसिंह थोड़े से मंत्रियों से ही मंत्रणा करते थे (८, ३०८२-३)

अ ऐकमत्यमुपागम्य बास्त्रद्येन चक्षुषा । मंत्रिणो यत्र निरतास्तमाहुमेत्रमुत्तमम् ॥ रामायया ६-१२ ६ तत्र यद्भूषिष्ठाः कार्यैसिद्धिकरं वा ब्र्युस्तस्कुर्युः । अर्थेबास्न, माग १, स. ६

अशोक के स्तंमशासन के तीसरे और छठें छेखों से मंत्रिपरिषद् की कार्य-प्रणाछी के विषय में और ज्ञान प्राप्त होता है। तीसरे लेख में कहा गया है कि 'मंत्रिपरिषद्' के निश्चय छेखबद्ध करके स्थानीय कर्मचारियों द्वारा प्रजा को समझाये नायें। छठें छेख से पता चलता है कि सम्राट् के मौखिक आदेशों और आवश्यक विषयों पर शोष्रता से किये गये विभागाध्यक्षों (अमात्यों) के निर्णयों पर 'मंत्रि-परिषद्' पुनर्विचार कर सकती थी। मंत्रि-परिषद् सम्राट् के आदेशों पर केवल सही नहीं कर देती थी वरन् श्रवसर उसमें संशोधन करती थी और कभी-कभी राजा को अपना विचार बदलने की सखाह भी देती थी। अशोक का आदेश था कि जब ऐसी परिस्थित उत्पन्न हो या जब परिषद् में मतभेद हो, तब मुझे सूचना दी जाय। अवश्य ही अंतिम निर्णय सम्राट् का ही होता था, फिर भी मंत्रि-परिषद् के अधिकारों की ज्यापकता और वास्तविकता इसी से सिद्ध हो जाती है कि उसके कहने से राजा अपने आदेशों पर पुनर्विचार करने को बाध्य होते थे।

शुंगों के समय में राजा के समान युवराज की भी मंत्रि-परिषद् होती थी। युवराज अग्निमित्र की भी प्रांतीय राजधानों में मंत्रि-परिषद् थी जो प्रांतीय शासन में अनकी सहायता करती थी। युवराज की अनुपरियित में भी मंत्रि-परिषद् की बैठक होती थी और उसके निर्णय स्वीकृति के लिए बाद में युवराज के पास भेज दिये जाते थे। व

पश्चिम भारत के शक राजाओं के समय में भी मंत्रि-परिषद् कायम थी। बद्धदामा के शिलालेख से पता चलता है कि गिरिनार बाँच ऐसी बड़ी आर्थिक योजनाओं पर मंत्रि-परिषद् से पहले राय ली नाती थी। खेद है कि हमें उत्तर भारत में गुप्त काल या उसके बाद मंत्रि-परिषद् के कार्यों के विषय में कुल जानकारी नहीं पाप्त होती; यद्यपि हम देख लुके हैं कि वह इन राज्यों की ख्रांगभूत संस्था थी। अस्तु यह मान लेना अनुचित न होगा कि मौर्य, शुंग, और शक राज्यों की भाँति गुप्त साम्राज्य में भी 'मंत्रि-परिषद्' एक संस्था की भाँति काम करती रही। ११वीं शताब्दी के चोळ राज्य से जो कुल ज्ञान होता है उससे इस धारणा की पुष्टि होती है। इस बंग के लेखों से जात होता है: कि दिख्ण भारत के चोळ राज्य में भी मंत्रि-परिषद् उसी माँति काम कर रही थी जिस प्रकार वह १३०० वर्ष पूर्व अशोक के राज्य में करती थी। अशोक की ही माँति चोळ राजाओं के मौस्तिक आदेशों पर भी इसे पुनार्वचार

१ माखविकाग्निमित्र, पंचम श्रंक।

करने का अधिकार था। १ इसकी सहमित के बाद ही राजकीय आदेश सरकारी

पुस्तकों में लिपिबद्ध किये जाते थे।

मंत्रिपरिषद् के दैनंदिन कार्य का विवरण शुक्रनीति से ही कुछ प्राप्त होता है । यद्यपि इसका रचनाकाल बहुत बाद में है फिर भी हम मान सकते हैं कि इसका विवरण पहले के समय का भी परिचायक है। शुक्र एक मंत्री को दो 'दर्शक' या सहायक ( केकेटरी ) देने की सिफारिश करते हैं, पर काम अधिक होने पर 'दर्शकों' की संख्या बढ़ाई भी जा सकती है, उघर यदि विभाग बहुत छोटा हो तो 'दर्शक' के बिना भी काम चलाया जा सकता है। अपनी योग्यता प्रदिशत करने पर 'दर्शक' बहुवा मंत्रि पद प्राप्त कर लेता था। शुक्र मंत्रियों को एक विभाग से दूसरे विभाग में बदलने का भी सकाह देते हैं। इससे योग्य मंत्री को अधिक महत्व के विभागों में जाने का अवसर मिलता था। इस प्रकार के परिवर्तन का प्रमाण पृथ्वीषेण के बारे में मिलता है, जो गुप्तकाल में साधारण मंत्री के पद से उठकर अंत में सेनापित और शुद्ध मंत्री के पद पर पहुँच गये थे ।

योग्य श्रोर महत्वाकां ही मंत्री अक्सर एक से अविक विभागों को सँभाळते थे, यथा कश्मीर नरेश जयापी है के राज्य में सुरजी न्याय और युद्ध दोनों विभागों के मंत्री थे। थोड़े ही समय बाद अलंकार प्रधान न्यायाधीश और प्रधान सेनापित पद पर नियुक्त किये गये । पर विरले ही व्यक्तियों को दो पद एक साथ दिये जाते थे; साधारणतः एक मंत्री को एक हो विभाग मिळता था। आखक भी कभी कभी एक मंत्री के जिम्मे एक से अविक विभाग

दिये जाते हैं।

जब किसी विषय में कोई निश्चय होता या तो उत विभाग का मंत्री उते

१ सी॰ इं॰ इं, ३ सं०, २१; ए॰ क॰, १०, कोकार सं० १११।

२ एकस्मिन्नधिकारे तु पुरुषाणां त्रयं सदा ।

नियुष्मीत प्राज्ञतमं सुरुषमेकं तु तेषु वै ॥
द्वी दर्शकी तु तत्कार्ये हायनैस्तान्निवर्तयेत् ।

निर्मानी पंचमिनीप सप्तमिर्दशमित्र वा ॥
अधिकारवर्लं दृष्ट्वा योजयेद्दर्शकान्बद्धन् ।
अधिकारवर्लं दृष्ट्वा योजयेद्दर्शकीर्वना ॥ श्चक, अध्याय २, १०६-१ १५

इ एपि. इंडि., १०, ७३

४ राजतरंगियी, ८, १६८२-४; २९२५ ।

लिपिबद्ध करता था श्रीर श्रंत में यह लिखता था कि इस निश्चय पर उसकी पूर्ण स्वीकृति है। इसके बाद वह लिपि मुहरबंद करके राजा के पास मंजूरी के लिए भेजी जाती थी। राजा स्वीकृति के लिए उस पर स्वयं इस्ताच्चर करता था या युवराज को अपनी ओर से इस्ताच्चर करने के लिए कह देता था। इसके बाद वह आदेश प्रकाशित किया जाता था या संबंधित विभाग या श्रिकारियों के पास कार्यान्वित करने के लिए भेज दिया जाता था।

अब हमें यह देखना है कि मंत्रिपरिषद् के लिए क्या योग्यता अपेद्धित थी। अर्थशास्त्र तथा श्रन्य ग्रथों से पता चलता है कि इस विषय में एकमत नहीं था। कुछ शास्त्रज्ञ योग्यता का महत्व देते थे कुछ राजभक्ति को। कुछ की राय थी कि मंत्रियों की नियुक्ति राजा के सहपाठियों से होनी चाहिये। औरों का मत था कि विशिष्ट स्वामिमक और बाँचे हुए परिवारों से ही मंत्री लिये जाने चाहिये। कौटिल्य इन सब मतों को उपयोगी मानते थे और ऐसे व्यक्तिको जुनने की सलाह देते हैं जिनमें उपर्युक्त अधिकांश गुणों का योग हो। उनके अनुसार आदर्श मंत्री देश का ही निवासी, ऊँचे कुछ का, प्रतिष्ठित, कलाकुशल, दूरदर्शी, प्राज्ञ, मेवाबी, निर्भीक, वाग्मी, चतुर, तीत्रमति, उत्साही, मनस्वी, धीर, शुद्ध-चरित्र, मृदु, स्नेही, अटल स्वामिमक्त, बल, पराक्रम श्रीर स्वास्थ्य से युक्त, अस्थिर-चित्तता और दीर्घ-सृत्रता से मुक्त और देष तथा शत्रुता उत्पादक दुर्गुणों से रहित होता है । श्रन्य ग्रंथकारों का भी यही आदर्श है । अवस्य ही इन सब गुणों का एक व्यक्ति में उपस्थित होना असंभवपाय ही है। अस्तु, इनकी गिनती कराने का ताल्पर्य यही था कि मंत्री का चुनाव करते समय उपर्युक्त आदर्श स्थान में रखा जाय।

अब हमें देखना है कि वास्तव में मंत्रीगण इस आदर्श के कितने निकट तक पहुँच पाते थे। यदि राजा ऋयोग्य, दुष्ट-प्रकृति और अस्पिर-चित्त होता या

१ मंत्री च प्राद्विवाक्श्च पंदितो इनसंज्ञकः । स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं लिखेयुः प्रथमं त्विमे ॥ स्वमुद्दाचिद्धितं च लेख्यांते कुर्युरेव हि । अंगीकृतमिति बिखेन्मुद्दयेच ततो नृपः ॥

शक, २,६६३,६७

२ अर्थ., भाग १, अध्याय ५।

३ म. भाः द्वादश पर्वं, अध्याय ८२-५ । कार्मः नीतिसार ४. २५-३१ । श्रोर ग्राक्रनीति २. ५२-६४ ।

तो उसके चुने हुए मंत्री भी निकम्मे खुशामदी ही होते थे। यथा कश्मीर के राजा उत्मत्तावंति ने गानेवालों को और चक्रवर्धन ने श्रपनी नयी प्रेमिका के रिश्तेदार डोमों को अपना मंत्री बनाया था। मौर्यवंश के राजा बृहस्पतिमित्र, शुंगवंश के देवभूमि, राष्ट्रकूट चतुर्थ गोविंद तथा इसी प्रकार के अन्य दुईत और निकम्मे शासकों का भी यही हाल रहा होगा। पर इतिहास को कलंकित करनेवाले ऐसे राजा श्रिषक न थे। पुरातत्व और साहित्य की सामग्री का अध्ययन करने से यही प्रकट होता है कि योग्य और शास्त्रश्च मंत्रियों की प्राप्ति के लिए बड़ी चेष्टा की जाती थी। द्वितीय चंद्रगुप्त का मंत्री शास नीतिश और किव बखाना गया है । राष्ट्रकूट तृतीय कृष्ण का मंत्री नारायण राजविद्या का पारंगत कहा गया है । यादव राजा कृष्ण के मंत्री नारायण राजविद्या का पारंगत कहा गया है । यादव राजा कृष्ण के मंत्री नारास्त्र के विषय में कहा गया है कि राजनीति शास्त्रों के गहन अध्ययन से उसका बुद्धिकोशल बहुत बढ़ा चढ़ा था । अतः यह मानना गलत न होगा कि प्रायः श्र च्छी शासन-व्यवस्था में वे ही ब्यक्ति मंत्री पद पर नियुक्त किये जाते थे जो राजनीति शास्त्र के पांडित्य और शासन के व्यावहारिक ज्ञान के लिए प्रख्यात होते थे।

स्मृतिकारों के मतानुसार यथासंभव मंत्रियों के पुत्र या वंश के अन्य होगों को मंत्रियों की निष्ठिति के समय प्रधानता दी जाती थी। गुप्त राज्य के मंत्री शांव और पृथ्विषिण के वंश में मंत्रिपद कई पीढ़ियों से चला आता थां । परिव्राज्य में ४८२ ई० में सूर्यदत्त नामक त्यक्ति मंत्रिपद पर थां, २० वर्ष बाद उसका पुत्र विश्वदत्त भी उस पद पर वर्तमान थां । उच्छ-कल्प वंश के शासन में सन ४६६ ई. में गल्छ परराष्ट्र मंत्री था, और सन ५३२ ई० में उसका भाई मनोरथ उसी पद पर प्रतिष्ठित हुआ ।

चंदेल राज्य में एक ही वंशकी र पीढ़ियों ने, जिसमें प्रमास, उसके पुत्र शिवनाग, उसके पुत्र महीपाल, उसके पुत्र अनंत ग्रीर उसके पुत्र गदाघर थे, चंदेल वंशको सात पीढ़ियों की सेवा की, जिसमें घंग, उसके पुत्र गंड, उसके

१ शब्दार्थन्यायनीतिज्ञ: कवि: पाटलिपुत्रक: । कॉ. इं. इं. ३. ३४

२ पारगो राजविद्यानां कविमुख्यः प्रियंवदः ॥ एपि, इंडि., ४. ६०

३ अनेकराजनीतिशास्त्रीक्तबिवेकवित्तबुद्धिकौशाबः । इं. एं., १२. १२६

४ शाव का विशेषण है 'अन्वयप्राप्तसाचित्यः'। पृथ्वीषेया, प्रथम कुमार गुप्त का मंत्री था और उसका पिता शिखरस्वामी द्वितीय चंद्रगुप्त का मन्त्री था। ए. हंदिका, १०, पृ० ७१।

४ कॉ. इं. इं., ३, ए. १०४, १०८. ६ वही, पृ. १२८

पुत्र बिद्याघर, इसके पुत्र विश्वयपाल, उसके पुत्र देववर्मन्, उसके माई कीर्ति-वर्मन्, उसके दो पुत्र सल्लक्ष्मण्यस्नं और पृथ्वविर्मन् और सल्लक्ष्मण्यम्न का पुत्र जयवर्मन् ये ७ राजा थे । इसी वंद्य में राजा मदनवर्मन् का मंत्री लाह्य या, और मदनवर्मन् के पौत्र परमर्दि देव के मंत्री कमदाः लाह्य के पुत्र और पौत्र सल्लक्षण और पुरुषोत्तम हुए । इससे पता चलता है कि मंत्री की नियुक्ति में वंद्यपरंपरा का ध्यान रखने का स्मृतियों का आदेश यथासंभव व्यवहार में लाया जाता था।

कभी कभी राजवंश के सदस्य भी मंत्री बनाये जाते थे। यथा कश्मीर के राजा हुए ने एक पूर्वती राजा के दो पुत्रों को अपने मंत्रियों के पद पर नियुक्त किया<sup>3</sup>; और चाहमान राजा धीसल्देव ने अपने पुत्र सल्लच्चणपाल को ही अपना प्रचान मंत्री बनाया । पर राजवंश के दूरवर्ती सदस्यों को भी मंत्री बनाने मे यह खतरा भी था कि वे सिंहासन पर ही कब्जा करने का षड्यंत्र न करने लगें; अतः यह प्रचा बहुत प्रचलित न थी।

समृति और नीतिकार मंत्री में सैनिक योग्यता होना आवश्यक नहीं मानते । पर पुरातस्व के लेखों से पता चलता है कि साधारणतः मंत्री सैनिक नेता भी हुआ करते थे। समुद्र गुप्त का संविवग्रहिक हरिषण 'महाबलाधिकत' या महासेनापित भी था। इक्ष्वाकु और वाकाटक राजाओं के प्रांताचिपित सेना-पित भी होते थे, और यही बात संभवतः मंत्रियों के संबंच में भी थी। गंगवंशी राजा मारसिंह के मंत्री चामुण्डराय ने गोनूर की हड़ाई जीती थी । सन १०२४ ई. में उत्तर चालुक्य वंशी राजा का मंत्री, महाप्रचंड दंड नायक अर्थात् उच्च सैनिक अधिकारी भी था। कल्चुरि वंशी राजा बिजलदेव के सर्व मंत्री दंडनायक या सेनापित भी थे । आक्षर्य की बात तो यह है कि हमाद्रि जैसा व्यक्ति भी, जिसने ब्रत और घामिक अनुष्ठानों पर इतना अधिक हिला है, न केवल युद्धगर्जों की शिक्षा के सिद्धांत और व्यवहारका ही ज्ञाता था वरन उसने स्वयं झंडी (छिंदवाडा) जिले के एक विशेही सरदार का दमन भी किया

१ एपि. इंडिका, साग १ पृ. १६७। २ वही, पृ० २० ६-२११।

३ राजतरं ८,८७४। ४ इंडि. एटि. साग १६ पृ. २१८।

प कौटिक्य, कामंदक और सोमदेव केवल बोंही कह देते हैं कि मंत्री वीर भी होना चाहिये पर सैनिक योग्यता पर कोई विशेष जोर नहीं देते ।

६ एवि, इंडिका, माग ५ ए. १७३।

७ इंडि. पुँटि., भाग १४ पृ.२६।

था । यादव राजा कृष्ण का प्रधान मंत्री नागरस जितना बड़ा विद्वान् था उतना ही प्रसिद्ध योद्धा भी या ।

स्मृतियाँ मंत्रियों के चुनाव में ब्राह्मण को प्रचानता देती हैं। व्यवहार में इस पर कहां तक अमल किया जाता या यह ज्ञात नहीं। उत्कीण लेखों में उल्लिखत मंत्रियों की जाति प्राय: नहीं दो गयी है। पर अधिक संभावना है कि मंत्रियों में सभी जातियों और वर्गों के सदस्य होते थे। महाभारत के अनुसार राजकीय परिषद में ब्राह्मण केवळ ४ होते थे जब कि च्रतियों की संख्या द, वैश्यों की २१ और श्रद्धां को ३ होतो थी । श्रुक का कथन है कि जाति और कुल विवाह के समय ही पूछना चा हये, मंत्रियों को लेना चाहियें। श्रुक को तो सेनाधिप का पद श्रुद्ध को भी देने में आपत्ति नहीं है थित वह उसके योग्य और विश्वास पात्र हो । प्राचीन भारत के अधिकांश राजा अब्राह्मण थे और संभवतः उनके मंत्री भी अधिकांश श्रद्धाह्मण होते थे, खास कर इस लिए कि उनमें सैनिक योग्यता भी अपेक्षित थी।

मंत्रियों की नियुक्ति राजा करते थे। प्राचीन भारत में ऐसी कोई केंद्रिय प्रतिनिधी समा न थी जिसके प्रति मंत्री जिम्मेदार होते। अतः प्रत्यचरूप से भी मन्त्री राजा के प्रति जिम्मेदार थे और अप्रत्यच रूप से ही जनमत के

१ जर्नेल, रा. ए. सो. भाग ५ पृ. १८३।

२ इंहि. ऐंटि., भाग १४ पृ. ७०।

र चतुरो ब्राह्मणान्वैदयान्त्रगरुभान्स्नातकाञ् शुचीन् । च्रित्रयान् दश चाष्टौ च बितनः शस्त्रपाणिनः ॥ वैद्यान्वित्तेन संपद्मानेकविंश तसंख्यया । त्रीरच शुद्धान्विनीताँरच शुचीन्कर्मणि पूर्वके ॥ १२. ८५. ७-८

४ मैव जाति न च कुछ केवछ बचयेदि ।

कर्मद्वीलगुणाः पूज्यास्तथा जातिकुछेन च ॥

न जात्या न कुछेनैव श्रेष्टस्वं प्रतिप्रद्यते ।

विवाहे भोजने नित्यं कुछजातिविवेचनम् ॥ शुक्र, ३. ५४-५

<sup>4 9. 441</sup> 

६ स्वबर्मनिरता नित्यं स्वामिभक्ता रिपुद्विषः । शूद्रा वा चित्रया वैश्या म्हेच्छाः संकरसंमवाः । सेनाबिपाः सैनिकारच कार्यां राज्ञा जयार्थिना ॥ शुक्र २. १३३ ।

प्रति । अतः मंत्रियों का प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर ही निर्मर था, उन्हें किसी लोक प्रतिनिधि संस्था के समर्थन के वैधानिक बल का सहारा न था। विम्बिसार ऐसे शक्तिशाली और स्वेच्छाधीन राजा ठीक सलाह न देने पर मंत्रियों को निकाल सकते थे, अयोग्यता के कारण नीचे पद पर उतार सकते थे और अच्छो राय देने पर पददृद्धि भी कर सकते थे? । ऐसे राजाओं के मंत्रियों की स्थिति बड़ी कठिन होती थी । रावग की भांति वह अपने मंत्रियों से सदा अपनी हां में हां मिलाने की आशा करते थे और उनके प्रतिकृत हितकी बात कहने पर भी मंत्री को अपने पद से हाथ धाने के लिए तैयार रहना पड़ता यार । कभी कभी तो अपिय राय देने के कारण उन्हें निर्वासन ओर संपत्ति-हरण का भी दंड भोगना पड़ता था । परंतु इस चित्रका दूसरा पहलू वह भी है जब राजा के दुर्बल होने पर मंत्री सिहासन पर कब्जा करने की ताक में रहते थे। राजा और मंत्री में बराबर तनातनी और परस्पर अविश्वास रहता था और मंत्री राजा के सर्वनाश का षड़यंत्र रचा करते थे । सावित्री के पित सरयवान के पिता का राज्य मंत्रियों के षड्यंत्र से ही गया था और ऐतिहासिक युगमें मौर्य और शुंग वंश के अंतिम राजाओं का भी यही हाल हुआ।

परंतु उपरि निर्दिष्ट दोनों प्रकार की भी स्थिति असाधारण थी। साधारणतः राजा अपने मित्रयों का बहुत सम्मान करते थे और मंत्री भी स्वाभिभक्त होते थे तथा अपने की प्रजा के हितों का संरचक समझते थे। मंत्री राज्य के स्तंम माने जाते थे और राजा साधारणतः उनकी राय पर ही चळते थे, यद्यपि सब बात

१ चर्ळवसा ४. १.

२ संपृष्टेन तु वक्तव्यं सिववेन विपश्चिता । वाक्यमप्रतिकृष्ठं तु सृदुपूर्वे हितं शुभम् ॥ सावमर्दे तु यद्वाक्यं मारीच हित्तमुच्यते । नामिनंदति तदाजा मानाहों मानवर्जितम् ॥ एतत् कर्ममवक्यं में बळाद्षि करिष्यसि ॥ रामायण, कांड ३.

अध्याय ४०. ९-१०; २४

३ राजतरंगियी २. ६८; ६.३४२।

४ सदैवापद्गतो राजा भोग्यो भवति मंत्रियास्, अत एव हि बान्छन्ति मंत्रियाः सापदं नृषस् । पंचतंत्र ए. १६

५—श्रंतःसारैरकुटिलैरब्बिद्धैः सुपरीचितैः । मत्रिमिर्धार्यते राज्यं सुस्तंभैरिव मंदिरम् ॥ पंचतंत्र पृ. ६६

की पूरी जिम्मेदारी राजा पर ही होतीं थी? । मंत्री का सबसे बढ़ा श्रीर पहला कर्तव्य यही था कि राजा को कुमार्ग पर जाने से रोके और उस पर नियंत्रण रखे? । कामंदक का कथन है कि वे ही मंत्री राजा के सुहद हैं जो उसे उत्पश्च जाने से रोकते हैं । मंत्री वही है जो एकमात्र राज्य-कार्य-मार की ही जिता करे, राजा के मन की ही करने के फेर में न रहे और राजा भी जिसका अदस करें । राज्यव्यवस्था में मंत्रियों का स्थान इतने महत्वका था कि कुछ आचार्यों के मतानुसार किसी भी राज्य के लिए इससे बढ़ा संकट कोई न हो सकता था कि उसके मंत्री नादान निकले था शत्रु से मिल जायं ।

मंत्रियों की शक्ति और प्रतिष्ठा बहुत कुछ उनके व्यक्तित्व पर ही निर्भर की। इमारे विधानशास्त्रियों ने कहा है कि जब राजा शक्ति शाली होते थे तब अधिकार उन्हों में केंद्रित रहता था और शासन 'राजायत्त-तंत्र' कहा जाता था और बब राजा हुके और मंत्री शक्ति शाली होते थे तब अधिकार मंत्रियों में केंद्रित रहते थे और शासन 'स्विवायत्त-तंत्र' कहा जाता था। साधारण स्थिति में अधिकार दोनों में विभाजित रहते थे और शासन 'स्मयायत्तं' दोनों पर समान रूपसे टिका हुआ समझा जाता था।

इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि साधारणतः राजा मंत्रियों का बहुत मान करते थे श्रीर उनकी राय पर चलते थे। राष्ट्रकृट राजा तृतीय कृष्ण (६१९) का संघिविग्रहिक मंत्री नारायण उसका 'दिच्या इस्त' कहा गया है । पथरी के नृपति परवल ( ६५९ ई. ) अपने मंत्री को 'शिरसा वंदनीय'

१ -- तद्यद्भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा बृद्यः तस्क्रयात् ।

अर्थशास्त्र, भाग १ अध्या १४

२-ये एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुः । वही, भाग १. अध्याय ६ ।

६--- नृपस्य त एव सुहृद्स्त एव गुरवो मताः।

य प्नमुत्पथगतं वार्यात्वनिवारितम् ॥ ४. ४१

४— सा मंत्रिता च यद्गाज्यकार्यभारैकवितनम् ।

चित्तानुवर्तनं यत्तदुपजीवकबद्याम् ॥ कथासरित्सागर, १८. ४६।

४—मारहाज भी इसी मत के थे। अर्थ, भाग, ८, अध्याय १।

६- सदाराचस तृतीय अंक । कथासिरत्सांगर १, ४८-६ ।

७- तस्य यः प्रतिहस्तोऽभूत् प्रियो दाचिगाहस्तवत् ।

<sup>्</sup>रद्वि. इंडिका, भाग ४, पृ-६०

मानता था। यादव नरेश कृष्ण के लेख में उसके प्रधान मंत्री की उपमा उसकी जिल्ला और दिखण कर से की गयी है? । इसी वंशके एक अन्य लेख में राष्ट्रको पुष्टि, प्रजाजन की तुष्टि, घमैंकी वृद्धि और सकल अभी की सिद्धि सब कुछ मंत्रियों की कार्यकुशलता और कर्तब्यभावना पर निर्भर बतायी गयी है।3

हम देख ख़के हैं कि राजायत्त शासनमें मंत्री बिलकुल राजा के हाथ में रहते थे पर जब मंत्री प्रभावशाली होते थे और मिलकर काम करते थे तो राजा का कुछ न चलता था। परंपरा से यह बात सुनी जाती है कि चंद्रगुप्त मौर्य अपने मंत्री कौटिल्य के बदा में थे। अशोक के मंत्रियों ने सफळता पूर्वक उसके अंबाधंच दान-प्रवृत्ति का विरोध किया या और उस कारण एक अवसर पर अशोक केवल आधा आंवला मात्र ही संघ को दे सके थे । इस ऐतिहासिक दान की रमृति सुरचित करने के लिए उस पर एक स्तूप बनाया गया जिसे युश्रान व्वांग ने ७वी सदी में देखा था। युकान ब्वांग यह भी बताते हैं कि श्रावरती के राजा विक्रमादित्य प्रतिदिन ५ लाख मुद्राएं दान देना चाहते थे पर मंत्रियोंने यह कहकर इसका विरोध किया कि इससे शीध ही खजाना खाली हो जायगा और नये कर लगाने पहेंगें। राजा के दानकी प्रशंसा होगी मगर मंत्रियों को प्रजा की गाली सुननी पढ़ेगी ।

पादंबिक बातक ( सं ॰ २४७ ) में कथा है कि मंत्रियोने पादंबिक को इसलिए युषराज न बनने दिया कि वह बुध्दिहीन था। यह तो केवळ कथा है पर राजतरंगिणी मंत्रियों के महान प्रभाव के ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करती है। राजा अजयपीड मम्म और अन्य मंत्रियोंके निर्णय से ही राज्य श्रुत किया गया (४,७०७)। मंत्रियोंने ही राजपदके सब उम्मेदवारों में शूर की सबसे योग्य निश्चय करके उसे राजगद्दी दी (४,७१५)। राजा कळश अपनी मृत्युशय्या से अपने पुत्र हर्ष को यवराज बनाना चाहता या पर मंत्रियों

१ - परवतनुपतेर्मूब्न वंद्यः । वही, साग ६, पृ. २१४.

२-यो जिह्ना पृथिवीशस्य यो राज्ञो दिल्लाः करः । इं. ऐं., ४, ७०

३ - राष्ट्रस्य प्रष्टिः स्वजनस्य तुष्टिर्धर्मस्य वृद्धिः सक्कार्थसिद्धिः । नंदंति संतः प्रसरंति कष्म्यः श्रीचंगदेवे सति सत्प्रधाने ॥

E. Q., C. 8,

४ मृत्यै। स मृमिपतिरेष हताधिकारः दानं प्रयच्छति किळामलकाधंमेतत्॥ दिब्यावदान पृ० ४३२

५ बें।टर्स, साग १ पृ० २११

के हृद् विरोध के कारण उसकी अंतिम इच्छा स्पष्ट न हो सकी (७, ७०२)। अनेक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि राजा के निस्हंतान मरजाने पर मंत्री ही उत्तराधिकारीका निर्णय करते थे। सिंहल के राजा विजय की मृत्यु पर उसके मंत्रियों ने एक वर्ष तक राज्य संभाला, और उसके मतोजे के भारत से लौटने पर उसे शासन स्त्र सौंपा । हर्ष को कन्नोज का राज्य मौखिर राज्य के मंत्रियों ने ही प्रदान किया।

फिर भी साबारण स्थिति में मंत्रियों की मंत्रणा पर श्रांतिम निर्णय करने का काम राजा का ही था । पर वह साधारणतः मंत्रियों की सलाह का सहारा लेता था । राजा और मंत्रियों में सौहार्द्र रहता था । राजा अपने मंत्रियों को बहुत मानते थे श्रीर अपने हृदय के समान समझ कर उनपर विश्वास करते थे । वे उन्हें अपने दाहिने हाथके समान मानते थे और उनकी आजाको अपनी आजा समझते थे । कल्हण ने वर्णन किया है कि राजा जयसिंह अपने रूग्य मंत्रीके अंतिम च्रण तक उसकी शेंट्या के पास बैठे रहे (८, २६२९)। यह उदाहरण अपवादारमक मानने का कोई कारण नहीं है।

बहुषा लिलतादित्य ऐसे शिक्तशाली राजा भी अपने मंत्रियों को इस बात की स्वतंत्रता दे देते थे कि यदि उनकी कोई आजा अनुचित जान पड़े या ऐसे समय दी गयी हो जब वे पूरी तरह होश में न हों तो मंत्री उसका पालन न करें, और ऐसा करने पर अपने मंत्रियों को घन्यवाद देने से भी वे न चूकते थे। मंत्री भी बराजर राजा और प्रजा दोनों के हित का ध्यान रखते थे। राजा जयापीइ के बंदी हो जानेपर उसके एक मंत्रीने अपने प्राण दे दिये ताकि उसके फूले हुए शबके सहारे राजा नदी पारकर शत्रुओं के पंजेसे मुक्ति पा सकें । दिख्ण के हतिहास में इसके बहुत से उदाहरण मिलते हैं जब मंत्रियों ने राजाकी मृत्यु के समय प्राण दे देनेकी प्रतिज्ञा की और अवसर आनेपर उसका पालन भी

१ महावंश अध्याय ९ ।

२ घृतेऽपि मंत्रे मंत्रज्ञैः स्वयं भूयो विचारयेत् । तथा वर्तेत तरवज्ञो यथा स्वार्थं न पीडयेत् ॥ कामंद्रक ११–६० ।

३ विश्वासे हृदयोपसम् । ज. बॉ. ब्रॅ. रॉ. ए. सो., ११. ४

४ यो जिह्ना पृथिवीशस्य यो राज्ञो दिचयाः करः । इं. एं. १४. ७० \*

५ कार्यं न जातु तद्वाक्यं यत्की बेण मयोज्यते ।

तान्युक्तकारिणोऽमात्पान्प्रशंसचिति सोऽव्रवीत् ॥ राजतरंगिणी, ४,३२०।

६ राजतरिंगणी ४, ५७५ ३-ए. क., ५, बेलूर न० १२।

किया। होयसल राजा दितीय बल्बाल के मंत्रीने यह प्रतिशा की थी और राजाकी मृत्यु के बाद उसकी रानी के साथ मंत्रीने भी एक ऊँचे स्तंभ पर से कूदकर अपने प्राण दे दिये । कर्नाटक के इतिहास में ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं ।

इसमें तो संदेह नहीं कि गुणग्राही और कतृ त्वशाला राजा और मिक्तमान श्रीर कुशल मंत्री हनका संयोग वारंबार नहीं होता था<sup>3</sup>। परंतु यह भी मानना पढ़ेगा कि नृप-मंत्रियों का स्पृहणीय सहकार्य इतना अपवादात्मक भी नहीं या जितना श्राजकल के कोग मानते हों। अनेक प्रकार के प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि मंत्रिमंडल का राज्यकारभार पर प्रायः अच्छः असर पड़ता या श्रीर वैचानिक तौर से जनता के प्रति उत्तरदायों न होने पर भी मंत्रिमंडल अपनी शक्तिभर प्रजा के हितसायन का प्रयत्न करता था।

NEW YEAR OF A

१ ए. क., ५, बेलूर नं० १२।

१ ए. क., १ अर्फ उगड, सं. ५, २७; ६, काहर सं. १४६; १०, कोळार सं. १८६ मुळवागळ सं. ७७-७८

३ कृतज्ञः चांतिमान्द्रमाभ्रन्मंत्री सक्तः स्मयोज्यितः । असंगुरोयं संयोगः सुकृतेजातु दश्यते ॥ परस्परमञ्जूषञ्चमन्युकालुष्यदृषणौ । न दशै न श्रुतौ वान्यौ तादशौ राजमंत्रियौ ॥ राष्ट्रतः, ५. ४६३-४

### अध्याय ६

# केन्द्रीय शासन-कार्यालय और शासन-विभाग

पिछले अध्यायों में हमने शासन व्यवस्था के ज्ञान-केंद्र राजा और मंत्रि परिषद् के अधिकारों और कार्यों की विवेचना की है। पर जिस मकार ज्ञान-केंद्र को मिरतक के आदेशों को पूरा करने के लिए शरीर के विविध अंगों और इंद्रियों की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार सपरिषद् राजा के लिए भी केंद्रीय शासनकार्यालय तथा अनेक कार्याध्यद्यों की श्रावश्यकता है। इस अध्याय में हम केंद्रीय सरकार के शासनालय तथा विभिन्न विभागों की व्यवस्था की समीद्या करेंगे। यहाँ भी हमें याद रखना चाहिए कि हमारे पास समग्री बहुत थोड़ी है और हमें विभिन्न प्रांतों और कालों के विविध्न राजवंशों के शासन से विखर तथ्यों को जोड़-जाड़कर एक रूपरेखा बनानी है।

वैदिक काल में लेखन कला का या तो श्राविष्कार न हुआ था, या उसका अधिक उपयोग न किया जाता था। इसीलिए इस युग में शासनकार्यालय के विकास की आशा नहीं की जा सकती। शासन आदेश राजा या समिति द्वारा मौखिक रूप से दिये जाते थे और गाँवों में संदेश-वाहकों द्वारा घोषित- किये जाते थे। राज्य छोटे होते थे इसलिए इस प्रशाली में कोई असुविधा भी न होती थी और दूसरा उपाय भी न था।

उत्तर वैदिक काळ में शासनकार्या जय का क्रमशः जिस प्रकार विकास हुआ इसका इतिहास जानने का कोई साधन नहीं है। लेखन कला का प्रचार बढ़ता का रहा था, साम्राज्यों का विकास हो रहा था, शासनकार्य का भी विस्तार हो रहा था, अतः युधिष्ठिर श्रीर जरासंच जैसे पौराणिक और अन्नातशत्रु और महापद्म नंद जैसे ऐतिहासिक समारों के शासन में भी किसी प्रकार का केंद्रीय शासनकार्यां व्यासन वहां होगा। पर इसका स्वरूप जानने के कोई साधन नहीं हैं।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मीर्य काल में शासनकार्यास्य का पूरा विकास और संघटन हो जुका था। विकिष्म विभागों के बस्ने अधिकारी 'लेखक' कहे जाते थे। ये 'लेखक' साधारण 'क्रकं' न थे। क्योंकि कौटिल्य का कथन है कि 'लेखक' का पद 'अमास्य' के बराबर होना चाहिये?, जिसका पद और वेतन केवल मंत्री से ही नीचा होता था। सातवाहनों के शासन काल में भी 'लेखकों' का यही पद बना था। उनके संपत्ती का अनुमान इसी से हो सकता है कि उनके द्वारा बौद्ध मिल्नुओं के लिए बहुमूल्य गुफाएँ निर्माण कराने के उल्लेख बहुत मिलते हैं 3।

शासन की उत्तमता बहुत कुछ सचिवालय के कर्मचारियों की कार्यपद्धता और केंद्रीय शासन के आदेशों के ठीक-ठोक लेख बद्ध करने की योग्यता पर निर्मर करती थी। कौटिल्य कहते हैं कि 'शासन' (सरकारी आदेश) ही सरकार है' । शुक्र का कथन है कि "राजसका राजा के शरीर में नहीं उसके हस्ताच्चरित और मुद्रांकित शासन में रहती है"। यह दिखाया जा जुका है कि आजकल की भाँति प्राचीन काल में भी बहुवा मंत्रिपद अनुमवी और ऊँचे पदांविकारी या अमार्त्यों को ही प्रदान किया जाता था। इसिक्टिए अमार्त्यों के जुनाव में बड़ी सावधानी वर्ती जाती थी। मंत्रियों को भाँति उनमें भी ऊँचे दर्जे की शिचा, कार्यपद्धता और स्वामिमिक्त की अपेचा की जाती थी। सबसे बड़ी आवश्यकता लेखनपद्धता की थी, क्योंकि उनका मुख्य कार्य राजा या मंत्री के मौखिक आदेशों को शीन्नातिश्रीन ठीक-ठीक लेखन इसरना था। वे पहले के लेखों को भी देख लेते थे ताकि पहले के आदेशों या सिद्धांतों का नये आदेश से बिरोन न हो। इसके पश्चात् वे नये आदेश की शब्दगीजना करते थे को संगति, पूर्णता, चारता, गंमीरता और

१ स्मरण रखना चाहिये कि शासनकार्यां क्य का विकास प्राचीन रोम में भी हेिंड्यन के समय ( २री सदी ईसवी ) में ही हो पाया था, जब कि मारत में यह कम से कम २री सदी ईसवी पूर्व तक तो अवस्य हो गया था।

२ अर्थशास्त्र भाग २, अध्याय १०।

**१ एपि. ंडि.,** ७ नासिक ग्रुफा<del>वेख सं.</del> १६,२७

**४ न्नासने शासनमित्याचवते । माग २ म, १०** 

स्पष्टता श्रादि गुणों से युक्त होती थी। शब्दावडंबर बचाते हुए, प्रभावशाली शैली में सरकारी आदेश की आवद्यकता समझाते हुए, समयक्रम से या महत्व के क्रम से तथ्यों को रखते हुए हेल लिखा जाता था?। लेख तैयार होने पर विभाग के अध्यच्च या मंत्री को दिखाया जाता था और तत्पश्चात् राजा की स्वीकृति और इस्ताच्चर के लिए पेश किया जाता था। इस्ताच्चर के बाद, मुहर लगाकर आदेश संबंधित कर्मचारियों के पास उपयुक्त काररवाई के लिए मेज दिया जाता था।

यूनानी इतिहासकारों ने सार्वजनिक कर्मचारियों (कौंसिलर और असेसर ) की जिस सातवी जाि का वर्षन किया है संभवतः उसका तात्पर्य सचिवालय के उक्त कर्मचारियों से ही था। इस जाित के ही होग उक्त सरकारी पदों पर थे और सार्वजिक शासन कार्य में प्रमुख भाग लेते थे। यह जाित संख्या में अधिक न थी पर अपने बुद्धिवल और न्यायित्रयता के लिए प्रख्यात थी। यूनानी लेखकों ने यह भी लिखा है कि प्रांतीय शासकों और उच्चाधिकारियों, कोष और कृषि विभाग के अध्यक्तों और सेना के विभिन्न विभागों के नायकों को भी इसी जाित में से चुना जाता था। इससे सप्ट है कि केंद्रीय शासनालय के उक्त अधिकारी ही इन पदीं पर नियुक्त किये जाते थे।

दुर्भाग्यवश शुंग, सातवाहन और गुप्त काल में केद्रीय शासनालय की कार्य प्रणाली के विषय में हमें कुछ जानकारी नहीं हैं। परंतु यह अनुमान किया जा सकता है कि इस समय भी पूर्ववत् कार्य होता रहा होगा, क्योंकि मध्ययुग तक कश्मीर में भी, जहाँ शासनकार्य में अंघाधंघी बीच बीच बहुत हुआ करती थी, केद्रीय शासनालय शासनव्यवस्था का नियमित अंग था। राजतरंगिणी में केद्रीय शासनालय के कर्मचारियों द्वारा राजाजाओं के लेख-बद्ध किये जाने के उल्लेख हैं। १२ वीं सदी में चाइमान और चौछक्य शासन में सचिवाज्य 'शी-करण' कहा जाता था।

अन्य विषयों की मांति इस विषय में भी सबसे अधिक जानकारी चोल राज्य के लेखों से प्राप्त होती है। जब राजा किसी विषय पर आज्ञा देते थे तो उससे संबंधित सब श्रिधिकारी उस समय उपस्थित रहते थे। एक लेखक उसे मूळ लेखके अनुसार जिखता था और अन्य दो तीन व्यक्ति उसे मूलसे मिलाकर

१ — अर्थे ज्ञास्त्र-माग २, अध्याय १०।

२—एपि. इंडि. ३. पृ. २०६।

ર— **વવિ. કુંહિ. રે. પૃ. ६**૪

उसपर सही काते थे। तस्पश्चात् विभागों की प्रमाण पुस्तकों में दर्ब करने के बाद वह आज्ञा जिलों में कर्मनारियों को भेज दी जाती थी?।

केंद्रीय शावनालय में लेखोंको सुरिक्षत रखने की भी व्यवस्था थी। वाघारण आदेश श्रिषक दिन न रखे जाते थे परंतु भूमिदान श्रीर अग्रहार आदिके ताम्रपष्ट भविष्य में छानशीन के छिए सुरिक्षत रखे जाते थे। कभी कभी दान पानेवाले व्यक्ति अपने गांवों को परस्पर बदलना चाहते थे ऐसे श्रवसर पर पहों में भी परिवर्तन करना पहता थार। सूमिदान की छिखापढ़ी केंद्रीय शासनालय में यथा संभव शीधता से की जाती थी और विलंब होनेपर श्रिधकारियों से जवाब तलब होता था । केंद्रीय शासनालय के लेखों में संपत्ति के कय विक्रय या हस्तांतर दर्ज कराने के लिए शुल्क देना पहता था। कश्मीर के राजा यशस्कर ने शासनालय में दिये गये बहुत अधिक शुल्क से शंकित होकर एक मामले में बाहसाजी पकड़ी थीं ।

गह्द्वाल भीर चालुक्य र राज्य में सरकारी लेखोंके प्रधान निरीक्ष की अञ्चपटलिक या महाच्पटलिक कहा जाता था। कभी कभी वह ताम्रक्त भी लिखता था।

केंद्रीय सरकार और शासनालय का एक प्रमुख कार्य प्रांतीय, प्रादेशिक और स्थानीय शासन का निरीचण और नियंत्रण होता है। अब हमे यह देखना चाहिये कि प्राचीन भारत में इसकी क्या व्यवस्था थी।

कई अथकारों ने राजा और अन्य अधिकारियों को निरीक्षण के लिए दौरा करने की सज़ाह दी है। मनु का कथन है कि रोजकर्मचारी स्वभावतः

१—सौ. इं. ए. रि.; १६१४ सं० १८५

२ — परमार राज्य में एक ऐसी घटना का पता एपि, इंडिका, २, पृ. ३८२ से खगता है।

३—देखो राजतरंगिया, ५. ३६७-८. सो. इं. इं., भाग ३ पृ. १४२ में एक उदाहरण मिलता है जहां मूळ श्राज्ञा के पश्चात् वारा सालके बाद ताम्रपष्ट बनायः गया था । मगर तरकालीन भशांति से यह विलंब हुआ या इसिंक्ण यह उदाहरण अववादास्मक समझना चाहिये ।

४-राजतरंगिणी ६, ३८.

४-एपि, इंडि., १४. पृ. १६३

६—इं. ऐं., ६ पृ. १६8

७ - इ. च, ११. ए. ७१

अत्याचारी और घूसलोर होते हैं अतः राजा का कर्तव्य है कि राज्य में अमण करके प्रजा के दुःल-दर्द का ज्ञान प्राप्त करें। ग्रुक्त का कथन है कि प्रजा के दुःलों और राजा के प्रति उनकी भावनाओं का परिचय प्राप्त करने के लिए स्वयं राजा या अन्य उच्चाधिकारी वार्षिक दौरे का कार्यक्रम बनावें। इन सलाहों पर राजा चलते भी थे क्योंकि दौरे के समय राजा के द्वारा की गयी अनेक घोषणाएँ या दिये गये दानपत्र प्राप्त हुए हैं।

प्रांतों की स्थिति से अवगत कराने के लिए केंद्रीय सरकार के अपने चर या चृत्त-लेखक रहते थे<sup>3</sup>। ये लोग स्थानीय श्रिधकारियों से स्वतंत्र श्रिपना कार्य करते थे। इनके द्वारा प्रांतीय कर्मचारियों के विरुद्ध विवरण मिलने पर कर्मचारियों को राजधानी बुलाकर उनसे जवाब तलब किया जाता था।

बहुत से राज्यें, में विशेष निरीक्त नियुक्त करने की प्रथा थी। कर्णाटक में कल्लचुरि शासन में इस प्रकार के ४ अधिकारों नियुक्त किये बाते हैं। इन्हें 'करणम्' कहते थे। इन्हें केंद्रीय शासन की ४ शार्नेंद्रियाँ कहा गया है। उनका काम यह देखना या कि सार्वजनिक धन का दुरुपयोग न हो, न्याय की इयवस्था ठीक हो और राजदोक्ष्यों और उपदिविशें को दुरंत दंड मिले ४।

चोल राज्य में स्थानीय संस्थान्नों और देवालयों का हिसान-कितान जांचने के लिए प्रतिवर्ष केंद्रीय शासनालय से विशेष कर्मचारी भेजे जाते थे। प्रतिहार राज्य के एक लेखसे जात होता है कि राजाके आदेश पर कुछ विषयों की जाँचके लिए ऐसा एक अधिकारी उज्जयिनी गया था । अन्य राज्यों में भी कलचुरि, प्रतिहार और चोल शासन के अनुसार ही प्रथा रही होगी।

स्थानीय कर्मच।रियों को केंद्रीय शासन की आशाओं को सूचना देने के हिए केंद्रीय कार्यालय के द्वारा विशेष संवाददाता भेजे जाते थे। यह काम जिम्मेदारी का था और उच्चपदस्य अधिकारियों को ही सौंपा जाता था। दिच्चण के वाकाटक लेखों में राजसंदेश-वाहकों को 'कुलपुत्र' ( ऊचे घराने के ) कहा गया है १ । पल्डव लेखों में इन्हें 'महाप्रधान ( मंत्री ) के संदेशवाहक'

१ मनु ७, १२२-४; देखिये अर्थशास्त्र २, अध्याय ६।

२ १, ३७४-४

३ याज्ञ., १, ३३८-९ । अर्थशास्त्र १, अध्याय ११-१२ ।

४-- प्. क., भाग ७ शिकारपुर सं. १०२ और १२३

५- प्पि, इंडि., १४ पृ. १८२-८

६-एषि. इंडि, २२ पृ. १६७.

बताया गया है । आसाम से प्राप्त एक लेखमें इस श्रेणो का अधिकारी बहे गर्व से कहता है कि मैं स्कड़ों राजशाश्रों का बहन कर जुका हूँ ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि केंद्रीय सरकार और कार्यास्य किस प्रकार प्रांतीय और स्थानीय शासन के निरीच्चण और नियंत्रण की स्यवस्था करते थे।

अब इमें विभिन्न विभागों, उनके अधिकारियों और कार्यों पर विचार करना है। विभागों के प्रधान अधिकारियों को मौर्य्य काल में अध्यन्न और शक शासन में कर्मसिचन कहते थे। आश्चर्य की बात है कि स्मृतियों में इनका उल्लेख बड़े ही अस्पष्ट रूप में किया गया है । हाँ अर्थ-शास्त्र में इस विषय का विस्तृत निवरण है और इसकी पृष्टि हरकी एं लेखों से भी होती है।

वाधुनिक शासन व्यवस्था में विभागाध्यस् और विभाग-मंत्री पृथक् होते हैं। इसका कारण यह है कि आधुनिक मंत्री प्रायः जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिष्ठित नेता होते हैं। पर प्राचीन कालमें यह स्थिति न थी, श्रीर श्रिषकांश देशों में विभाग का श्रध्यस् ही मंत्री होता था। प्राचीन भारत में श्रक्सर मंत्री सेनापित का भी पद प्राप्त कर देते थे। प्रथम कुमारगुत के राज्य में पृथ्वं विषय साधारण मंत्री के पद से उन्नति करके सेनापित के पदपर पहुंचे थे । साधारणतः न्यायमंत्री श्रीर प्रधान न्यायाधीश, तथा युद्धमंत्री श्रीर प्रधान स्थापित एक ही व्यक्ति हुआ करता था।

प्रारंभिक काल में और छोटे राज्यों में विभागों की संस्था बहुत श्रिक न थी। विष्णुस्मृति में, खान, चुंगी, नौका (ferry) श्रीर हाथी, केवल इन्हीं चार विभागों का उल्लेख है । प्रागैतिहासिक कश्मीर राज्य में केवल ७ विभाग थे, श्रिशोक के पुत्र जलीक ने इनकी संस्था बढ़ाकर १८ कर दी थी। लगभग नवम श्रताब्दी बाद लिलतादित्य ने इनकी संस्था २३ कर दी है। रामायण श्रीर महा-भारत में १८ विभागों या 'तीथों' का ही उल्लेख बराबर किया गया है, पर

१— इं. ऐ., प पृ. १५५

२-वृषि, इंडि., ११ पृ. १०७

३-मनु, ७-८१, याज्ञ- १-३२२।

४ पुषि इंडिका, १० पृ. ७१।

<sup>4 3, 161</sup> 

६ राज. १-११=-२०, ४-१४१ श्रीर आगे।

७ रामायण २, १००, ३६। महा. भा. ४, ५, ३८

इनके नाम नहीं दिये गये हैं। टीकाका ने ने ये नाम दिये हैं मगर उनकी टीका एँ इयं रचना के सैकड़ों वर्ष बाद छिखे जाने के कारण उनके विषान संपूर्णतया विश्वसनीय न होंगे। अर्थशास्त्र में भी विभागों की इस परंपरागत संख्या का उल्लेख हैं, पर इसमें ५-६ अधिक विभाग भी जोड़े गये हैं। शुक्र के अनुसार विभागों की संख्या २० जान पड़ती है ।

उत्कीर्ण लेखोंसे कुछ भीर विभागों का पता चळता है जिनका उल्लेख स्मृति या नीतिकारों ने नहीं किया है। श्रव इन विभागों को श्राधुनिक वर्गी-करण के कमसे नोचे दिया जायगा।

मारतवर्ष में श्रिविकतर नृपतंत्र ही प्रचितत था इसिलिये राजमहल विभाग का उल्लेख सबसे पहले करना अनुचित न होगा। महल और उसका श्रहाता एक विश्वासपात्र अधिकारी के जिम्मे रहता था जिसे बंगाल में 'आवस्थक' कहा जाता था । शुक्रनीति में उसके पदका नाम 'सौधगेहाधिप' कहा गया है । राजमहल श्रीर शिविर में श्रावागमन का नियंत्रणा 'द्वारपाल' नामक श्रिविकारी बड़ी सतर्वता से करता था। इस काम के लिए 'मुद्राधिप' नामक अधिकारी से अनुमित-पत्र लेने की श्रावश्यकता पहती थी। राजा के समुख दृतों और मिलनेवालों को पेश करने का काम 'प्रतीहार' था 'महाप्रतीहार' का था। राजा का एक श्रंगरच्यक" दल होता था जिसे कहीं कहीं 'शिरोरच्यक" मी कहा गया है। इस दलका नायक चालुक्य कालमें 'श्रंगनिग्हक' कहा जाता था । महल का संपूर्ण श्रंतर्गत प्रबंध 'संभाग्य' के जिम्मे होता था। राजाके खजाने, पाकशाला संग्रहालय श्रीर चिड़िया श्रीर जानवरखाना (menagerie) के प्रबंधक इसी के अधीन होते थे। पाकशाला का प्रबंध बड़ी जिम्मेदारी का काम था, पाकाधिप को बराबर सतर्क रहना पड़ता था कि कहीं कोई विषप्रयोग द्वारा राजाके प्राग्रहरण की कुचेप्टा न करे।

१ १ अध्याय म।

२ २, ११७।

२ मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल (बंगाल का इतिहास) भाग 1, पृ० २८४।

४ अध्याय २, ११६।

५ मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, मा. १, ए० २८४।

६ वही पु० २८२।

७ भावनगर लेख, पु० १५८।

८ शक २-११७. १२०।

श्राजकल की माँति उस समय भी राजा के लिए राज वैद्य होता था। ग्रह्डवाळ लेखों में इसका उल्लेख है । श्रुक्तनीत में इसे संभवतः 'श्रारामाधिय' कहा गया है । सन ६०० ई० के बाद जब फल ज्योतिष का प्रचार बढ़ा तब राज समा में राज-ज्योतिषी भी 'रखे जाने लगे, श्रीर शुद्ध यात्रा के पूर्व इनसे सलाह ली जाती थी। गहद्दवाल, यादव, चाहमान श्रीर चालुक्य लेखों में इनका उल्लेख मिलता है। बहुत प्राचीन का से ही समा में 'राजकवि' होते श्राते थे। संस्कृत के अधिकांश प्रस्थात कवि किसी न किसी राजसमा से संबद्ध थे। इसके श्रातिरिक्त राजा या सरकार द्वारा बहुत से पंडितों को दुल न कुल सहायता मिलती थी।

श्रंतःपुर का प्रदेश 'कंचुकिन्' के जिस्मे रहता था। यह श्रवस्था में वृद्ध और राजा का परम विश्वासपात्र होता था।

सेना विभाग निःसंदेह सबते महत्वपूर्ण विभाग था। श्रवसर राज्यकी आयका ५० प्रतिशत हेना पर खर्च कर दिया जाता था। इस विभाग के श्रध्यल के 'हनापति', 'महासेनापति', महाबलाधिकृत प्यामहाप्रचंड हंड नायक बादि विभिन्न नाम विभिन्न राज्यों और काल में थे। इसके श्रधीन 'महाब्यू पित' नामक श्रधिकारी काम करता था जो श्राजकल के (चीक कॉफ दि जेनरळ स्टाफ) के हदर फौजी दफ्तर के प्रधान की भाँत का श्रधिकारी था । सेना की पदातिदल, अश्रदल, गजदळ श्रीर रथदळ ऐशी चार शाखाय होती थीं। इनके प्रधान श्रधिकारी क्रमशः पत्यध्यन्त, श्रवपति (मटाश्वपति श्रीर महाश्वपति भी ), इस्यध्यन्न (गुप्तकाल में 'महापीळपति ) और रथाधिपति कहे जाते थे। 'श्रश्वपति' श्रीर 'रथाधिपति' के मातहत

१ इं. पॅ., १८, पृ. १७। २ २-११६।

३ इंडि. ऐंटि १८ पृ. १७ और १६, ए. २१८। एपि इंडिका, १-ए ३४३।

४ शुक्र १, ३१६-७. देखिये, अ गे, अध्याय १२।

प मध्य हिंदुस्थान के परिवाजक राज्य में ५ वीं सदी में; देखिये, काँ. हं. इं., ३, पृ. १०८

६ दिखण में यादव राज्य में ; इंडि. ऍटि १२ पृ. १२०।

७ हिन्टरी ऑक वेंगाल, भा. १ पृ. २८८

८ अर्थशास्त्र, भाग २; शुक्रनीति, १. ११७-२०; स. स. रि., १६०३-४, पृ. १०७ और आगे. बारहवी सदो के गाहद्वाकों के राज्य में भी करीड करीब ये सब सेनाधिकारी होते थे।

अश्वशालाधिकारी भी होते थे जिन्हे चाहमान काल में राबस्थान में 'साइणीय' कहा जाता था । गुप्तकालीन लेखों में अनेकबार उल्लिखित 'दंड-नायक' आजकल के 'कर्नल' की कोटि के होते थे और विभिन्न प्रदेशों में तैनात सेना की दुक्तियों के नायक होते थे?। श्राजकल जिस भांति 'कामि 'सरियट' का प्रबंध करनेवाले 'कार्टर मास्टर जेनरक' होते हैं उसी भाँति प्राचीन भारत में भी सेना के लिए सामग्री जुटाने के लिए एक अधिकारी होता था और गुप्त काल में इस विभाग को 'रणभाण्डागाराधिकरण' यह अन्वर्धक नाम दिया गया था<sup>3</sup>। इसके मातहत कई अफसर होते थे, जिनमें 'श्रायुषगाग्रह्यक्षा' भी या जो सेना के अस्त्रास्त्रों की देख माल करता था। सेना के लिए हाथी एकत्र करनेवाला अधिकोरी भी इसीके अधीन काम करता था। राष्ट्रीय रचा व्यवस्था में दुर्गों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। प्रत्येक दुर्ग 'कोटपाळ' या 'दुर्गाध्यन्त' नामक अधिकारी के जिम्मे रहता था। दुर्गी की व्यवस्था के निरीच्या के लिए संभवत: राज्य की ओर से एक विशेष अधिकारी भी रहता था। सीमांत श्रीर उस ओर के मार्ग और दर्गे की रचा 'द्वारपाल' करता था, जो अपने दोत्र के 'दुर्गपाल' से निकट संपर्क के रखता था। बहुधा दानों पद एक हो व्यक्ति को दिये जाते थे, तथा प्रतिहार साम्राज्य में व्यालियर दुगै का कोटपाल ही सीमांत का रचक 'मर्यादाधुर्य' भी था ।

१६ वीं सदी में भारत की सेना प्रदेश के अनुसार संबंदित की जाती और उसी जाती थी कैसे बंबई की सेना, मद्रास की सेना और उसर की सेना। रेंड खाइन चाल होने के पहले इस प्रकार की व्यवस्था आवश्यक थी। प्राचीन भारत के बड़े बड़े राज्यों में भी ऐसी ही व्यवस्था थी। प्रतिहार साम्राज्य में राष्ट्रक्टों पर ध्यान रखने के लिए एक दिख्णों सेना थी, पार्डों को रोकने के लिए पूर्वी सेना और मुसलमानों का प्रतिरोध करने के लिए पूर्वी सेना और मुसलमानों का प्रतिरोध करने के लिए पूर्वी सेना और सुसलमानों का प्रतिरोध करने के लिए पूर्वी सेना और सुसलमानों का प्रतिरोध करने के लिए पूर्वी सेना और सुसलमानों का प्रतिरोध करने के लिए प्रकार में भी यही व्यवस्था थीं । मौर्य और गुप्त साम्राज्य में भी इसी प्रकार की व्यवस्था रही होगी बद्यि इस संबंध में इसे कोई स्वष्ट प्रमाग नहीं मिले हैं।

१ ए. इंबि., ११ ए. २६

र अ. स. रि., १६११-२ पृ. १५२

अ. स. रि., १ ९०३-४ प्. १०७ और आगे ।

प्रि. इंडि., १. पृ. १५४–६०

र - राष्ट्रकूरों का इतिहास ( राष्ट्रकूराज् संब देशर टाइब्स ) ( पृ. २४७ - ८ )

एक राष्ट्रकूट लेखमें एक सैनिक श्रिषकारी के घोड़ों की शिक्षा के अद्मुत कौशल का बखान किया गया है । यह स्पष्ट है कि सेना की विभिन्न शाखाओं को सामारिक शिक्षा देनेके लिए विशेष विभाग था। 'मौल' अर्थात आनुवंशिक सेना को शिक्षा देनेकी विशेष आवश्यकता न थी और यही सेनाकी सर्वोत्तम शाखा भी होता थी। युद्ध करना ही इनका वंशगत कार्य था श्रीर इन्हें गांव या जागीर के रूप में चृत्ति निलती थी।

सेनामें घायलों को उठानेवालों का भी दल रहता था। सेनाके चिकित्सक और शुश्रूषक भी होते थे जा विविध औजारों, औषधों, मरहमों श्रीर पिष्ट्यों से भक्कीमांति लैस रहते थे। चिकित्सक दलका उल्लेख उत्कीर्ण लेखों में बहुत ही कम मिलता है पर श्रार्थशास्त्र में र इसका वर्णन है और कश्मीर की सेना में भी यह विद्यमान था । विष्णुधमों तर पुराण में सेना के पशुचिकित्सकों का भी उल्लेख है।

चिकित्सक दल को मांति खनक और परिसारकों का (sappers and miners) दल मी आवश्यक था। कौटिल्य ने इसी प्रकार के एक विभाग का उल्लेख किया है (मा. १०-अध्याय ४) जिसका कार्य शिविरों, सद्दकों, सेतुओं और कृषों का निर्माण और मरम्मत करना था। इसके भी अपने अध्यक्ष और अन्य अधिकारी रहे होंगे।

भारत के अधिकांश राज्य समुद्र थे दूर थे और उन्हें केवल स्थलगामी शत्रु से ही काम पड़ता था। इसिलए नौरेना का उल्लेख स्मृतियों और उत्कोण लेखोमें बहुत ही कम मिलता है। पर मौर्य राज्य में नौरेना था जिसके प्रवंध के लिए एक अलग समिति थी। कालिदास ने मं बंगाल के वंगो के नौशिक्त का उल्लेख किया है। पाल राजाओं के पास भी प्रवंज नौरेना थी । तामिल राज्य में बहुत प्राचीनकाल से ही नौरेना रहती थी जो पूर्व पश्चिमके देशों के साथ होने वाल समुद्रा व्यापार की रक्षा के लिए पर्याप्त थी। ११ वों सदी में चोल राजाओं ने अपने प्रवल नौरेनाकी सहायता से कई द्वीपों पर कब्जा किया था। पश्चिमी भारत के शिलाहार राज्य की भी नौरेना थी। पर नौरेना के संबंध में हमे कुल भी जानकारी नहीं मिलती।

१ वही पृ. २५२

२ अर्थ; १०. अध्याय ३; देखिये म. आ. १२-६५, १२ ।

३ राज. ८, ७४१ । ४ रघुवश ४-३६।

प्र मज्मदार, बंगाड का इतिहास (हिस्ट्री ऑफ बेंगाक )। मा. १ प्र. १८६।

परराष्ट्र विषय एक अलग मंत्री के जिम्मे या जिसे लेखों में 'महासंघि-विग्रहिक' और स्मृतियों में 'दूत' कहा गया है। साधारणतः इसे बहुत से सामंत और स्वतंत्र राज्यों से संबंध रखना पढ़ना या अतः इसके मातहत कई अधिकारा होते थे। परराष्ट्र विभागमें गुप्तचरों की मी टुकड़ी होती थो जो छद्म वेश में घूम-घूम कर मेद लगाया करते थे और अपने श्रध्यक्ष को सब हाल बनाया करते थे। इसो विभाग के अंतर्गत 'महामुद्राध्यक्ष' का भी विभागया जो राज्य में प्रवेश के लिए विदेशियों को अनुमान-पत्र देता था और इसके अधिकारी पाटलिपुत्र श्रादि प्रमुख नगरों में रहने बाले विदेशियों की गतिविधि पर नजर रखते थे।

माल विभाग भी एक मंत्रां के किम्मे या और इसके मातहत भी बहुत से अध्यक्ष थे। सरकारी खेतों की व्यवस्था 'सीताध्यक्ष' के जिम्मे था, जिसका काम इसमें मनदरीं और पट्टेदारों और इनारेदारों द्वारा खेतो कराना था । राज्य के जंगल भी एक अधिकारी के सिपुर्द थे, इसे पल्लव लेखा में 'आरण्या-घिट्टत<sup>२</sup> श्रीर स्मृतियों में 'आरण्याध्यक्ष' कहा गया है, इतका काम जंगली से होने वाली आयको बढ़ाना था। गोध्यस् 3, बिसके जिम्मे राजकीय गौओं मैंसों और हाथियों के ग्रंड रहते थे, आरण्याध्यक्ष से मिलकर कार्य करते थे. क्योंकि इन पशुओं के चरने के लिए इंगल में हो भूमि सुरिव्वत की बाती थी। प्रागैतिहासिक कालमें तो पशुषन ही राज्य का प्रमुख धन या, ऐतिहासिक काल में भी इसकी एकदम उपेद्धा न की जाती थी। १२वीं सदी तक परभार और गहद्वाक हेखों में 'गोकुटिक' का उल्लेख मिलता है । परती या ऊसर भूम के लिए भी एक अधिकारी 'विवीत ध्यन्त' परहता था। इतका काम इस प्रकार की भूमि को सुघारना ग्रौर वेचना तथा अवांछनीय छोगो का उत्तपर रहने से और अपने षड्यंत्र वहा चलाने से रोकना था। भूमि एवंधी कागन पत्रों को रखने का काम 'महाच्चपटलिक' का था, जो खेतों और उनकी सीमाओं का ठीक ठोक विवरण रखता था, और राज्यकर विभाग के मातहत काम करता था। इस अविकारी के नीचे काम करनेवाले कई अधिकारी थे, ये बिहार में

१ अर्थशास्त्र २, अध्याय २४ ।

२ एति. इंडिका १ पृ. ७।

३ वहीं ,, पृ. २९।

४ एपि. इंडिका, १९ पृ. ७१; १४ पृ. १६३।

ধ अर्थशास्त्र २ अध्याय ३४ ।

'सीमाकर्मकर श बंगाल में 'प्रमातृ' और आसाम में 'सीमाप्रदाता' कहे जाते थे। भूमिकर ही राज्य की आयका मुख्य साधन था, इसे बस्तूल करनेवाले कर्मचारी कहीं 'घष्ठाधिकृत' श्रीर कहीं 'ओद्रंगिक' कहे जाते थे। यह कर वास्तविक उपज के अंश रूप में अर्थात् अन या सामग्री रूप में लिया जाता था इसिट्ट ए इसकी बस्त्ली की देखरेख के लिए कर्मचारियों की एक प्री सेना की आवश्यकता पहती थी। गुजरात में इन्हें 'श्रुव' कहा जाता था। कुछ कर नकद मुद्राओं में लिया जाता था, इसे एकत्र करनेवाले कर्मचारों बंगाल में 'हिरण्यसामृद्यिक' कहे जाते थे।

जहाँ माल विभाग का कार्य समाप्त होता था वहीं कोष-विभाग का कार्य आरंभ होता था। प्राचीन मारत में इस विभाग का कार्य बड़े झंझट का था। इनका गम केवल हिसाब किताब करना और चाँदा सोने को सुरिह्नत रखना नहीं था। राज्य को कर के रूप में श्रम, इँचन, तेल आदि सामग्रियाँ मिलती थां। इन्हें ठीक से रखना पड़ता था और प्रानी सामग्री बेचकर नथी रखनी पड़ती थी। इस विभाग का प्रधान 'कोषाध्यन्त' कहा जाता था और इसके मातहत अनेक श्रिधकारी काम करते थे। इनमें से सबसे महस्वपूर्ण अधिकारी श्रम की खित्रों का निरीह्नक कोष्टागाराध्यन् था।

प्राचीन भारत में सभी राज्य अवना कोष भरा पूरा रखने में विश्वास रखते थे, इसीलिए प्रतिवर्ष श्रायका एक बड़ा श्रंश स्थायी कोष या सुरिवत मद में डाल दिया जाता था। फलतः राज्य-कोष में सोना, चाँदी और रलां की बड़ी राशि संचित रहती थो।

भायन्यय विभाग (फायनान्स) के अधिकारियों का उल्लेख स्मृतियों या उत्कीर्ण छेखों में बहुत कम मिलता है। महाभारत के टीकाकार ने इन्हे

१ कॉ. इं ई. भाग ३ पू. २ १६

२ बंगाल का इतिहास पु. २८६। (३) एपि. इंडि. ९ पृ. १०७।

४ ,, ,, ,, यू. २७८।

४ बंगाळ का इतिहास पु. २८४। ६ कॉ. ई. ई., भाग ः, पु. १६८।

७ शुक्र नीति में इसे वित्ताधिप कहा गया है ( २-११८ )।

८ अर्थशास्त्र, र अध्याय १४। शुक्रनीति में (२-११७, १२०) इसे बान्या-ध्यच और लेखों में 'मांडागाशाधिकृत' कहा गया है (एपि. इंडिका, १९.-ए. १०७)।

'व्ययाधिकारी' या 'कृत्यावृत्येषु अर्थनियोजक' कह कर निर्दिष्ट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आय-व्यय विभाग का कार्य राजा, प्रधान-मंत्री श्रौर दानाधिपति मिलकर करते थे। परंतु चालुक्य राज्य में इसके लिए एक श्रलग अधिकारी 'व्ययकरण-महोमात्य' होता या ।

प्राचीन भारत के राज्य उद्योग और व्यवसाय के दोत्र में भी बड़े सिक्रय रहते थे: इस विषय की देखरेख करनेवाले विभाग में बहुत से कर्मचारी रहते थे। देश का सबसे बड़ा उद्योग वस्त्र-उत्पादन था और राज्य के अपने बस्त बुनने के कारखाने थे जिनका उद्देश्य गरीबोंकी मदद श्रीर राज्य की आय बढ़ाना दोनों था। इस विभाग द्वारा दीन दुईल लोगों के घर हई मेबी जाती थी और उनसे निश्चित पारिश्रमिक देकर सूत कतवाया जाता था<sup>3</sup>। इनके अतिरिक्त और भी मजदूर कारखानों में अवश्य काम करते थे। इस विभाग के अधिकारी अर्थशास्त्र में स्त्राध्यच और शुक्रनीति में (२. १९९) वस्त्रा-ध्यच् कहे गये हैं। सुराध्यक्ष के निरीच्या में सरकार के मदिरा बनाने के भी कारखाने थे । निश्चित शुल्क देने पर नागरिकों को भी सुरा बनाने की अनुमति थो। इस विभाग के अधिकारी स्रापान या विकय का समय निर्घारित करते थे और इसकी देखरेख रखते थे कि सुराढ्यों में वेईमानी या टंटा न होने पावे। गणिकाध्यक्तों द्वारा सरकार वेश्यावृत्ति का भी नियंत्रण करने की चेष्टा करती थी"। वेश्याओं को अपने यहाँ आने बाने वाले लोगों के बारे में पूरा व्योश देना पहता था, जिससे पुलिस विभाग को श्रपराघों की जाँच में भी सहायता मिलती थी। वेश्याओं से गुप्तचरों का कार्य भी लिया जाता था और उन्हें इस कार्य के लिए अन्य राज्यों में भी भेजा जाता था। बहुचा सामंत गण प्रभुराज्य की गणिकाओं को अपनी सभाओं में स्थान देने पर बाध्य होते थे। बड़े नगरों में सरकार के कसाई खाने भी होते थे जहाँ गुल्क देकर जानवर कटाये जा सकते थे। गाय, बैछ और बछवों के वघ का पूर्ण निषेव था। इस संबंध की व्यवस्था स्नाध्यज्ञ के हाथ में रहती थी। उनका काम राजकीय बनों में अन्य लोगों को आखेट से रोकना भी याह ।

१ २, ४, ३=

र ज बॉ. बॅ. गॅ. ए. सो. २४-३२२

३ अर्थशाख २ अध्याय २३

४ वही २-अध्याय १५

<sup>🛬</sup> पपि. इंडिका, ६ पृ. १०२ | ६ अर्थशास्त्र २ अध्याय २६

र ज्य की सब खानोंपर सरकार का ही स्वामित्व होता था। इसके लिए में एक विभाग था जिसमें भूरतरशास्त्रज्ञ (geologists) रखे जाते थे जो खान आदि का पता लगाया करते थे। सरकार कुछ खानों को स्वयं खुदवाती थी और कुछ का अधिकार व्यवसाइयों को दे देती थी, जिन्हे खान से निकलने- बाले पदार्थ का एक निश्चित श्रंश सरकार को देना पड़ता था। बारहवीं सदी में गहड़वाल राज्य में भी यह विभाग विद्यमान था?।

कभी कभी छोने चांदी का सामान बनाने के लिए स्वर्णकारों को सरकार से अनुमति पत्र लेने की आवश्यकता पहती थी। सरकारी मुदा बनाने ठेका का भी स्वर्णकारों को दिया जाता था। इस विभाग का प्रधान 'सुवर्णाध्यन्त' कहा जाता था<sup>3</sup>।

वाणिज्य विभाग में भी बहुत से कर्मचारी रहते थे। प्रथमतः बांबार राजकर्मचारियों के निरीच्रण में रहते थे जिन्हें अर्थशास्त्र में पण्याध्यक्ष , बंगाल में हृद्रपति, और काठियावाइ में द्रांगिक कहा जाता था। इनका काम राज्य की सामग्रो को लाम पर बेचने की व्यवस्था करना और स्थानीय जनता के उपयोग की सामग्री का बाहर से आयात श्रीर उचित दाम पर विकय का प्रबंध करना और स्थानीय उत्पादित सामग्री को मुनाफे पर बाहर निर्यात करने की व्यवस्था करना था। ये लोग वस्तुओं का मूल्य भी निर्धारित करते थे और अनुचित संचय और मुनाफा खोरीको रोकते थे।

इस विभाग द्वारा चुंगी वस्ट करने के लिए शुल्काध्यत्त भी नियुक्त किये जाते थे । इनका दफ्तर नगर के फाटकों पर रहता था; जहां नगर में विक्रयार्थ जानेवाली सब वस्तुओं पर चुंगी निर्धारित की जाती थी। कभी कभी इसी स्थान पर विक्रय भी होता था। शुल्काध्यत्त को चुंगी को चरका देनेवाले व्यापारियों को दण्ड देनेक: पूरा अधिकार दिया जाता था। माप और तौडकी देख-रेख के लिए भी अधिकारी नियुक्त थे। ये तौडमें काम आनेवाले बटखरों की परीचा करके उनपर मुहर था छापलगा देते थे । संभवतः छोटे नगरों

१ अर्थशास्त्र २ अध्याय १२ | २ एपि. इविडका, १४ पृ. १९३

३ अर्थशास्त्र २ — अध्याय १३ । बंगाल का इतिहास, पृ. २८२ । एषि. इंडि- १३ पृ. २३९ । ४ अर्थं० २ — अध्याय १६ ।

४ वही २-अध्याय २३ । पाळ और परमार छेखों में इन्हें 'शौविकक' कहा गया हैं। एपि. इंडि. १३ पृ. ७३ ।

६ वही २ - अध्याय १।

में बाजार जुंगी और मापतौल आदि का निरीचण एक ही ब्यक्ति करता रहा हो। ग्रामों में ये कार्य संभवतः सुखिया करता था।

अब हमें न्याय विभाग की व्यवस्था पर विचार करना है। राजा ही सर्भोच्च न्यायाधिकारी था और अपने सामने उपस्थित किये गये अभियोग या अधीतस्य न्यायाच्यों के निर्णयों के विरुद्ध अर्णल सब प्रकार के सकदानों का विचार करने की उससे आशा की जाती थी। राजा यथासमव स्वयं न्यायदान करता था पर कार्याधिक्य होने पर 'श्राडविवाक' या प्रधान न्यायाचीश उतका कार्य सँभारते थे। सरकार की नीति न्याय त्यवस्था के विकेंद्रीकरण की थी श्रीर प्राम तथा नगर पंचायतों को सब स्थानीय व्यवहार (दीवानी धकदमे) का विचार और निर्णय करने वा भार शींपा जाता था। कोई भी अर्थी प्रारंभ में भीधे सरकारी न्यायालय में अभियोग उपस्थित न करने पाता था। इससे सरकारी न्यायालयों का काम बहुत हलका हो बाता था। इसीडिए उस्कीर्श लेखों में सरकारी न्यायालय का उल्लेख यदा कदा ही मिलता है। पर बहे बहे नगरीं और परों में सरकारी न्यायालय रहते थे और नारदे तथा बहस्पति होनों इनका उल्लेख करते हैं। गुप्तकाल में इन्हें 'धर्मासनाधिकरण' र कहा जाता था श्रीर ये नेवल बड़े बड़े नगरें। में ही श्यित होते थे। न्यायाधीश 'ध-ध्यित्व' या 'न्यादकरणिक' व वहे बाते थे। चंदेल लेखों में 'धर्म-लेखी' का उल्लेख हुआ है पर यह ठाक पता नहीं कि ये न्यायाधीश ये या अभियोग लिखनेवाले वकील ।

प्रधान न्यायाधीश को स्मृतियों का पूरा ज्ञान होना आवश्यक था अतः कभी कभी धर्मशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता हाने के कारणा पुरोहित ही इस पद पर प्रतिष्ठित कर दिये जाते थे। सन् १००३ में चंदेल राका धँग के ज्ञासन में ऐसा ही किया गया थाए। छोटें मोटे फौजदारी के मामले स्थानीय पंचायतों में ही निपटाये ज ते थे पर बड़े गुकदमें सरकारी न्यायालय में ही निपीत हाते थे। फौजदारी अदालत के न्यायाधीश संभवतः 'दंडाध्यन्त' कहे जाते थे। एक बात

१ २६-३१।

२ अ. स. रि., १६६३—४, पृ. १०७ और आगे। असामें व सदी, 5 19 पृ. १०७।

p v 8 . 140, 10 . 80-88 1

५ प्रि. इंडि, १ पृ.१४० और वासे।

आश्चर्य की है कि स्मृतियों और लेखों में काराग्रह के अधिकारियों का उल्लेख अस्पंत दुलम है। इसका कारण संभवतः यह था कि कारावास की सजा बहुत ही कम दी बाती थी। साधारणतः जुर्माने ही किये बाते थे। जुर्माना वसूल करनेबाले कर्मचारियों को राजाशों के लेखों में 'दशापराधिक' नाम दिया गया है'।

पुलिस विभाग के कर्मचारियों का उल्लेख उत्कीर्ण लेखों में 'चोरोद्धरणिक' (चोर पकडनेवाले ) और 'टंडपाशिक' (चोरों को पकड़ने का फंदा बारण करनेवाले ) नामों से किया गया है। पाल, परमार और प्रतोहार लेखों में यही नाम मिलता है र । इस विभाग के उक्त अधिकारियों का उल्लेख उस्कीर्ण लेखों में नहीं भिलता, संभवतः इनका काम राज्य के विभिन्न भागों में तैनात सैनिक अधिकारी करते थे। हमें यह न भूलना चाहिये कि उछ समय चोरियाँ बहुत कम होती थीं। केवल साहिसक ब्यक्ति ही डकैती या पशु और संपत्ति श्रपहरण करने का दुःसाहस करते थे और इनका दमन सेना की सहायता से ही हो सकता था। प्राम का सुखिया हो गाँव का प्रधान पुलिस अधिकारी होता या और प्रामीण स्वयंसेवक सैनिक दक उसीके अधीन रहता था। स्थानीय अधिकारियों के डकेतों के दमन में असमर्थ होने पर राजकीय दंड-पाशिक और सैनिक अधिकारी भेजे जाते थे। ग्राम और नगरबासियों की इनके भोजन और निवास की व्यवस्था करनी पड़ती थी। 'अग्रहार' भोगने वाले इस भार से मुक्त होते थे। अंततो गाला चोर द्वारा अपहृत धन की हानि सरकार को ही भरनी पड़ती थी। मगर वह इस जिंमेदारी को दूसरे पर लादने की भी कोशिश करती थी-यदि प्राम्वासी यह न सिद्ध कर पाते थे कि चोर ग्राम से निकल गये तो सरकार उन्हें हरजाना देने की बाध्य करती थी। यदि यह सिद्ध हो जाता था कि चोर किसी दूसरे ग्राम में छिपे हैं तो उस ग्राम का हरजाना देना पहता था। यदि चोर उजाइ या वन्य प्रांत में शरण लेते थे तो विवीताध्यन और अरण्याध्यन को उन्हें पकडना या हरजाना देना पहता था।

धर्म विभाग या धार्मिक विषय पुरोहित और 'पंडितों'<sup>3</sup> के अधीन थे। प्राचीन भारत में राज्य धर्म और नीति का संरक्षक था और इस विषय की

१ हिस्टरी भॉफ बंगाल, (बंगाल का इतिहास), सा, १ पृ. २८५ ।

२ वही पृ. २६५। पि इंडिका १६. पृ७३; वही, ६. पृ. ६। कहीं कहीं ये दंडोद्धारिया कभी कहे जाते थे।

३ यह एक संत्री का नाम है।

सारी कारवाई पुरोहित और पंडितों के निर्देशानुसार ही की जाती थीं। यदि कोई सामाजिक घार्मिक प्रथा या रीति पुरानी पड़ जाती थी तो उसके पालन पर जोर नहीं दिया जाता था। यदि नये सुधार जरूरी समके जाते थे तो विद्वान् ब्राह्मणों से नयी स्मृतियाँ, माध्य या प्रबंध तैयार कराये जाते थे जिनमें नये नये सुधारों का प्रतिपादन किया जाता था और इस प्रकार धीरे धीरे नथी रीतियाँ जारी की जाती थीं।

इस विभाग के अधिकारी मौर्यकाल में 'धर्म-महामात्र' सातवाहनकाल में 'श्रवण-महामःत्र', गुप्त शासन में 'विनयस्थितिस्थापक' और राष्ट्रकृट कालमें 'धर्मीकुश' कहे जाते थे। इनका काम सब धर्मों को समान रूपसे प्रोत्साहन देना था: सरकार की ओरस सहायता देते समय हिंद, बौढ, जैन आदिका भेद-भाव श्रायः न रखा जाता था। श्रामिक कार्य के लिए राजकीय सहायता देने का कार्य जिस अधिकारी के जिम्मे या शुक्रनीति मे उसे 'दानपति' का नाम दिया गया है। दान विद्वान ब्राह्मणों बौद्ध विद्वारों और मठों तथा मंदिरों को दिया जाता या जिसका उपयोग वे शिचालय, चिकित्सालय और श्रनायालय आदि चलाने में भी करते थे। अतः बार्मिक कार्यके लिए जो दान दिया जाता था उसका बहुत बद्दा भाग वास्तव में शिचा, चिकित्सा श्रीर गरीबों की सहायतार्थ ही होता था। एन् ४०० ई० से मठ मंदिर और विद्वान ब्राह्मणों को दान किये गये गांवों की संस्था का की बढ़ गयी थी क्योंकि इनकी व्यवस्था के छिए विशेष अधिकारी नियक होने लगे थे, जिन्हें गुप्त और पाल कालीन लेखों में 'अप्र-हारिक कहा गया है । इनका काम यह देखना या कि दान पानेवालों को दान भोगने में कोई बाधा नहीं होती। यदि राजनीतिक उथल-पथल के कारण दान यानेवाले अपने श्रिषकार से बीचत हो गये हो तो उन्हे पनः कब्जा दिलाया बाता थारे। दानके समय अक्सर कुछ शर्त भी लगायी जाता थी। कहीं कहीं यः शर्त लगायी जाती थी कि दानका उपयोग तभी तक हो जब तक पानेवाले के उत्तराधिकारी विद्वान और सदाचारी हो। अग्रहारिक अधिकारी इन शतों को कार्यान्वित करने की ओर ध्यान रखता था। कभी कभी ब्राह्मण जाही

कां. इं. इं., भाग ३ पृ. ४६, वंगाल का इतिहास पृ. २२४। अप्रहारिक का अर्थ दान लेनेवाला नहीं है क्यों कि विहार शिलालेख में (कॉ. इ. इं. ३-४६) यह बद्द अधिकारियों की सुवी में आया है।

२ प्रतीहार राज्य में ऐसी एक घटना हुई थी। एपि. इंडि. १४ पृ. १४–१७ । बाहमान के कालके लिए देखिये, एपि इंडि. ११ पृ. ३०८।

दानपत्र भी बना छेते थे; अग्रहारिक का काम इनका पता लगाना और दंढ देना था। दिखण भारत के चोछ राज्य में यह देखने के छिए विशेष अधिकारी भेजे जाते थे कि देवात्तर संपत्ति का उचित उपयोग हो रहा है या नहीं।

अस्तु; हमने विभिन्न विभागों और उनके कार्यों की सभी ज्ञा कर छो। यह कहना ठीक न होगा कि ये सब विभाग छोटे-छोटे सामंत राज्यों में भी थे। पर प्राप्त प्रमाणों से प्रकट होता है कि औरत दर्जे के राज्यों में उपर्युक्त श्रिधकां प्रविभाग थे। अर्थशास्त्र के विवरणों की पुष्टि बहुत हद तक उत्कीण छेलों से होती है।

अंत में हम इन विभागों के अधिकारियों की भतीं के तरीके पर दिखात करेंगे। वाणिज्य, खान आदि बहुत से विभागों के लिए विशेषकों की आवश्यकता पड़ती थी और रमृतियों में इस बात पर जोर दिया है कि उपयुक्त योग्यतावाले ही व्यक्ति पूरी जाँच के बाद इन पदों पर नियुक्त किये जायें । शुक्र ने ता यहाँ तक कहा है कि होनहार नवयुवकों को वृत्ति देकर इन पदों के उनयुक्त विशेष शिद्धा दी जायें । साधारण पदों के लिए ऊँचे कुल और प्रभावशाली रिक्तेदारी की आजकल की भाँति उस समय भी पूछ रही होगो, पर बाद में उन्नति कर्मचारी की योग्यता और परिश्रम पर ही निर्भर थी।

यह नहीं कहा जा सकता कि आजकल के अखिल भारतीय, प्रांतीय और भातहत आदि भेदों की भाँति उस समय के सरकारी कर्मचारियों में भी ऊँचीनीची श्रेणियाँ होती थीं या नहीं। संभव है कि आजकल के आय, सो. एस् की भाँति मौर्यकाल के 'महामात्र' और गुप्तकाल के 'कुमारामात्य' रहे हों; इस श्रेणी के कर्मचारी ही उस समय बिले या प्रादेशिक अधिकारी होते थे और कभी कभी केंद्रीय शासनालय में उच्च पदों तथा कभी मंत्रिपद पर भी पहुँच जाते थे। इस श्रेणी के सदस्य साधारणतः उच्च कुन्ने और कभी कभी प्राने राज्यों के सदस्य होते थे। मंत्रिपद की भाँति ये पद भी बहुचा वंशानुगत बा आनुवंशिक हो जाया करते थे।

१ गहड्वाल काल के इस मकार के जाली दानपत्र के लिए देखिये ज. ए. सो. वं., ६ पृ. ५४७-८।

२ यो यद्वस्तु विजानाति तं तत्र विनियोजयेत्। कामंदक ५, ७६।

३ सर्वविद्याक्रस्यासे शिक्ष्येद्शृतिपोषितान् । समाप्तविद्यं तं दृष्ट्वा तत्कार्ये तं नियोजयेत् ॥ १–३१७ ।

प्रांतीय ( Provincial ) और मातहत अधिकारी संभवतः स्थानीय व्यक्ति बनाये जाते थे। यातायात की सुविधा न होने के कारण संभवतः इनका तवादला भी बार बार न होता था। इन अधिकारियों की नकद वेतन के बजाय प्रायः सरकारी जमीन और स्थानीय चुंगो की आय का कुछ भाग दिया जाता था, जिससे उनका पद स्वाभाविक ही बंधानुगत बन जाता था।

# दसवाँ अध्याय

## प्रांतीय, प्रादेशिक, जिल्ला और नगर शासन-व्यवस्था

प्रांतीय, प्रादेशिक श्रीर जिला शासन न्यवस्था का अध्ययन करने के पूर्व प्राचीन काल के राज्यों के प्रादेशिक विभाजन की व्यवस्था समझ लेना आवश्यक है। इस विषय में सबसे पहली बात यह स्मरण रखनी चाहिये कि सर्वत्र एक सी व्यवस्था न थी। श्राजकल की भाँति प्राचीन भारत में भी कुछ जिले छोटे थे और कुछ बड़े। इसका कारण जनसंख्या और उत्पादन शक्ति की विभिन्नता और राजनीतिक परिस्थितियाँ दोनों थी। यदि कोई छोटा समंतराज्य साम्राज्य में मिलाया जाता था तो एक छोटा जिला बन बाता था। इसरी ओर नये नये प्रदेश इस्तगत करते करते सीमांत के जिले विस्तृत भी होते जाते थे। कभी कभी किसी प्रदेश को महत्व बढ़ने पर आसपास के अनेक गाँव उसमें शामिल हो जाते थे, यथा महाराष्ट्र के क्हांटक बिषय (जिल) में सन ७६८ ई० में इनकी संख्या बह कर इस इजार हो गयी थी।

पछव, वाकाटक, गहद्दवाल आदि छोटे राज्यों में प्रादेशिक विभागां की बहुलता न होती थी। ये राज्य देवल जिलेमें विभाजित रहते थे, जिसे राष्ट्र या विषय कहा जाता था। पर मौर्य साम्राज्य जैसे बहे राज्य का प्रादेशिक विभाजन प्रायः आधुनिक कालके भारत के समान ही था। मौर्य साम्राज्य मी अनेक प्रांतों में विभाजित था जो विस्तार में आधुनिक भारतीय प्रांतों के बराबर ये। प्रांत प्रदेश में विभाजित थे, जिनके शासक आजकल के डिवीजनल कमिकनर की मांति लाखों व्यक्तियों, पर शासन करते थे। प्रदेश जिलें या विषयों में, और विषय मुक्तियों पेठों या पाठकों में विभाजित थे। ये भी १० से लेकर ४० प्रामों तक के समुहों में बांटे जाते थे।

प्राचीन भारत का इतिहास कई सदियों तक चला जाता है अतः प्रदिशिक विभागों के नामों में विभिन्नता होना कोई आक्षर्य की बात नहीं। यथा मध्य

र यथा एपि. इंडिका २४ पृ. २६०; १५ पृ. २५७;।और ६ पृ. ३०४। 🔑

मांत और दिल्ल में भुक्तियां आधुनिक तालुका या तह ती हों से भी छोटी होती थीं, पर उत्तर मारत में गुप्त श्रीर प्रतीहार श्रासन में यही भुक्तियां आधुनिक किमिश्निरियों के बराबर होती थीं। यथा राष्ट्रकूट राष्य में भारताष्ट्र में प्रतिष्ठानक भुक्ति में केवल १२ और कोप्पारक—भुक्ति में ५० ग्राम थे, जब कि गुप्त साम्राष्य के बंगाल की पुण्ड्रवर्धन भुक्ति में आधुनिक दीनाजपुर, बोगरा और राजशाही के जिले और बिहार की मगध भुक्ति में गया और पाटल्यिप जिले सम्मिलत थे । प्रतिहार राष्य की आवस्ती भुक्ति में वर्तमान युक्तप्रांत के कई जिले शामिल थे। राष्ट्र का अर्थ साहित्य में प्रायः राष्य होता है पर राष्ट्रकूट शासन में यह एक किमश्नरी का बोवक था। पर दिल्ल में पहलव, कर्द कौर सालंक्यायन राज्यों में राष्ट्र का अर्थ तहसील या अधिक से अधिक जिला था । इन नामों का प्रयोग भी निश्चित अर्थ में न होता था। जैसे एक राष्ट्रकूट लेख में नासिक को एक बार विषय का नाम दिया गया और केवल २९ वर्ष बादके दूसरे लेखमें इसी को देश कहा गया। अतः केवल नाम से ही विस्तार का निश्चित अनुमान करना। शिक नहीं।

## श्रांतीय शासन

आजकल के अर्थ में प्रांतीय शासन-व्यवस्था केवल बड़े राज्यों में ही पायी जाती थी। मौर्य साम्राज्य कई प्रांतों में विभाजित था। उनमें से पाँच उत्तरापय, अवंतिराष्ट्र. दिचणापय, किला और प्राच्य तथा उनकी राजधानी तच्चित्रा, उज्जयिनी सुवर्णगिरि, तोसकी भौर पाटिलपुत्र के नाम हमे विदित हैं। संभव है कि उत्तरापथ और दिच्चिणापथ स्वयं कई प्रांतों में विभाजित रहे हों। द्यांग राज्य के प्रारंभ में मालवा का पद एक प्रांत के बराबर था। कण्व राज्य संभवतः इतना बद्धा न था कि उसे प्रांतों में विभाजन की आवश्यकता पदे। सातवाहन साम्राज्य पूरे दिच्या में फैला हुआ था पर इसके प्रांतीय शासन व्यवस्था के बारे में हमें कुछ ज्ञात नहीं। किनस्क साम्राज्य में बनारस, मधुरा, और उज्जयिनी के महाक्ष्मण अवश्य ही प्रांतीय शासक का पद रखते

१ राष्ट्रकृटों का इतिहास, पृ. १३७, तथा एपि. हंबिका २४, पृ. २६४

२ एपि. इंडि., १५ प. १२९ वे बातो।

३ राष्ट्रकृटों का इति. पू १३६।

४ एपि. हुंबि. ११ पृरुष ; १६ पृरुष ; इंबि. ऐंटि, १ पृ. १७१।

प्र **सन्दर्**दों काइतिहास पृ. १२७ ।

थे। गुप्त साम्राज्य में काठियाचाइ, मालवा झौर गुजरात के प्रदेश प्रांतों का पर रखते थे। राष्ट्रकूट राज्य के मूल प्रदेश तो प्रांतों में नहीं विभाजित थे, पर बाद में जीते हुए गुजरात, बनवासी और गंगवाड़ी प्रदेशों में प्रांतीय शासक नियुक्त किये गये थे। प्रतीहार राज्य की मुक्तियाँ प्रांत नहीं किमश्निरियाँ थीं। पाल, परमार, चालुक्य, चंदेल, गहड़वाल और चोल राज्य अपेचाकृत छोटे थे। इनमें से कुछ बड़े जैसे, चोल राज्य में दो प्रकार के विभाग थे; मंडड जो आजकल के दो तीन जिलों के बराबर थे और दूसरे नाह्न, जो प्रायः आधुनिक दो तहसीकों के बराबर थे। छोटे राज्य जिले और तहसीलों में ही विभाजित थे।

शांतीय शासक बड़े ऊँचे पद के अधिकारी होते थे। बहुवा राजवंश के कुमार ही इन पदों पर प्रतिष्ठित किये जाते थे। यथा, मौर्य साम्राज्य में विदुसार, अशोक और कुणाल सब प्रांतीय शासकों के पद पर कार्य कर चुके थे। धंग शासन में युवराज अशिमित्र मालवा प्रांत के प्रांताधिकारी थे। ग्रासकाल में सन् ४३५ ई० में इसी मालवा प्रांत में गुप्त राजकुमार घटोत्कच गुप्त प्रांतीय शासक पद पर स्थित था। चाछक्य और राष्ट्रकूट शासन में गुनरात शांत में राजवंश के कुमार ही शासक बनाकर मेजे गये और बाद में इन्होंने इस प्रांत में प्रायः स्वतंत्र राज्य स्यापित किये। सन ७९० ई० में राष्ट्रकूट राज्य के गंग-वाडी प्रांत में सम्राट् का ज्येष्ठ पुत्र शासक पद पर नियुक्त या। राजकुमारों के न रहने पर प्रांतीय शासक का पद राज्य के सबसे ऊँचे और अनुभवी अधि-कारियों को दिया जाता था जो बहुना प्रख्यात सेनानायक भी होते थे। यथा कुषाण राज्य में 'दिविण' प्रांत के शासक नहपाण और चष्टन कुशक सेना-पति थे ; इसी प्रकार राष्ट्रकूट सम्राट् प्रथम अमीववर्ष का बनवासी प्रांत का शासक बंक्रेय भी या । सैनिक योग्यता मंत्रिपद के ही लिए नहीं वरन् प्रांतीय शासक पद के लिए भी महत्वपूर्ण समझी जाती थी। प्रांतीय शासकों के श्रविकार विस्तृत और उच्च थे। उनका काम अपने प्रांत में पूर्ण शांति बनाये रखना तथा साम्राज्य को सीमावर्ती राज्यों के आक्रमणों हे सुरिच्चित रखना था। इसलिए सैन्य संचालन की योग्यता उनके लिए श्रनिवार्य थी।

बहुधा राजकुमार होने के नाते प्रांतीय शासकों के नी अपने मंत्री और राजसमा रहती थी। तच्चशिला की जनताने प्रांतीय मंत्रियों के अस्याचारों से हो पीड़ित होकर विद्रोह किया था?। माठवा के छंग शासक अग्निमित्रका अपना

१ दिव्याचदान पृ. ३७१।

मंत्रिमंडल था। इसी प्रकार राष्ट्रक्ट और यादव राज्य के शांतीय शासकों के भी थे। इन शासकों को महासामंत का पद प्रदान किया गया था, जो करद राजा के समकच थार। ये शासक साम्राज्य की साबारण नीति का ही श्रवलंबन करते थे जिसका निर्देश समय समय पर विशेष संवाद-वाहकों अथवा राजाहारा किया जाता था। फिर भी यातायात की कठिनाई के कारण इन्हें पर्याप्त शासनस्वतंत्रता रहती थी। कभी कभी ये अपने ही मत से संबिष्ठ भी किया करते थे जैसा श्रानिमित्र ने विदर्भ राज्य से किया था<sup>3</sup>। कुछ श्रंश तक यह स्वाभाविक था और केंद्रीय सरकार को इसमें आपित भी न हाती थी, कारण इनका उद्देश साम्राज्य का विस्तार ही था। प्रातों की अलग सेना भी रहती थी और बहुषा अन्य प्रांता में विद्रोहादि होने पर केंद्रीय सरकार इन्हें उक्त स्थानों पर जाने की आज्ञ देती थी। यथा उत्तरी राजस्थान में योवेथों के विद्रोह का दमन करने के लिए कुषण समाद्र ने अपने दक्षिण प्रांत के महाक्षत्रप रहदामन को भेजा था, और गुजरात के विद्रोह का अकेले दमन करने में असमर्थ होकर राष्ट्रकूट समाद्र प्रथम श्रमोधवर्ष ने बनवासी के शासक वंकेय को बुलाया था।

प्रांत की श्रंतर्व्यवस्था और माल्ड्यवस्था में प्रांतीय शावक का कितना हाथ था, इसका हमें ठोक ज्ञान नहीं। अवश्य ही वेंद्रीय शासन के निर्देशानुसार वे इसका निरीक्षण और नियंत्रण करते रहे होंगे। प्रांत गुप्त शासन में प्रादेशिक कामिक्षर) इन्हीं के अधीन काम करते रहे होंगे। परंतु गुप्त शासन में प्रादेशिक अधिकारी सीधे सम्राट् से संबंध रखते थे। यथा, पुण्ड्वर्धन भुक्ति के शासक की नियुक्ति स्वयं प्रथम कुमारगुप्त ने की थो और वह सीधे उनके आदेशानुसार कार्य करता थांह। परंतु यह निश्चित नहीं है कि सम्राट् और उसके बीच में कोई प्रांतीय शासक था या नहीं, अर्थात् पुण्ड्वर्धन भुक्ति किसी प्रांत का अंग यो या सीधे केंद्रीय शासन से संबद्ध थी।

शांतिरचा और मालन्यवस्था के साथ साथ प्रांतीय शासक का प्रमुख कार्य विचाई के लिए बाब और नहर तथा अन्य सार्वजनिक हित के काम ( Public works ) के कर प्रांत की समृद्धि बढ़ाना और सुशासन द्वारा

१ मार्कविकारिनसिन्न, पचम अंक।

र सौ. इं. इं., र सं. १६७ और ३८७।

३ मालविकारिनसिन्न, प्रथम अंक ।

क्ष पृषि, इंबिका, १५ छ. १३०, १३३।

जनता:में राजनिष्ठा उत्पन्न करके साञ्राज्य का आधार सुदृढ़ करना भी या। पिछले अध्याय में केंद्रीय शासन या सरकार के जिन विविध विभागों का उल्लेख किया गया वे सब प्रांतीय सरकार या शासन में भी अवश्य विद्यमान रहे होंगे।

भूमिकर तथा श्रन्य राज्यकर पहले प्रांतीय राजधानी में एकत्र किये जाते होंगे और प्रांतीय शासन का खर्च बाद करने के पश्चात् शेष केंद्रीय सरकार को भेज दिया जाता था।

### प्रादेशिक सरकार

प्रांत के बाद का प्रादेशिक विभाग आज कुछ की कमिश्नरी के बराबर होता या जिसमें दो तीन जिले शामिल रहते थे। गुप्त शासनमें इसे भ्रिक, प्रतीहार काल में राष्ट्र और चोल तथा चालुक्य शासन में मंडल कहा जाता या। कभी कभी इसके लिए देश शब्द का भी प्रयोग किया जाता या। लाखों भादमियों पर शासन करनेवाल मौर्य्य शासन के रज्जुक अवश्य ही आधुनिक कमिश्नरों के समकन्त्र थे, पर उनके द्वारा शासित प्रदेश का नाम विदित नहीं है।

अशोक की नीति विकेंद्रीकरण की यी श्रीर उनके शासन में रजुकें को व्यापक अधिकार दिये गये थे। साम्राज्य की साधारणनीति के अनुसार उन्हें दीवानी, फौजदारी और माल आदि विषयों में पूरे अधिकार प्राप्त थे। वे आवक्यकतानुसार पुरस्कार श्रीर दंड दे सकते थे । पर राष्ट्रकृट राज्य में, प्रादेशिक शासक के अधिकार सीमित हो गये थे, प्रथम श्रमोघवर्ष के कुपापात्र बंकेय को भी एक जैन देवालय को एक गाँव प्रदान करने के लिए सम्राट् की अनुमति की आवक्यकता पढ़ी यी । प्रतीहार काल में सुक्ति के अधिकारियों के अधिकारों का ज्ञान प्राप्त करने के साम्राह्म सीमित हो गये श्री प्राप्त महीं।

प्रादेशिक शासक का अपने मातहत कर्म दारियों पर पूरा नियंत्रण था। राजदोह या असावधानी करने पर इन्हें वह तुरंत कैंद करता था और योग्य दंड (दलाने के लिए राजधानी को भेजता था। जिले के कर्मचारियों के पास छोटी सैनिक दुकड़ियाँ भी रहतो थीं अतः इनके विरुद्ध कार्रवाई करने का अर्थ छोटा मोटा सैनिक अभियान करना ही था। इसीकिए मातहत कर्मचारियों तथा उक्त प्रदेश के सामंतों के नियंत्रण के लिए प्रादेशिक शासक को पर्याप्त

१ स्तंभ छेबा छं, ४।

र राष्ट्रक्टों का इतिहास पृ. १७ ५।

सैन्य बड़ भी रखना पड़ता था । युद्ध या बड़े श्रमियान के समय इसका अधिकांश मांग केंद्रीय सरकार की सहाक्ष्ता के लिए भेज दिया जाता था।

प्रादेशिक शासक या रजुक ही माळ विशाग के भी अध्यक्ष होते थे। दानपत्रों में जिन अधिकारियों से दोन की रज्ञा का अनुरोध किया जाता था उनमें इसका भी नाम रहता था। मौर्य्य शासन में इन्हें जो रज्जुक नाम दिया गया था, इससे भी इनका भूमि की पैमाइश या नाप जोख से संबंध प्रकट होता है। गाँवों की पैमाइश श्रीर भूमिकर का निर्वारण या नहर आदि के सूख जाने पर अन्य कारणों से उसके संशोधन का कार्य इन्हीं के पर्यंदेखण में होता था।

सामाट् अशोक ने अपने रज्जुकों को इंड-समता के लिए जो आदेश दिया या उससे विदित होता है कि इन्हें न्यायदान का भी श्रिकार था। संभवतः अपने प्रदेश के ये सर्वोच्च न्यायाधिकारी होते थे।

विभिन्न काल और शासन में विषयपति के मातहत कर्मचारियों की नियुक्ति के अधिकार भी कम या अधिक होते थे। मौर्य्य काल में अधिकार अधिक थे। गुप्त शासन में इन्हें कभी कभी जिले के कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार रहता था<sup>3</sup> पर कभी कभी यह कार्य स्वयं सम्राट् भी करते पाये जाते हैं। राष्ट्रकूट राज्य में तो जिले के कर्मचारी ही नहीं तहसीलदार तक की नियुक्ति भी सम्राट ही करते थें ।

हम देख चुके हैं कि ऐतिहासिक युग में केंद्रीय सरकार की राजधानी में कोई केंद्रीय समिति या लोकसभा न होती थी। आगे १२ वें श्रध्याय में दिखाया जायगा कि प्राचीन युग में ग्राम पंचायतें बराबर कार्य करती रहीं और इन्हें काफी अधिकार भी प्राप्त थे। यह कहना बड़ा कठिन है कि भुक्तियों या कमिश्निरियों के केंद्र में भी इस प्रकार की पंचायतें थीं या नहीं। ग्राम-पंचायत के सदस्यों की पदबी महत्तर थी। दानपत्रों में उल्लिखित अधिकारियों में 'राष्ट्रमहत्तर' का भी नाम है , कभी कभी इनके श्रधिकारियों का भी उल्लेख किया गया है ।

<sup>।</sup> राष्ट्रकृटों का इतिहास पृ. १७४-५।

९ स्तम लेख सं. ४। ३ प्पि. इंडि. १२ पृ. १३०।

४ राष्ट्रक्टों का इतिहास, पृ. ३७६।

प् पृषि. इंडि. २७ पृ. ११६ (खानदेश में राष्ट्रकूटों के शासन में )

६ " " १९ पृ. १३० ( मालवा में कलजुरि शासन में )

फिर भी निश्चय नहीं कि भुक्ति पति या राष्ट्रपति को परामर्श या **स्हायता देने के लिए राष्ट्रमहत्तरों की कोई नियमित परिषद होती यी या** नहीं । इनका उल्लेख केवल दो दानपत्रों में मिलता है अतः इनके बल पर कोई भारणा नहीं कायम की जा सकती। संभव है कि राष्ट्रमहत्तर किसी लोक समा के सदस्य न होकर प्रदेश के प्रमुख नागरिक ही रहे हों। पर बिना अधिक प्रमाण मिले इस संबंध में कोई निश्चय नहीं किया जा सकता !

#### जिले का शासन

प्राचीन काल के बिषय साधारणतः आजकल के बिलों के बराबर होते थे. इनमें एक हजार से दो हजार ग्राम तक रहते थे। ईसवी सन्की प्रारंभिक सदियों में काठियावाड़ में इसे आहरणी वया मध्यप्रांत, आंध्र और तामिल देश में राष्ट्र कहते थे। विषय वा शासक मौर्य्य काल में विषय पति या विषया-ध्यच कहा जाता था, इसका उल्लेख अशोक के लेखों में रज्जक के बाद ही हुआ है और उसकी भाँति इसे भी दौरे पर जाने को कहा गया है। स्मृतियों में डिछिखित सहस्राधिप॰ अर्थात् सहस्र ग्रामोंका शासक भी संभवतः यही अधिकारी है। तामिछ देश का नाडू जिले से कुछ छोटा होता था पर इसके शासक का पद और अधिकार संभवत: विषय-पति के ही बराबर थे।

श्राधनिक कलेक्टर की भाँति विषय-पति का काम जिले में शांति युव्यवस्था रखना और मालगुजारी तथा अन्य करें। की वस्की कराना था। इनके मातहत बहुत से कर्मचारी रहते थे। बहुसंख्यक दानपत्री में जिन युक्त. आयुक्त, नियुक्त और न्यापृतः नामधारी कर्मचारियों से दान में बाधा न डालने का अनुरोध किया गया है, वे सब संभवतः मालविभाग के ही मातहत कर्मचारी थे। मौर्य काल में इनमें से कुछ गोप अरेर गुप्त युग के बाद के गुकरात में

घ्रव नाम से संबोधित किये जाते थे ।

शांति और सुन्यवस्था स्थापनार्थ विषय-पति के श्रधीन छोटा सैन्य दल भी रहता था। दंडनायक, जिनका नाम लेखों और मुद्राओं में बहुत श्राया है,

प्पि. इंडि. १६ पृ. १८ ; २६ पृ. २६१ ; इंडि. पुँटि. ५ पृ. १४४ ।

मनु ७. ११४ ; विष्णु ३, ७-१०।

३ का. इं. इं. ३ पृ. १६४; इंडि. ऐटि. १३ पृ. १५।

४ अर्थवास्त्र, भाग २, अध्याय ३६ ।

५ कॉ. इं. इ., ३ ए. १०५।

संभवत: जिलों में स्थित इन टुकिइयों के नायक होते थ। दंडपाशिक श्रीर चोरोद्धरणिक आदि पुलिस अधिकारी भी संभवतः विषयपतियों के अधीन काम करते थे। वाणिज्य, उद्योग जंगल आदि श्रन्य विभागों के जिले के कर्म-चारी विषयपति के अनुशासन में थे या नहीं इसका पता नहीं। विषयपतियों को न्याय का अधिकार था या नहीं यह भी विदित्त नहीं। संभव है कि ये जिले की अदालतों के अध्यक्ष रहे ही।

कम से कम ग्रुप्त काल में तो अवश्य ही जिलों के शासन में जनतो का काफी हाथ रहता था। प्रथम (मुख्य) महाजन, प्रथम व्यवसायी, प्रथम शिल्पकार और प्रथम कायस्थ या लेखक उस परिषद् के प्रमुख सदस्य थे जो १ वीं सदी ई० में बंगाल के 'कोटिक्यं' के विषयपति को शासनकार्य में सहायता देती थी। परंतु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि जिले के शासन में धनपतियों की ही प्रधानता रहती थी। ये तो देवल परिषद्के प्रमुख सदस्य थे, इनके अतिरिक्त और भी बहुत से सदस्य थ इसमें थे। फरोदपुर ताम्रपत्र ते विदित होता है कि परिषद् में २० सदस्य थ इनमें से कुछ कुलस्वामी और शुभदेव देस ब्राह्मण थे और कुछ घोषचंद्र और गुणचंद्र श्रादि चित्रय वैदय आदि श्राम्य जातियों के थे। यह परिषद् वेवल जिले के केंद्र के ही शासन में योग देती थी अथवा जिले के अंतर्गत सभी इलाकों के शासन में इसका ठीक पता नहीं। संमवतः पूरा जिला इसके कार्य चेत्र में था।

दुर्भीग्य वश हमे यह विदित नहीं कि जिले की परिषद् के सदस्यों का जुनाव या नियुक्ति किस प्रकार होती थी । व्यापारी, महाजन या लेखक वर्ग के सदस्य तो जैसा उनके नाम प्रथम श्रेष्ठिन, प्रथम कायस्य आदि से विदित है उनके व्यवसाय संघ या निगम के अध्यक्त ही होते थे। शेष सदस्य भी अवश्य ही अपने अपने वर्ग या पेशे के प्रमुख वयोवृद्ध, उदाचचरित और लोकप्रिय स्थित होते रहे होंगे, जिनका जिलासभा में अन्तर्भाव करना उचित समझती थी। संभवतः इस परिषद् में नगरबालों का ही प्राधान्य रहता था यद्यपि दो चार सदस्य देहाती द्वेशों के भी रहते होंगे।

गुप्तकाल के पूर्व या बाद के लेखों से किला पंचायत का विशेष विवरण नहीं मिलता। पर सोंघदेश के ६ टी शताब्दी के विष्णुकुरखी लेख<sup>२</sup> और ६ वीं सदों के एक गुजरात के राष्ट्रकूट लेख में <sup>3</sup> विषयमहत्तर या जिला पंचायत के

१ इंडि. एँ टि. १६१२ पृ. १६४ सं.।

र जिल्ला, हि. रि. सी., भाग रे, पृ. १७। ः ३ एपि. इंडि., ९ पृ. १४।

यदस्यों का उल्लेख किया गया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि गुप्तकालीन कोटिवर्ष विषय परिषद् की मांति बाद में भी जिल्ला पंचायते कार्य कर रहीं थीं।

गुप्त कालमें जिले का शायन बड़ा मुसंघटित या। पुस्तपाल की अध्यत्तता में इसके लेख-पत्र कार्यालय में पुरित्त रहते थे, इनमें जिलेकी स्व भूमि-खेत, परती और उसर तथा मकान की जमीन का पूरा और ठीक विवरण दर्ज रहता था। उसर भूमिके, जिस्का स्वामी राज्य होता था, क्रय-विकर्य में भी जिला पंचायत की सहमित जरूरी थी। कुछ भूमिदानपत्रों पर जिलेके शासन की मुद्राएँ भी अंकित पायो गयी हैं। नालंदा में प्राप्त राज्यह और गया विषयों की मुद्राओं से जात होता है कि जिले से बाहर के व्यक्तियों से जो पत्र ब्यवहार हाता था, उसपर जिलेकी सरकारी मुहर लगती थीं। सब काम नियमित दंग पर किया जाता था। यहां तक कि धार्मिक कार्य में दान देने के छिए भूमि खरीदने की आवश्यकता पड़ने पर स्वयं विषयपित को भी जिला पंचायत के सामने उपस्थित होकर उसकी अनुमित प्राप्त करनी पड़ती थीं।

## तहसील-शांसन

जिला या विषयं और ग्राम के बीच में भी कुछ शासन विमाग रहते थे जिनका स्वरूप और ग्राकार समय के अनुसार बदलता रहता था। मनुका मत है कि शासनसुविधा के लिए १० गांवों का एक वृन्द या गुट (छोटा शासन विमाग) होना चाहिये और ऐसे १० वृन्दों या १०० ग्रामों का एक मंडल, को आजकल के तहसील या तालुके के बराबर होता है। जिले में १ हचार गांव अर्थात् १० तहसील होनी चाहिये। महाभारत ग्रामों के समूहीकरण की इस दाशमिक प्रणाली को बदलकर २० ग्रीर ३० ग्रामों का समूह बनाता है । उत्कीर्ण लेखों से भी शात होता है कि कुछ प्रांतोमें हसी प्रकार की प्रणाली का अनुकरण किया जाता था। आठवीं और नौवीं सदी में हैदराबाद रियासत में पैठाण जिलें विब्बु भाल और हहत १० ग्रामों के, गुजरात में कर्णटवाणिज्य

१ 'हि॰ पॅटि. १६१० पृ. १९५ ; इ. २७४।

२ अ. स. रि., १९१३-१४।

३ एपि. इंडि. २३ पृ. ५४।

४ ७, ११५ ; विष्णु ३।

५ १२-८७, ३.से।

और बटपद्रक विषयों में सिहिरि और सारक्ष्व्छ १२ ग्रामों के, और कर्नाटक में पुरिगेरि विषय में सेवली ३० ग्रामों के समूह शासन-केन्द्र थे । ५ वीं शताब्दी में वाकाटक राज्य में प्रवरेश्वर मंडळ २६ ग्रामों का समूह था । ११ वीं और १२ वीं शताब्दी में राजपूताना, गुजरात और बुँदळखंड में कमशः तनुक्ष चडहिंडका और खत्तण्ड १२ ग्रामों के समूह थे । इसी कालमें माळवा में त्यायपद्रक समूह में १७, मरकाका समूह में ४२ और वरखेटक समूहमें ६३४ ग्राम थे। ८४ और १२६ ग्रामों के समूहों के भी उल्लेख प्राप्त हैं । इनका नामकरण प्रायः उसी क्षेत्र में श्वित किसी प्रमुख करने के नाम पर होता था। इनकी जिला विभाग कहना उचित होगा।

उपिर निर्दिष्ट प्रकार के कई ग्राम समूहों को मिलाकर आधुनिक तहसील या तालुका के बराबर का कासनघटक बनता था जिसे विभिन्न प्रान्तों में पाठक, पेट, स्थली. भुक्ति आदि विविध नामों से सम्बोधित किया जाता था। २०० ग्रामों के खर्बाटक और ४०० ग्रामों के द्रोणमुख मी विषय के ही उपविभाग थे, जो आधुनिक तहसीलों के करीब करीब बराबर होते थे। केंद्रीय सरकार की ओर से इनके शासन के लिए आधुनिक तहसीलदार या माम-कतदार बैसा कोई अधिकारी नियुक्त किया जाता था। अपनी हद्में उसके अधिकार भी विषय-पति के ही समान होते थे।

केंद्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये तहसीलदार आनुवंशिक करग्राहकों (मालगुजारी) की सहायता से कार्य करते थे। कमसे कम दिल्ल में तो ऐसी ही स्थिति थी। ये कर्णीटक में नालगानुंड के और महाराष्ट्र में देशग्रामकूट कहे जाते थे। मराठा युग के देशपांड, सरदेशपांड ग्रीर देशमुख इन्हीं की परंपरा में थे। उत्तर भारत में इस प्रकार के आनुवंशिक कर्मचारी हाते थे या नहीं, यह ग्रात नहीं।

९ राष्ट्रकृटों का इतिहास पृ. १३८।

२ पपि. इंडि. २४ पृ. २६४।

३ वही र पू. १०३। इंडि. ऐंटि. ६ पृ १९३-४; एपि. ४ पृ. १५७।

४ पपि. इ', २८ प. ३२२, बही, ३ प्र. ४८ ।

१ वही १ पूर ३१७, इंडि. ऐर १६ पूर ३५०।

६ अर्थशास्त्र, २, अध्याय १।

७ राष्ट्रकृटों का इतिहास, पृ० १७८-८०।

इन प्रामसमूदों के अधिकारियों के साथ लोकप्रिय संस्थाएँ या पंचायतें रहती थीं या नहीं इसका अभी विचार करना है। यह दिलाया जा जुका
है कि जिले में इस प्रकार की संस्थाएं होती थीं, और अगले अध्याय में यह
भी दिलाया जायगा कि ऐसी संस्थाएं ग्राम शासन-व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण ग्रंग
थीं। इसलिए यह ग्रस्तेमन नहीं कि तालुकों आदि छोटे शासन-विभागों में भी
इस प्रकार की संस्थाएँ रही हों। किंतु चोल काल्में केवल तामिल देशमें इस
संस्था के अस्तित्व के निश्चित प्रमाण उपलब्ध हैं। इनके संघटन की प्रणाली
पूरी तरह विदित नहीं है, फिर भी (Leyden) 'लेडेन' के दानपत्र से ऐसा
अनुमान होता है कि नाड़ के ग्रंतर्गत रहने वाले ग्रामों के प्रतिनिधि इस संस्था
में उपस्थित रहते थे। नाड़ पंचायतें मालगुजारी के बंदोबस्त और भूमि के
वर्गीकरण में सिक्ष्य भाग लेती थीं। दानपत्रोंमें शासक-गण इस संस्थाओं
से अनुरोध करते थे कि वे भिष्ट्य में उनके भूमि या ग्रामदान में इस्ताच्रेप
न करें। अकालादि के अवसरों पर नाड़ पंचायतें लगान में छूट प्राप्त करने की
भी व्यवस्था करती थीं।

ग्राम पंचायतों की भांति नाड़ पंचायतें व्यवनी ओर से दान भी देती थीं और जनता द्वारा प्रदत्त संपत्ति व्यथवा निश्वि की व्यवस्था भी करती थीं। ऐसे भी बहुत से उदाहरण मिले हैं जब संयोगवश्य किसी के द्वारा किसी की मृस्यु हो जाने पर नाड़ पंचायतों ने निर्णय किया है कि उक्त घटना हत्या नहीं दुर्घटना है, और व्यभियुक्त को प्रायक्ष्यित्त स्वरूप स्थानीय देवालय में नंदादीप जलाने की व्यवस्था करने का आदेश दिया ।

शासन का श्रांतिम और सबसे महत्व पूर्ण सोपान ग्राम था। इस विषय पर श्रगले अध्याय में विचार किया जायगा। पुर या नगर की शासन-व्यवस्था पर विचार करके प्रस्तुत श्रध्याय पूरा किया जायगा।

#### पुर-शासन

आधुनिक काल के बंबई ऐसे महानगरों की शासन-व्यवस्था और प्रांतों के छोटे-मोटे नगरों की व्यवस्था में महान अंतर रहता है। यद्यपि बंबई कारफोरेशन और किसी छोटे शहर के म्युनिसिपळ संघटन में कुछ समान सिद्धांत भी अवश्य

१ सी. इ. ए. रि., संख्या ३४६ ।

२ , सन १६१६ सं. ५५६।

३ ,, सन १६२६ सं. २३७ और सन १६१२, सं. ४३१।

है फिर भी पहिली संस्था का कार्यं होत्र दूसरी से कहीं अधिक विस्तृत है श्रौर उसके लिए अधिक उपसमितियों की भी आवश्यकता पड़ती है। प्राचीन भारत में भी ऐसी ही स्थिति थी।

वैदिक काळ के नगरों और उनकी व्यवस्था के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। वैदिक सम्यता मुख्यतः प्राम्नीण थी और पुर या नगर का उसमें कोई श्रिषिक महत्व नहीं था। परवर्ती हिता ग्रीर ब्राह्मण-ग्रंथों के काळ के भी नगरों के बारे में बहुत ही कम शात है।

पर ऐतिहासिक काल में आनेपर सिकंदर के आक्रमण के समय पंजाब नगरों और पुरों से परिपूर्ण दिखायी देता है। इनमें से अविकांश शासन में स्वायत्त ये और अपनी नगर परिषदों द्वारा अपना शासन-प्रबंध करते थे। इन परिषदों के संघटन का वर्णन नहीं प्राप्त होता है, संमवतः नगरें। के वयोवृद्ध और प्रतिष्ठित नेताओं का एक प्रकार के सर्व सम्मति से उसमें अंतर्भाव हो जाता था।

गुप्तकाल से साधारण नगर श्रीर पुरों की शासन-व्यवस्था का विस्तृत विवरण उपलब्ध होने हगता है। केंद्रीय सरकार द्वारा नियुक्त पुरपाल पुरशासन का प्रधान होता था। यदि र जिले का केंद्र हुआ तो यही जिले के शासक का भी कार्य करता था। यदि पुर दुर्ग हुआ तो इसमें कोटपाल नामक केंद्रीय सरकार का एक श्रीर अधिकारी रहता था, जिन्के मातहत कई नायक रहते थे । प्रायः पुरपाल स्वयं ही हेनानायक होते थे, जिले मंत्री और जिले के शासक हुआ करते थे। यथा, कर्नाटक के सर्वटुर नामक करने का पुरपाल करेंद्री राष्ट्रकृट सम्राट् तृतीय कृष्ण के श्रांगरक्षकों में से था । जगदेकमल्ल के शासनकाल में बादामी के संयुक्त पुरपाल महादेव और पातालदेव दोनों ही दंडनायक थे। कभी कभी ऐसे विद्यानों की श्रेणी में से भी जो पड़दर्शन ऐसे किन विषयों में भी दिलचस्पी रखते थे पुरपाल चुने जाते थे । संभव है कि वे उन दुर्लभ व्यक्तियों की कोटि के रहे हों जिनमें शब्ब और शास्त्र दोनों का संगम होता है।

पुरपाड को शासन कार्य में मदद देने के लिए गोधी पंचकुत्त या चौकड़ि

१ सन ८७५ ई में ग्वालियर में यही स्थिति थी, ऐपि. ई. १ पृ. १५४।

२ इ.डि. एँडि. १२ पू. २५=।

३ वही, १४ पू. १५।

४ पृषि. इं. ६ पृ. ३३

आदि विभिन्न नामें से निर्दिष्ट एक गैरसरकारी समिति भी रहती थी। इसमें सभी श्रेणी और वृत्तियों के प्रतिनिधि रहते थे। कभी कभी पुर विभिन्न हलकों में बाँट दिया जाता था और हलके या वार्ड से इसमें प्रतिनिधि भेजे जाते थे। यथा, राजपुताने के घलोप नगर में आठ 'वाइ।' (आधुनिक वार्ड) थे, और प्रत्येक से दो प्रतिनिधि लिये। जाते थे । प्रतिनिधियों के जुनाव की प्रणाली विदित नहीं। संभवतः लोक-प्रतिध्ठित व्यक्ति इनमें लिये जाते थे।

पंचकुल में पांच ही नहीं अविक सदस्य भी रहते थे जो नगर के विभिन्न 'वाहों' का प्रतिनिच्ति करते थे। इस संस्था की कार्य-कारिणी समिति भी होती थी, जिसके स्दस्य प्रतीहार कालीन राजपूताना और मध्यभारत में 'वार' नाम से संबंधित किये जाते थे?। यो तो यह नाम विचित्र सा जान पड़ता है, पर यह इस नात का स्चक है कि कार्यकारिणी समिति के सदस्य बारी बारी से बदला करते थे। गुजरात में भीनमाल से प्राप्त ११ वीं सदी के एक लेखमें वर्तमान वर्ष के "वारिक" का उल्लेख हैं । इससे प्रतीत होता है कि उक्त पुरमें प्रतिवर्ष कार्यकारिणी समिति का जुनाव होता था। राजपूताना के सियदोनि पुरी में जो व्यक्ति सन १६७ ई० में 'वारिक' थे वही सन् ९६९ में भी थे । इससे प्रतीत होता है कि कार्यकारिणी की कार्य-अविध यहां अधिक थी।

वारिकों की संख्या प्रत्येक नगर में भिन्न भिन्न रहा करती थी। सियदोनि में दो वारिक ये और ग्वालियर में तीन। इनका काम करों की वस्ली, सावजनिक भनका लेन देन, भर्मार्थ निभियों और सार्वचिनक कार्यों की व्यवस्था आदि नगर जीवन संबंधी सभी विषयों का प्रदंब करना था।

'बारिकों' का कार्यालय रहता था; श्रीर उनको मदद देनेके लिए स्थायी वेतनघारी कर्मचारी रहते थे। कार्यालय राजपूताना में 'स्थान' कहा जाता था और यहां महत्व के सब लेख-पत्र सुरचित रहते थे । यथा जब पेहों आ नगरी के अश्वन्यवसाइयों ने एक धर्म कार्य के लिए स्वेच्छा से चंदा देने का निश्चय किया, तो इस निश्चय की एक प्रति नगर के 'स्थान' में रख दी गयी ताकि

१ वही।

२ प्वि. इंडि., १ प्र. १५४; १७३-१७९

३ वर्तमानवर्षवास्किजोग चंद्र वाँ. गं. १ पु. ४३।

ष्ट पुषि, ई. १ प्. १७३-७६ ।

प् किबितस्थानातुमतेन करियकसर्वहारिया । एपि. ई. १-१७३-७९ ।

भिविष्य में इसी के अनुसार चंदा एकत्र किया जाय। नगर-समिति के लेख-पन्नों की देखरेल और पन्नव्यवहार के लिए 'करणिक' नामक एक स्थायी कर्मचारी होता था। समिति के निर्देशानुसार यही महत्व के पत्रादि किखता था। इसके मातहत अनेक कारकुन रहे होंगे। 'कौतिक' नामक कर्मचारी बाजार से कर उगाहता था, जो पुर समिति की आय का मुख्य माग होता था। कभी कभी केंद्रीय सरकार का कर भी उसकी ओरसे सिनित उगाह देती थी; यथा गुजरात में 'बाहुलोदा' पुरी का यात्रा कर जिसकी रकम लाखों तक पहुंचती थी, केंद्रीय सरकार की ओरसे नगर समिति ही उगाहा करती थी?।

अभी तक जो डदाइरण दिये गये हैं वे सज गुजरात और राजपूताना के ही पुरों के हैं, इससे यह न समझ लेना चाहिये कि अन्यत्र इस प्रकार की व्यवस्था थी ही नहीं। २ री शताब्दी ई. में महाराष्ट्र में नासिक की भी निगमसमा' (नगर सभा) थी, भूमि के क्रयनिकय संबंधी सन व्यवहार और लेख पत्र इसके कार्यालय में दर्ज किये जाते थे? । जिलेके शासन संबंधी प्रकरण में बंगाल के कोटिवर्ष की समिति का उल्लेख किया जा जुका है। कोकण के गुणपुर में पुरपाल की सहायतो के लिए एक समिति यी जिसमें १ ब्राह्मण १ व्यापारी और २ महाजन सदस्य थें । राष्ट्रक्ट और चालुक्य शासन कालमें कर्नाटक की ऐहोल पुरी में बराबर एक समिति वर्तमान रही। इसी प्रांत में मुलंद पुरी प्रवाहों में विभाजित थी, राजपूताने की श्रत्लोप पुरी की मांति यह विभाजन भी संभवतः समिति के प्रतिनिधि चुनने के हेत्र था, यद्यपि इस संबंध का उत्कीण लेख अपूर्ण होने के कारण हम निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कह सकते। अस्तु, प्राचीन भारतकी शासन-व्यवस्था में नगर समितियों का भी निश्चित और महत्वपूर्ण स्थान था।

३ री और ४ थी शताब्दी ई० पू० के पाटलिपुत्र नगर की व्यवस्था का वर्णन करके यह अध्याय समाप्त किया जायगा। साम्राज्य की राजधानी होने और देश चिदेश के व्यक्तियों से परिपूर्ण रहने के कारण इसकी व्यवस्था साधारण से कुछ भिन्न थी, पर इसका सामान्य स्वरूप वही था जो साधारण नगर-सितियों का था। पाटलिपुत्र नगर सिमिति में ३० सदस्य थे, और यह ६-६

१ प्रबंध चिन्तामिया पृ. ८४।

२ प्पि. इं. ७ नासिक सिकालेखा।

३ एपि, इंडि., ३. पृ. ३६०

खदस्यों की ४ उपसमितियों में विभाजित थी। इनमे से एक उपसमिति को विदेशियों की देखरेख श्रीर हनकी गतिविधि पर दृष्टि रखती थी. श्रान्य बहे नगरों और पत्तनों (बंदरगाहों ) में भी, जहां विदेशी अधिक संख्या में बसते थे, रही होगी । दसरी समिति का उल्लेख, जो जन्म और मरण का ठीक ठीक विवरण रखती थी. स्मृतियों या उत्कीर्ण टेखों में कहीं भी नहीं पाया जाता है। संभवतः यह मौर्य शासन की ही मौलिक योजना थीं, जो बादमें कोकप्रिय न हो सकी। वस्तओं के उत्पादन की देखरेख करनेवाली तीसरी उपसमिति केवल श्रीद्योगिक नगरियों और परियों में ही रही होगी। चौथी और पांचवी उपसमितियां उचित मजदरी ते करती. बाबारों का निरीक्षण करती. ग्रुढ श्रीर बिना मिलावट के वस्तओं के ही विश्वय की व्यवस्था करती तथा व्यापारियों से कर आदि वस्त करती थीं। ये कार्य तो प्राचीन काल की अधिकांश पुर और ग्राम समितियां करती रहीं। सार्वजनिक निर्माण समिति का. जिसे तामिल देशमें उद्यान या सरोवर समिति कहा जाता था, यहां उल्लेख नहीं किया गया है। इसका कारण संभवतः यह या कि साम्राज्य की राजधानी होने के कारण पाटलिपुत्र में इस विषय की व्यवस्था केंद्रीय राजकीय अधिकारी ही करते थे। उपर्युक्त उप समितियों में से किसी के द्वारा धर्मार्थ निधियों की स्ववस्था का उल्लेख भी नहीं मिलता, जो कार्य बादमें सभी पर और प्राम समितियां करती थों । जैसा कि अर्थशास्त्र में कहा गया है संभवतः इस कार्यंके लिए अलग ही कोई गैर सरकारी संस्था थी । यूनानी लेखक यह भी नहीं बताते कि पाटलियुन की नगर-समिति और उपसमितियों का संघटन कैसा था, वे सरकारी थी या गैरसरकारी, निर्वाचित या नियोजित! साम्राज्य की राजधानी होने के कारण संमव है कि पाटलिएन नगरी की विभिन्न समितियों में अर्थशास में वर्णित, पग्य, शहक, नाप तोल म्रादि करने के अध्यत्त आदि अनेक राज कर्मचारी भी रहे हो । परंतु इस विषयमें कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्रांतों और जिले के पुरों की सिमितियों में अधिकांश गैरसरकारी सदस्य रहते थे, यह पहले ही बताया जा चका है।

<sup>9</sup> Public work committee.

# ग्यारहवाँ अध्याय

### ग्राम-शासन-पद्धति

अति प्राचीन काल से ही भारत के प्राम, शासन व्यवस्था की धुरी रहे हैं। इनका महत्व ऐसे युग में श्रीर भी श्रिषिक या जब यातायात के साधन मंदगामी थे और कारखानों या यंत्रों का नाम भी न आ। प्राचीन भारत के जीवन में नगरों का स्थान नगण्य था। वैदिक मंत्रों में ग्रामों की समृद्धि की प्रार्थना बहुत की गयो है, पर नगरों या पुरां का कायद ही कभी नाम लिया गया हो । जातक कथाओं में भी किसी प्रदेश की समृद्धि के वर्णन के प्रसंग में उसके समृद्ध प्रामी की संख्या का तो बड़े गर्व से उल्लेख किया जाता है पर नगरों या पुरों का नाम भी नहीं लिया जाता। वैदिक काल के राज्य छोटे होते थे, इससे ग्रामों का महत्व और भी बढ़ गया या। बाद में राज्यों का विस्तार बढ़ने पर भी रियति में परिवर्तन न हुआ। कारण-बहुजन समान प्रायः ग्राम निवासी होने के कारण ग्रामीं का ही सर्वोपरि महत्व होना स्वाभाविक है। आधुनिक काल में गवर्नर शासन संबंधी प्रश्नों पर विचार करने के क्रिये कलक्टरों का सम्मेळन बुळाते हैं; प्राचीन काल में इसी कार्य के किए विविसार जैसे शासक प्राम के मुखियों को बुलाते थे?। इसमें कोई संदेह नहीं कि ग्राम ही देश के महत्व पूर्ण श्रांग और सामाजिक जीवन के केंद्र थे। राष्ट्र की संस्कृति, समृद्धि और शासन उन्हीं पर निर्भर थे।

## ग्राम का मुखिया

ग्राम का शासन ग्राम के मुखिया के ही निरोच्चण और निर्देश में चलता या। वेदों में इसे 'ग्रामणी' कहा गया है और बातक कथा ग्रों में भी बराबर इसका उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र शासन-व्यवस्था में इसके महस्व पूर्ण स्थान का साची है और ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के प्रायः सभी उस्कीर्ण लेखो। में इसका उल्लेख पाया जाता है। ईसवी सन की प्रारंभिक सदियों में इसे

१ ऋ. वे. १. ११४-१। १-४४-१०

२ महावसा, पंचम १।

उत्तर मारत में 'ग्रामिक' या 'ग्रामेयक' और तैलंगदेश में 'ग्रुनुन्द' कहा जाता था और ६०० से १२०० ई. के बीच महाराष्ट्र में 'ग्रामकूट' या 'पहकील', कर्नाटक में 'गाबुन्द' और युक्तशांत में 'महत्तक' या 'महतक' कहा जाता था ।

साचारणतः एक प्राम के लिए एक ही मुखिया रहता था व । उनका पद भानुवंशिक था, पर सरकार को अधिकार था कि यदि उत्तराधिकारी अयोग्य हो तो उसी इंश के किसी अन्य व्यक्ति को मुखिया बना दे। साबारणतः यह बाह्मणेतर जाति का ही होता था। वैदिक काळ से ही वह प्रामसेना का नायकत्व करता आया या अतः वह संभवतः चित्रय ही होता या, पर कभी कभी वैश्य भी इस पद का आकांची होता था और इसे प्राप्त भी कर लेता थाण ।

मुखिया ही ग्राम शासन में सबसे महत्व का पद रखता था। उसके वर्ग के मितिनिधि को वैदिक काल के 'रिरनियों' में स्थान मिलता या और जातक कथाओं में तो उसका वर्णन प्राय: ग्राम के राजा के अनुरूप ही हुआ है। ईसा की प्रथम सहसाब्दी के उत्कीर्यं लेखों में वर्षित ग्राम अधिकारियों में

१ एवि. इं., १ ए. ६८७; इं. इं. ४ ए. १५५; का. इं. ई., ३ ए. २५६

२ प्रि. इं. ९ प्र. १८; इं. प्रें., १८ प्र.११; प्रि. इं., २ प्र. ३५९

३ राष्ट्रकृटों का इतिहास, पृ. १८६

हं. दे., १८ ए. १५; १४ ए. १०३-४

५ सरकारद्वारा जिन ब्राह्मणों या सेना के क्सानों को ग्रामकर पाने का अधिकार मिळता था वे कभी कभी ओमभोक्त या आमपति कहे जाते थे। मगर ग्राम का मुखिया उनसे अखग होता था।

कभी कभी एक से अधिक मुखियों का भी उक्लेख मिलता है। कर्नाटक के कुछ प्रामों में ६ झीर १२ मुखिया तक होते थे ( राष्ट्रकूट इतिहास, पृ. १८६-१०)। संभवतः मुखिया वंश की सभी शासाओं को संतुष्ट करने के लिए ऐसा किया जाता था ; किंतु प्रायः हर शास्ता को वारी बारी से मुखिया होने का अवसर देकर सब शाखाओं के अधिकारों की रहा की जाती थी।

७ तैति. सं. २, ५, ४४ से ज्ञात होता है कि महत्वाकां ही हर वैश्य का बच्य 'आमयों' पद ही होता था।

उसका स्थान सर्व-प्रथम है। गहडवाल राजा किसी गाँव में भूमिदान करने के पहले उसके मुख्या से बहुआ राय लेते थे?।

मुखिया का सबसे मुख्य कर्तव्य ग्राम की रत्ता करना था, वह प्राम के स्वयंसेवक दल और पहरेदारों का नायक थार। आजकल की अपेचा प्राचीन काल में जीवन कहीं अधिक संवटपूर्ण था अौर यातायात की कठिनाई के कारण डाकुश्रों के अचानक आक्रमण श्रादि के समय सरकार से शीन सहायता भी न मिल सकती थी। श्रातः ग्रामवासियों को अपनी रत्ता स्वयं करनी पहती थी । ग्राम के मुखिया और स्वयंसेवक दल के सदस्यों के प्राम के दे देने के उदाहरण बहुत मिलते हैं ।

मुखिया का वृक्षरा महत्वपूर्ण कार्य सरकारी करों को उगाइना था। जरूरी लेख-पत्र उसी के संरक्षण में रहते थे और प्राम पंचायत की मदद से वह वस्ति का काम करता था। मुखिया ग्राम पंचायत का पदिसद अध्यक्ष भी होता था और ग्राम संबंधी प्रकृतों पर विचार और काररवाई उसी के निर्देश में होती थी। उसे अपने काम के पारिश्रमिक स्वरूप करमुक्त (माफी) जमीन और अनाज श्रादि के रूप में उगाहे जाने वाले कुछ छोटे मोटे करों की आमदनी मिलती थी।

मुलिया गाँवका सबसे प्रभावशाली व्यक्ति होता या। शुक्रनीति का यह कथन बहुत यथार्थ है कि वह प्रामवासियों के माता पिता के समान था । सरकार के प्रति उत्तरदायी होते हुए भी वह जनता का ही आदमी वा और उनके हित की रह्या के लिए सदा तत्पर रहता था। जनता के लिए भी वह उतना ही आवश्यक था जितना राज्य के लिए था।

प्राम के कार्योद्ध्य में राज्य कर की वस्ती और भूमि के क्रय-विक्रय या

१ पुषि. इं. २, पृ. ३४९-६१।

२ प्रारंभिक काक के लिए कुलायक और खरस्सज जातक देखिये; बाद के लिए देखिये—यथा स्वसैन्येन सह प्रामाध्यचादिसैन्यं सर्वाध्यक्स्य भवति।—सांक्यतस्वकौमुदी पृ. ५४ ( हा संस्करण )

२ राष्ट्रकूटों का इतिहास पृ. १६०-१।

४ अथंशास्त्र २ अध्याय १

प सप्तश्चती ७-६१; एपि. क., भाग ८ सोराव नं. ४४४; इं. प्रें., ७. ट्र. १०४; सी. इं. ए. रि., १६१६ नं. ४७९ और ७४६

६ २, ३४३।

स्वामित्व संबंधी सब लेख-पत्र रखे जाते थे। सरकार और जिले के अधिकारियों है होनेवाले पत्र-व्यवहार और ग्राम-पंचायत के निश्चयों की भी प्रतिलिपि रखना जरूरी था। यह सब काम गाँव का मुनीम करता था। उसका पद भी आनुवंशिक था और पारिश्रमिक में उसे भी करमुक्त जमीन मिलती थी। तामिल देश में उसकी नियुक्ति ग्रामपंचायत द्वारा होती थी।

ग्राम के प्रायः सभी सद्ग्रहस्य ग्रामसभा की सदस्यता के अधिकारी थे। इस संबंध में उत्तर भारत और प्रारंभिक काल के लिए स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते। फिर भी ऐसा लिखत होता है कि महाराष्ट्र में ग्रामसभा में गाँव के सब ग्रहस्य रहते थेरे। इसमें भी संदेह नहीं कि कर्नाटक में और ६०० ई० से तामिल देश में भी यही श्रवस्था थो। कर्नाटक के बहुत से लेखों से विदित होता है कि ग्रामसभा के सदस्यों की संस्था,—जिनको वहाँ महाजन कहते थे—कभी २०० कभी ४२०, कभी ५०० श्रीर कभी १००२ तक होती थी। इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि इनमें गाँव के सब ग्रहस्य शामिल थेर। तामिल देश में हुग्गी पीट कर सब ग्रामवासी सभा के किए आमंत्रित किये बाते थे।

अस्तु, प्राम के सब निम्मेदार गृहत्व ग्रामसमा के प्रारंभिक सदस्य होने के अधिकारी थे। यह उल्लेखनीय है कि निमिन्न प्रांतों में प्राम सभा के समासदों के लिये प्रयुक्त सन बन्दों का एक ही अर्थ 'गाँव के बड़े श्रादमों' होता है—यथा, युक्त प्रांत में महत्तम, महाराष्ट्र में महत्तर, कर्नाटक में महाबन और तामिक देश में पेरुमकाल सबका एक ही अर्थ है।

इतसी बड़ी संख्या में होने के कारण ग्राम-महाजन ग्राम के प्रबंध के लिए अवश्य ही किसी कार्यकारिणी समिति या परिषद से काम लेते रहे होंगे। अभो हमें इसके संबटन पर विचार करना है।

जातकों से ज्ञात होता है कि न तो मुखिया और न ग्राम का मुनीम ग्राम प्रकंष में मनमानी कर सकता या। उन दोनों को ग्रामवृद्धों को राय के अनुसार चक्रना पड़ता था। ये ग्रामवृद्ध प्रारंभिक काल से हो एक प्रकार की

१ कभी कभी पंचायत प्रतिवर्ध उसी मुनीम की पुनर्नियुक्ति कर देती थी, सौ. इं. ए. रि. १६३२, सं. ३२

२ एपि. इं., १४ पृ. १५० ।

३ इंडि. ऍटि. ४ पृ. २७४; एपि. इं. ४ पृ. २७४, १३ पृ. ३३-४

४ आवतेकर, राष्ट्रकूरों का इतिहास पृ. १६६-२०१।

उसका स्थान सर्व-प्रथम है। गहडवाल राजा किसी गाँव में भूमिदान करने के पहले उसके मुखिया से बहुआ राय लेते थे?।

मुखिया का सबसे मुख्य कर्तव्य ग्राम की रच्चा करना था, वह प्राम के स्वयंसेवक दल और पहरेदारों का नायक था? । आजकल की अपेचा प्राचीन काल में जीवन कहीं अधिक संकटपूर्ण था और यातायात की कठिनाई के कारण डाकुश्रों के अचानक आक्रमण श्रादि के समय सरकार से शीन सहायता भी न मिल सकती थी। श्रातः प्रामवासियों की अपनी रच्चा स्वयं करनी पड़ती थी । ग्राम की रच्चा में ग्राम के मुखिया और स्वयंसेवक दल के सदस्यों के प्राम तक दे देने के उदाहरण बहुत मिलते हैं ।

मुखिया का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य सरकारी करों को उगाइना था। जरूरी हेख-पत्र उसी के संरक्षण में रहते थे और ग्राम पंचायत की मदद से वह वस्त्री का काम करता था। मुखिया ग्राम पंचायत का पदसिद्ध अध्यक्ष भी होता था और ग्राम संबंधी प्रक्रों पर विचार और काररवाई उसी के निर्देश में होती थी। उसे अपने काम के पारिश्रमिक स्वरूप करमुक्त (माफी) जमीन और अनाज आदि के रूप में उगाई जाने वाले कुछ छोटे मोटे करों की आमदनी मिलतो थी।

मुलिया गाँवका सबसे प्रभावशाली व्यक्ति होता था। शुक्रनीति का यह कथन बहुत यथार्थ है कि वह प्रामवासियों के माता पिता के समान था । सरकार के प्रति उत्तरदायी होते हुए भी वह जनता का ही आदभी वा और उनके हित की रह्या के लिए सदा तथार रहता था। जनता के लिए भी वह उतना ही आवश्यक था जितना राज्य के लिए था।

शाम के कार्योद्ध्य में राज्य कर की वस्ती और भूमि के कय-विक्रय या

१ पृषि. इं. २, पृ. ३४९-६१।

२ प्रारंभिक कांक के लिए कुंबायक और खरस्सज जातक देखिये; बाद के लिए देखिये—चथा स्वसैन्येन सह प्रामाध्यत्वादिसैन्यं सर्वाध्यत्वस्य भवति।—सांख्यतस्वकौमुदी पृ. ५४ (हा संस्करण)

३ राष्ट्रकूटों का इतिहास पृ. १६०-१।

४ अर्थशास्त्र २ अध्याय १

सत्तवाती ७-३१; एपि. क., भाग ८ सोराव नं. ४४१; इं. ऐं., ७. वृ.
 १०४; सी. इं. ए. रि., १३१६ नं. ४७९ और ७४३

**<sup>6</sup>** 2, 282 1

स्वामित्व संबंधी सब लेख-पत्र रखे जाते थे। सरकार और जिले के अधिकारियों से होनेवाले पत्र-व्यवहार और प्राम-पंचायत के निश्चयों की भी प्रतिलिपि रखना जरूरी था। यह सब काम गाँव का मुनीम करता था। उसका पद भी आनुवंशिक था और पारिश्रमिक में उसे भी करमुक्त जमीन मिलती थी। तामिल देश में उसकी निशुक्ति प्रामपंचायत द्वारा होती थी।

ग्राम के प्रायः सभी सद्ग्रहस्य ग्रामसभा की सदस्यता के अधिकारी थे। इस संबंध में उत्तर भारत और प्रारंभिक काल के लिए स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते। फिर भी ऐसा लिखत होता है कि महाराष्ट्र में ग्रामसभा में गाँव के सब ग्रहस्य रहते थेरे। इसमें भी संदेह नहीं कि कर्नाटक में और ६०० ई० से तामिल देश में भी यही अवस्था थी। कर्नाटक के बहुत से लेखों से विदित होता है कि ग्रामसभा के सदस्यों की संस्था,—िनको वहाँ महाजन कहते थे—कभी २०० कभी ४२०, कभी ५०० श्रीर कभी ३००२ तक होती थी । इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि इनमें गाँव के सब ग्रहस्य शामिल थेरे। तामिल देश में हुग्गी पीट कर सब ग्रामवासी सभा के किए आमंत्रित किये बाते थे।

अस्तु, ग्राम के सब निम्मेदार गृहश्य ग्रामसमा के प्रारंभिक सद्स्य होने के अधिकारी थे। यह उल्लेखनीय है कि विभिन्न प्रांतों में ग्राम सभा के समासदों के लिये प्रयुक्त सन शब्दों का एक ही अर्थ 'गाँव के बड़े श्रादमों' होता है—यथा, युक्त प्रांत में महत्तम, महाराष्ट्र में महत्तर, कर्नाटक में महाबन और तामिल देश में पेरुमकाल सनका एक ही अर्थ है।

इतसी बड़ी संख्या में होने के कारण ग्राम-महाजन ग्राम के प्रबंध के लिए अवश्य ही किसी कार्यकारिणी समिति या परिषद से काम लेते रहे होंगे। अभो हमें इसके संबटन पर विचार करना है।

जातकों से ज्ञात होता है कि न तो मुखिया और न ग्राम का मुनोम ग्राम प्रवंच में मनमानी कर सकता था। उन दोनों को ग्रामवृद्धों को राय के अनुसार चक्रना पड़ता था। ये ग्रामवृद्ध प्रारंभिक काल से ही एक प्रकार की

१ कभी कभी पंचायत प्रतिवर्ध इसी सुनीम की पुनर्नियुक्ति कर देती थी, सी. इं. ए. रि. ११३२, सं. ३२

२ प्पि. इं., १४ पृ. १५०।

३ इंडि. ऐंटि. ४ पृ. २७४; एवि. इं. ४ पृ. २७४, ३३ पृ. ३३-४

४ बालतेकर, राष्ट्रकूटों का इतिहास पु. १३६-२०१।

गैर सरकारी समिति के रूप में कार्य करते थे। यह दिखाया जा जुका है कि वैदिक युग की सभा प्राम पंचायत या परिषद के साथ साथ सामाजिक गोधी का भी कार्य करती थी। इसमें बैठकर सदस्य गण सामाजिक चर्चा भी करते, खेल आदि खेलते तथा साथ ही प्राम-प्रवंश संबंधी कार्य भी निपराते थे । जातकों से ज्ञान होता है कि प्राम-व्यवस्था प्रामवाले स्वयंही करते थे । इनमें इस कार्य के लिए किसी स्थायी समिति या संस्थाने होने का कोई जल्लेख नहीं है। काम करने का भार मुख्या पर ही था, पर यदि उसका कोई कार्य रीति विश्वद होता था तो प्राम-वृद्ध उसकी गलती बताकर सूल मुधार देते थे । मौर्य्य युग में प्राम संस्था सार्वजनिक प्रमोदजनक और उपयोगी कार्यों की व्यवस्था करती थी, गाँववालों का आपस का झगड़ा ते किया करती थी और नावालिगों की संपत्ति का संस्कृण करती थी । परंतु इस काल में किसी कार्यकारी परिषद् का विकास न हो पाया था क्योंकि प्रथंशाल विश्वस्त (trustee) रूप से कार्य करनेवालों में प्राम बुखों का उल्लेख करता है, किसी समिति या उपसमिति का नहीं।

गुप्त काल में कम से कम कुछ प्रांतों में तो ग्राम समितियों का विकास हो चुका था। मध्य भारत में इन्हें 'पंचमण्डली' श्रीर बिहार में 'ग्राम-जानपद' कहते थे। नालंदा में विभिन्न ग्राम जानपदों की अनेक मुद्राएँ मिली हैं जिससे चात होता है कि ग्राम-जानपदों द्वारा नालंदा के अधिकारियों को जो पत्रादि में जो जोते थे उन सब पर उनकी मुहर रहती थी । यह निश्चितप्राय है कि विहार में ग्राम-जानपद नियमित संस्थाओं का रूप धारण कर चुकी थीं जिनकी नियमित बैंठकें हुआ करती थीं श्रीर जिनके निर्णय वा व्यवस्था मुहर स्थाकर बाहरियों को प्रेषित किये जाते थे।

१ देखो पीछे ब्रध्याय ७, पृ. ९७४

२ कुणाल नातक

पानीय जातक। यहाँ मुखिया मिद्रा बेचने और जानवरों के काटे जाने
 की निषेवाज्ञा वापस लेता है, जब गाँववाले यह समझाते हैं कि ये गाँव की पुरावी प्रयाप थीं।

४ वर्षशास्त्र ३, अध्याय १०।

र मसीलकासंनिधाने प्रासतृद्धेषु स्थापयित्वा, ३, भरनाम १२:।

६ में, स. स. इं., ६६, पु. ४४ से आगे।

पल्लब े और वाकाटक राज्य में ( २१०-११० ई ) 'महत्तर' नाम वारण करनेवाले ग्रामबृद्ध ग्राम का शासन कार्य कर रहे थे, पर यह ज्ञात नहीं कि किसी समिति का विकास हो जुका था या नहीं । परंतु गुजरात और दक्खन के उत्कीण लेखों से पता चलता है कि १०० ई० के लगभग 'ग्राम बृद्ध' श्रपनी एक कार्यकारिणी समिति संघटित कर जुके थे बिसे 'महत्तराधिकारिणां' या 'ग्राधिकारिमहत्तराः' कहा जाता था । राजपूताने में प्राप्त लेखों से भी ऐसी ही स्थित का पता चलता है, यहाँ कार्यकारिणी समिति 'पंचकुल' नाम से प्रसिद्ध थी और 'महंत' नाम से अभिहित एक मुखिया की अध्यच्यता में कार्य करती थी । निःसंदेह यह बड़ी महत्वपूर्ण संस्था थी क्योंकि राजकुल के दानों की सूचना भी इसकी बेठकों में दी जानी आवश्यक श्री६ । ग्राहडवाल लेखों में भी 'महत्तर' या 'महत्तम' का उल्लेख मिलता है पर उनकी कोई नियमित समिति संघटित हो पायो थी या नहीं इसका पता नहीं चळता ।

चोल राजवंश के (९००-१३०० ई०) लेखों से तामिल देश में प्राम समा और उसकी 'समिति' के कार्यों का अधिक विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है । साजारण प्रामी की ग्रामसभा 'उर' और अग्रहार ग्रामी की जहाँ ग्राविकतर विद्वान ब्राह्मण रहते थे, 'समा' कही जाती थी। कमी कमी

१ पुषि. ७, प. १३५ ।

२ प्रि. इं. ३६, पृ. १०२।

३ सर्वानेव राजलामन्त्र...ग्राममहत्त्राधिकारिकान्...। इं. प्रॅ १३ पृ. ७७ सर्वानेव राष्ट्रपति...ग्रामकूटायुक्तकनियुक्तकाधिकारिकमहत्तरादीन्। इंडि. प्रेंटि., १३ पृ. १४। देखिये, अलतेकर, 'विल्डेज कश्यूनिटीज इन वेस्टर्न इंडिया' पृ. २८-२१

ध प्रि. ई. ११ पृ. ५८ । वॉ. गॅ. १. १. पृ. ४७४-५ ।

प पुषि. ३३ पृ. ५६।

६ वही ११ पृ. ४९-५०।

७ ई. ऍ., १८, ३४-५; एपि ई., ३, १६६-७।

देखिये—ए. नीडकंठ शास्त्री, किंद चोड़, अध्याय १८ भीर 'स्टबीझ इन चोड़ हिस्ट्री पुँड एडिमिनिस्ट्रेशन' पृ. ७३-१६३ । तथा एस. के. अध्यागर— 'ऐडिमिनिस्ट्रेटिव इंस्टीट्यूशन इन साउथ इंडिया', अध्याय ५ ।

दोनो प्रकार की संस्थाएँ एक ही प्राम में पायी जाती हैं। संभवतः ऐसा तब होता या जब नयी ब्राह्मण बस्ती छोटी होती थी । जैसा कि पहले कहा जा जुका है प्रामसभा के सदस्य सभी गृहस्य होते थे। इसके अजिनेशन की स्वना हुग्गी पिटवाकर दी जाती थी । इसका एक प्रजान कार्य कार्यकारिणी समिति या पंचायत का चुनाव था। 'उर' में एकत्र सब प्रामवासियों की राय से यह चुनाव होता आ । पर इसकी प्रणाली श्वात नहीं। स्वीकृति संभवतः मौखिक रूप में ही दी जाती थी, श्रीर प्रतिष्ठित व्यक्तियों का कहना माना जाता था। कार्यकारिणी का नाम 'श्राद्धंगनम्' (शासक समिति ) आ, मगर इसके सदस्यों की संख्या विदित नहीं है।

प्रामितमा और इसकी कार्यकारिणी का सबसे अच्छा और विस्तृत विवरण 'अग्रहार' ग्रामों के बारे में मिलता है। इनके निवासी अधिकतर विद्वान ब्राह्मण होते थे, जो समाज के सबसे सुसंस्कृत और शिक्तित वर्ग थे। इनमें से कुछ ने ग्रामसभा की कार्यकारिणी या पंचायत के विधान का विस्तृत विवरण देकर इतिहास का बड़ा ही उपकार किया है। सबसे अच्छा और पूर्ण विवरण उत्तर मेरूर ग्राम के प्रविद्ध लेखों से मिळता है। यह ग्राम चिंगळीपत जिले में ग्रास्यल्य परिवर्तित 'उत्तर मल्खूर' नाम से ग्रामी तक विद्यमान हैं ।

इस प्राम का शासनकार्य प्रामसभा की पाँच उप-समितियों द्वारा होता या। सब सदस्य अवैतनिक कार्य करते ये श्रीर उनका कार्य-काल एक साल था। अनुचित कार्य करने पर वे बीच में भी हृदाये जा सकते थे। ग्राम के प्रत्येक योग्य निवासी को काम करने का अवसर देने के लिए यह नियम बनाया गया था कि एक बार किसी उप समिति में रह चुकने पर पुनः तीन वर्ष तक उस व्यक्ति का उक्त स्पर्समितियों में अंतर्भाव न हो। दुश्चरित्र और सार्वजनिक धन का दुरुपयोग करनेवाला व्यक्ति या उसके निकट संबंधी सदस्यता के अधि-

तिक्वेव्ह में यही स्थितिथी (सौ. इं. ए. रि., १९१४ ई. वं ११२ और १२३) और तिरैशृर में भी (सौ. इं. ए. रि., १६१७ सं. १०१, ११६)

२ सी. इं. ए. रि., ३६२१-सं. ५४३, १८६६ सं. ८५, ३६१४ सं. ७२, और १९६७ सं. १०३।

२ सी. इं. ए. हि., ११३२ ई. सं. दह।

४ इन छेलों के मूझ के लिए देखिये, के. ए. एन शास्त्री, रखीज इन चोल हिस्टी तथा भासा है।, १६०१।

कार से बंचित कर दिये जाते थे। संबंधियों की भी दंढित करने का उद्देश्य इस कार्य की गईणीयता पर जोर देना था। सदस्य न तो बहुत कम बय के होने चाहिये न बहुत अधिक वय के, उनकी अवस्था ३५ के ऊपर पर ७० के नीचे होनी आवश्यक थी। सदस्यता के लिए इतने प्रतिबंधों के अतिरिक्त सदस्य के पास अपना मकान और कम से कम चौथाई 'वेलि' (क्रगभग र एकइ ) कर देनेवाली भूमि होना जकरी था। इसका उद्देश्य यह था कि है सियतदार व्यक्तियों को ही सार्वजनिक घन की व्यवस्था का भार सौंपा जाय। पर वेह, स्मृति और भाष्य (दर्शन) के विद्वान के लिए एक एकइ जमीन का स्वामित्व भी पर्याप्त माना जाता था। यह स्वामाविक ही था कि 'ग्रमहार' प्राम की उपसमितियों के सदस्य यथासंभव ग्रच्छे है सियतदार, विद्वान, सचित्र और ईमानदार व्यक्ति हों। यह उल्लेखनीय है कि इन उपसमितियों में किसी सरकारी कर्मचारी को स्थान न था। दिच्चण के ग्रामों के 'महत्तराधि-कारी' भी उत्कीण लेखों में सरकारी कर्मचारियों से एकदम अलग रखे गये हैं।

पर यह न समझ लेना चाहिये कि ये नियम अग्रहार प्रामों में भी सब्बंध बिना अपवाद लागू किये बाते थे। प्रामसभा का विकास गाँव के लोगों के एक स्थान पर एकत्र होकर सामाधिक, धार्मिक, राष्ट्रनीतिक तथा ग्रन्य विविध विध्यों पर बातचीत करने की प्रथा से हुआ। इन चर्चाओं के फलस्बरूप कुछ नियम धीरे बीरे बने और ग्रापसी बेठक ने एक संस्था का रूप ग्रहण किया। उरकीण लेखों में इनका उल्लेख ८ वीं सदी के अंतिम चरण से मिलने लगता है। प्रत्येक 'सभा' का अपना स्वतंत्र विधान रहता था यद्यपि इनका साबारण रूप काभग एक साही था। यथा, कहीं सदस्य होने का कम से कम वय रूप तो कहीं ४० साल थी। कहीं सदस्य है साल के अंतर के बाद पुनर्निविधन के श्रिषकारी थे तो कहीं ५ और कहीं कहीं १० साल के बाद भी। कुछ सभाओं में यहाँ तक कड़ाई थी कि एक बार निर्वाचित सदस्य के निकट संबंधियों को भी ४ वर्ष तक सदस्य होने की श्रनुमित न थी । उपसमितियों की संख्या और कार्यों में भी परिस्थित के अनुसार अंतर होता था।

प्रत्येक समा अपना विश्वान स्वयं बनाती थी। सबसे पुराने विश्वान का उदाहरण माननिलैनल्ह्यू प्राम की महासभा का है। इसका विधान एक विशेष अधिवेशन में निर्मित हुआ था, जिसकी सूचना हुग्गी पीट कर दी

१ सी. इ. प्. हि., १६२७, सं. २८। १९२४, सं. ५००।

गयी थी । विवान में संग्रोधन भी सभा द्वारा ही किये जाते थे। कभी कभी तो दो महीने के अंदर ही विधान संग्रोधन किये जाने के उदाहरण मिलते हैं?।

उत्तर मेरूर में आमसभा की पंचायत या कार्यकारिणी सभा के सदस्य चिटी डाल कर चुने जाते थे। आम के तीसों 'बाडों' में से प्रत्येक द्वारा कई व्यक्तिकों के नाम प्रस्तावित किये जाते थे, प्रत्येक उम्मेदनार का नाम अलग अलग पुर्जियों पर लिख लिया जाता था। हरएक वार्ड की पुर्जियों एक वर्तन में रख दी जाती थों और किसी अनोब बालक से एक चिट्टी उठाने को कहा जाता था। जिसके नाम की चिट्टी उठती थी वह उस वार्ड का प्रतिनिधि बोधित किया जाता था, इस प्रकार किसी पैरबी, प्रचार या दलवंदी की आवश्यकता हो न पहती बी।

इस प्रकार निर्वाचित ३० श्रादमी मिन्न भिन्न उपसमितियों में रख दिये जाते थे। पहली उपसमिति गाँव के उद्यानों और फल की बिगयों की देखरेख करती थी, दूसरी गाँव के सरोवर और जल प्रणाली की, तीसरी आपसी झगड़ों के निपटारे का महत्वपूर्ण कार्य करती थी। चौथी 'स्वर्ण उपसमिति' थी, इसका काम निष्पक्ष भाव से सबका सोना परख कर उसका मान निर्धारत करना था। इस सिति में विशेषज्ञ ही रखे जाते थे। उस समय कोई निश्चित मुद्रा प्रणाली न थी इसलिए कर के रूप में या क्रय विक्रय के माध्यम रूप में जो सोना दिया जाता था उसकी ठीक परख और मूल्य-निर्धारण करना अत्यावश्यक था। इस उपसमिति के सदस्यों के चुनाव की विशेष विश्व नियत थी। पाँचवों उप सिनित 'पंचवार' सिनित कही जाती थी, मगर इसका कार्य ठीक ज्ञात नहीं।

एक उपसमिति की सदस्यता का कार्य काल पूरा हो जाने के बाद निश्चित ब्यवधान बीत जाने पर पुनर्निर्वाचित होने पर उक्त सदस्य किसी दूसरी उप-समिति में रखे जाते थे। इससे उन्हें ग्राम शासन के अनेक श्रंगों का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिळता था।

इन पाँच उप-समितियों के अतिरिक्त, सब पर देखरेख के हिए एक समिति और थी जिसे 'सांबरस्वारीयम्' (वार्षिक समिति ) कहते थे। इसके सदस्य केवल अनुभवी व्यक्ति ही हो सकते थे, जो विविध उपसमितियों में काम का अनुभव रखते थे।

उपसमितियों की संख्या और कार्य-चेत्र प्रत्येक ग्राम की आवश्यकतानुसार

१ बासी—चोक स्टडीज, पृ. द२।

र सौ, इं. ए. रि., १६२२ ई. सं, २४० और २४१ ।

भिन्नभिन्न रहती थी। एक छेख से भूमि-माप समिति का पता चलता है। इसका काम भूमिकी नाप जोख और वर्गीकरण करना और यह देखना था कि सरकारी नाप या भूमिकर भी उचित और न्यायसम्मत हो। एक अन्य हेख में २ देवालय समिति का भी उल्लेख है। अप्रहार ग्रामों में विद्यालय भी रहते थे अतः संभव है कि इनमें एक शिद्या-समिति भी रहतो हो।

यह देखा जा चुका है कि गुप्त और परवर्ती काल में विहार, राजपूताना, महाराष्ट्र, और कर्नाटक में आमसभाओं की कार्यकारिणी समितियाँ भी कायम हो चुकी थीं। पर स्मृतियों या उत्कीर्ण लेखों से इनके संघटन के बारे में कुछ बानकारी नहीं प्राप्त होती। बैसा कि ऊपर देखा जा चुका है तामिल देश में प्रतिवर्ष इस समिति का पुनस्संघटन होता था। राजपताना में भीनमाल के एक लेख ( १२७७ ई॰ ) में पंचकुल ( कार्यकारिणी समिति ) के सदस्यों द्वारा एक दान का वर्णन है. जिसमें सदस्य यह लिख देते हैं कि दान हम करते हैं पर इसका श्रेय जो जो भविष्य में इस पद पर आर्थे उन सबका रहेगा । इससे जान पढता है कि उत्तर भारत में भी इस समिति का निश्चित अवधि पर पुनस्संघरन हुआ करता था। पर यह ज्ञात नहीं कि इनका कार्यकाल क्या था। उत्तरमेरूर में निर्वाचन चिट्टी द्वारा होता था। आज करू के समान दलबंदी और तहबंदी बाली जुनाव प्रणाली संभवतः प्राचीन भारत में कहीं न थी। गाँव के सद्युहस्यों की समाम साधारण जनमत के अनुसार प्रमुख व्यक्ति कार्यकारिणी के लिए खुन ढिये जाते थे। इसमें जात पाँत के भेदमान का असर न पड़ता था। गुप्तकाल में इन समितियों में बहुत से बाह्यणेतर जातिवाले काम करते दिखाई देते हैं और मराठा शासन काल में तो ग्राम पंचायत के फेसलों पर अबाह्मण ही नहीं अस्प्रयों तक के इस्ताचर मिलते हैं।४

कर्नाटक में तामिक देश की भांति प्राम-सभा को उपसमितियों में विमाबित करने की प्रया न थी। बहुत से उन्कीण देखों से पता चलता है कि प्रामके महाजन पाठशालाओं का प्रबंध, सरोवरों और धर्मशालाओं का निर्माण, सार्व-जनिक कार्यों के किए चंदा, तथा धर्मार्थ निष्यों और धातियों (trusts) के

१ सौ.इं.ए. रि. , १९१३ सं. २६२।

र सौ.इं. ए. रि. , १६१५-६ पृ. ११४।

३ बस्मारपंचकुलः सर्वो मंतब्य इति सर्वदा ।

तस्य तस्य तदा श्रेयो यस्य यस्य यदा पदम् ॥ बाँ. गॅ., १, १ पृ.४८०

४ ऐतिहासिक खेल संग्रह, १६ पू. ५५।

उपसितियों का निर्माण होना स्वाभाविक बात होती पर लेखों में इनका कभी भी उल्लेख नहीं किया बाता? । ऐसा प्रतीत होता है कि प्राम महाजन इन कार्यों को अपनी कार्यकारिणी समिति पर छोड़ देते थे, इसमें ३ या ४ सदस्य होते थे? । ये लोग आवश्यकतानुसार ग्राम के अन्य प्रमुख बनों की सहायता लेते थे।

उत्तर भारत में भी संभवतः चोल देश के समान उपसमितियाँ न थीं। यहाँ माम सिमित में १ सदस्यों की संख्या नियत थी, इसे स्पष्ट रूप से गुप्त काल में 'पंच मंडली' कहा जाता था<sup>3</sup>। मध्यकालीन कई लेखों में भी इसे 'पंचकुली' कहा गया है १। अस्तु, १ सदस्यों की छोटी सी संस्था की उपसमितियाँ क्या हो सकती थी।

अब ग्राम पंचायत के कार्यों पर दृष्टिपात किया जायगा। दिचण भारत के कई उल्लेखों से प्रकट होता है कि भूमिकर बस्ल करने की जिम्मेदारी इसी पर भी। अकार तथा अन्य संकट पड़ने पर यही राज्य से लगान में छूट ग्रादि कराने की व्यवस्था करती थी। पर एक बार इसका परिमाण तथ हो जाने पर ग्राम-पंचायत उसकी वस्लों के लिए भी जिम्मेदार हो जाती थी और इस कार्य के लिए उसे सब प्रकार की कार्रवाई, बकाया लगाने वालों की भूमि का नीलाम भी, करना पड़ता था। वार्षिक कर की रकम एक मुश्त भी ग्राम-पंचायत के पास जमा की जा सकती थी। इस दशा में पंचायत इसे राज्य-कर देने से मुक्त कर सकती थी। यह कर जमा की हुई रकम के व्याज से दिया जाता था।

इसमें संदेह है कि उत्तर भारत, महाराष्ट्र की कर्नाटक की ग्राम पंचायतों को भूमिकरों के संबंध में चोळ देश की पंचायतों के समान विस्तृत ग्रिधिकार थे। कम से कम उत्कीण लेख तो इस विषय में मौन ही हैं।

प्राम की ऊसर भिम का स्वामित्व भी पंचायत को ही रहता था। गुप्त काल में राज्य प्राम की पंचायत की सम्मित से ही इन्हें बेच सकता था । बहुत से चोल लेखों में पंचायतां द्वारा भिम के विक्रय का वर्णन है, इनमें से संभवतः बहुत से ऐसे भी ऊसर रहे होंगे, जो खेती के योग्य बनाये जा चुके थे ।

३ अक्तेकर, राष्ट्रकूटो' का इतिहास, पृ० २०३।

२ ,, ,, पृ० २०२।

र को. इं. इं., २,५० ३१; ४ ए.इं.,११, ५० ४९;४६; बॉ. बॅ.,१.१.४७४

श्र एपि. इं १४, पृ. १३०।

द सौ. इं. ए. रि., १९१० सं. ३१२, ३१९, और ३२८।

गाँव वालों के झगड़े निपटाना पंचायत के सबसे महत्वपूर्ण कार्यों में था । पहले तो घर और विरादरी के बड़े बूढ़े ही झगड़ा निपटाने का प्रयत्न करते थे, उनके विफळ होने पर मामळा पंचायत में जाता था । गंभीर अपराघ स्वभावतः पंचायत की अधिकार सीमा के बाहर थे, क्योंकि इसमें प्राण दंड आदि कड़े दंडों की आवश्यकता पड़ती थी और इसका अधिकार उच्च राजकीय न्यायालय को ही होना उचित था। पर संयोगवश किसी के द्वारा किसी की मृत्यु हो जाने की घटनाएँ चोल काल में अक्सर पंचायत ही निर्णय किया करती थी ।

पर दीवानी मामलें में पंचायत के अधिकारों की कोई सीमा न थी। इजारों रुपयों की संपत्ति के झगड़े भी वह ते कर सकती थी।

कुछ के खकों का यह मत है कि पंचायतों को न्याय के अधिकार मिलने का कारण तत्काळीन अराजकता और राजकीय न्यायाळयों का अमाव था। पर स्मृतियों, उत्कीण टेखों और मराठा शासन के कागज पत्रों से प्राप्त जानकारी इस मत, को पूर्ण आमक और निराधार सिद्ध कर देती है। स्मृतियों का कथन है कि पंचायत का नियमानुकूछ निर्णय राजाको भी मान्य होना चाहिये क्यों कि उसी के द्वारा पंचायत को न्याय का अधिकार दिया गया है । मराठा काछ के अनेक कागजों से ज्ञात होता है कि शिवाजी, राजाराम और शाहू आदि, जो मामछे उनके पास सीधे छाये जाते थे, उन्हें वे स्वयं न सुन कर प्राम पंचायत के पास भेज दिया करते थे । बीजापुरके मुस्लमान सुलतान भी ऐसा ही करते थे । मस्र प्राम की पंचायत ने श्राम के मुख्या पद के अधिकार के झगड़े का निश्चय किसी बापा जी मुस्लमान के विषद किया। तालुका पंचायत से भी यही निर्णय कायम रहा। इस पर बापा जी मुस्लमान ने सीधे इश्राहीम आदिलशाह के पास फरियाद की कि सौपदायिक देव के कारण उसके साथ अन्याय हुआ है। मुलतान ने स्वयं सुनने के बजाय प्रसिद्ध हिंदू तीर्थ-स्थान पैठन ग्राम की पंचायत के पास मामला पुनर्विचार के छिए भेजा। इस पंचायत ने भी पंचायत के पास मामला पुनर्विचार के छिए भेजा। इस पंचायत ने भी पंचायत के पास मामला पुनर्विचार के छिए भेजा। इस पंचायत ने भी

१ चैदिक काल में भी यह कार्य उनके द्वारा किया जाता या चूँकि समाचर का संबंध धर्म या न्यायदान से दिखाई पहता है।

२ सी. इं. प. रि., १९०० सं ६४ और ७७; १६०३ सं २२३; १६०६ सं. २४७, ३४२

३ तैः कृतं बत्स्वधर्मेण निम्नहातुम्रहं तृणास् । सद्गाज्ञाऽप्यतुर्मत्व्यं निस्रष्टार्था हि ते स्मृताः ॥ याज्ञवस्य २१३०। अ अस्तेकर, विलेख कम्यूनिटीज ए. ४५-६ ।

फरियादी बापाजी मुसलमान के विरुद्ध ही निर्णय दिया और इन्नाहीम आदिल बाह ने भी इसमें हस्तक्षेप करने से इनकार किया? । इससे प्रकट होता है कि राज्य की सुविचारित नीति पंचायतों को व्यापक न्यायाधिकार देने की भी। श्रीर लोगों को पंचायत की शरण लेने के सिवा श्रीर कोई उपाय न या।

यद्यपि ये प्रवल प्रमाण बाद के हैं फिर भी इनके बल पर यह निष्कृषें किया जा सकता है कि ईसा की प्रथम सहस्राब्दी में भी प्राम न्यायालय, जिन्हें याज्ञवल्क्य ने 'पूग' संज्ञा दी है, इसी प्रकार कार्य कर रहे थे। यह दुर्भाग्य का विषय है कि इनके कार्य कलाप के बिषय में तत्कालीन ग्रंबों व्यथवा उत्कीण लेखों से कोई विवरण नहीं प्राप्त होता। परंतु बहुत से दान पत्रों में गाँव के अपराधियों के छोटे मोटे जुर्माने दान पाने वाले व्यक्ति को दिए गये हैं, इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उक्त मामलों का फैसला प्राम पंचायतों द्वारा ही हुआ होगा?।

कुछ गाँवों में देवाक्यों के प्रबंध के लिए उनकी अलग समिति होती थी। पर जहां ऐसा न था ग्राम पंचायत या उसकी कोई उपसमिति इसकी देख रेख करती थी मंदिर की मरम्मत, पूजा, श्रची आदि ठीक से हो और धर्मार्थ संपत्ति का दुरुपयोग न हो3।

दिल्ला भारत के उत्कीण छेखों से ज्ञात होता है कि प्राम-पंचायतें साहूकार का भी काम किया करती थीं। वे स्थायी निजि का रुपया अपने बहां रखती थीं और दाता की इच्छानुसार उसकी आमदनी या सुद का उपयोग करने का किमा छेती थीं । वे एक मुश्त रकम छेकर किसी भूमिखंड को प्रति वर्ष राज्यकर देने से मुक्त कर दिया करती थीं, और उसी के सुद से कर देने की व्यवस्था कर देती थीं। इस व्यवहार में घन की देनदार ग्राम सभा ही होती थी, उसके व्यक्तिगत सदस्य नहीं। सदस्यों के बदछने पर भी जिम्मेदारी कायम रहती थी। इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण भी उत्तरमेरूर ग्राम से मिछा है जहाँ सन् १२३१ ई० में सभा से तीन शताब्दी पहले ली हुई जिम्मेदारी पूरी करने को

१ पारसनीस, ऐति. छे. सं. १६ सं ८२। अलतेकर, बि. क. पृ० ४४-१

२ पंचायतों की न्यायदान प्रणाली के अधिक विवेचन के लिये अक्तेकर-विलेज कम्यूनिटीज, पूरु ४२-५१ देखी।

३ इं. ऐ., १२ पू० २४८; एपि, इं. ३, पू० २७४

४ इं. ऐं., १२ पू० १२०; पृ० २५६; पृषि. इं., ६. पृ० १०२, ३५३

कहा गया । समा ने विना आनाकानो किये अपनी निम्मेदारी स्वीकार की और उसे कुछ न्युन रूप में पूरा करने का वादा किया? ।

अकाल आदि पहने पर प्राम सभा सार्वजनिक भूमि बंधक रखकर पीड़ितों के सहायतार्थ सार्वजनिक ऋण भी लेती थीं। कम से कम चोल काल में तो इसके उदाहरण मिलते हैं। एक गाँव की सभा ने ४३ 'वेलि' भूमि बंधक रख कर अकाल पीड़ित बनों की सहायता हेतु १०११ कलंख (करीब २५३ तोला) सोना और ४६४ पलम् (= १३६२ तोला) चांदी ऋण लीर। इस प्रकार के ब्यवहार में ऋणो प्राम के देवालय होते. थे, क्योंकि इनके साथ पुष्कल संपत्ति होती थी।

ग्राम समाएँ या पंचायतें सार्वजनिक हित की योजनाएँ भी उठाती थीं।
ग्राम का उत्पादन बढाने के लिए जंगली और ऊत्तर प्रदेशों को कृषियोग्य
बनाया जाता थां । चोल काल की और संभवतः सब काल और प्रांता की
ग्राम समाएँ विंचाई की नहरों और सरोवरों का निर्माण और देख रेख किया
करती थीं। जातक कथाओं में ग्रामवासियों द्वारा सहकों की मरम्मत का बहा
अच्छा वर्णन मिलता हैं । दिख्ण भारत के एक लेख से जात होता है कि
ग्राम सभा केवल सहकों की मरम्मत हो नहीं करती थी वरन दोनो ओर की
भूमि खरीद कर उसे प्रशस्त भी कर देती थीं । पानी पीने के किए कुँए भी
खोदे जाते थे और सुरक्षित रखे जाते थे। कभी कभी सभा धर्मशाला भी

इससे यह न समझ छेना चाहिये कि ग्राम सभा ग्रामकािस्यों की भौतिक उन्नित मात्र की ही फिक्र करती थी। ग्राम सभाग्रों द्वारा सांस्कृतिक श्रौर साहित्यिक विकास के कार्यों के भी अनेक उदाहरण हैं। उत्तरमेरूर की सभा द्वारा तीन अवसरों पर ब्याकरण, भविष्य पुराण और यहुर्वेद के अध्ययन के

१ सी. इं. प. रि., १८६६-१६०० पृ० २० १८९८ का ६७

२ सी. इं. ए. रि., अमहम सं. ६७

३ सी, इं. इं. भाग ३, सं. ११

<sup>8</sup> सावा ३, पृ० १६६

भ सौ. इं. पू. रि., १८६८ सं. ६

लिए वृत्ति बांबने का उल्लेख मिळता है । बहुत सी प्राम सभाएँ वेद अध्ययन के लिए वेद वृत्तियाँ भी देती थीं ।

श्रव यह देखना चाहिये कि इन कार्यों के लिए अर्थ की व्यवस्था किस प्रकार की जाती थी। इस बात के प्रयोग प्रमाण हैं कि राज्य ग्राम में एक ज करों का एक भाग ग्राम के हितार्थ खर्च करने की अनुमृति देता था। मराठा काल में ग्राम की रत्ना और सार्वजनिक कार्यों के लिए ग्रामों को राज्य-कर का १०-१५ प्रतिशत खर्च करने की अनुमति थी<sup>3</sup> । प्राचीन काल में भी संभवतः ऐसा ही होता था यद्यपि इसके स्पष्ट प्रमाण नहीं मिले हैं । प्राम पंचायतों द्वारा अपराधियों पर किये गये जुर्माने भी प्राम सभा की आय का एक साधन था। ग्राम सभाओं को अपने ओर हे अतिरिक्त कर और चुंगी लगाने का भी ग्रिक्कार था। तामिल देश में नलूर प्राम की सभा ने १० वीं शताब्दी में स्थानीय देवालय से २४ कास का ऋग किया या और इसके बदले में उसे देवालय के अहाते में कगने वाळे बाबार से कुछ कर उगाहने का अधिकार दिया था"। कर्नाटक में सालोटगी ग्राम के निवासियों ने स्थानीय विद्यालय के खर्च के लिए विवाहादि संस्कारों के समय कुछ शुलक देने का निश्चय किया वा है। सन्१०६० ई॰ में खानदेश के पाटण प्राम के निवासियों ने भी इसी कार्य के डिए ऐसा ही निश्चय किया था। उत्तर भारत हे भी इसी प्रकार सर्वजनोपयोगी कार्यों के किए प्राम सभाओं और श्रेणियों द्वारा इसी प्रकार कर लगाये जाने के उदाहरण मिलते हैं ।

सार्वजिनिक हित की योजनाएँ कार्यान्वित करने में ग्राम-पंचायती को कर्म भी बड़ा सहायक होता था। कूप, सरोवर, अनायालय, रुग्णालय ग्रादि का निर्माण स्मृति पुराणों ने पुण्य कार्य में श्वामिल किया था। उत्तर मेरूर ग्राम के सरोवर की सफाई करने के लिए दो दानियों ने स्थायी निश्चियाँ स्थापित की

१ सी. इं. ए. दि, १८६८ सं. १८, २९, और २३०, १६२३ सं. १६४

२ वही, १९१७ सं. ४८१ और ४८७।

३ अक्तेकर, विकेस क्रम्यू. पृ० ७०-७२ । मॅन, छैंड ऐ'ड केवर इन ए डेकन विकेस, भाग १ पृ. ४२-५०।

४ अर्थ शास्त्र. ३. अध्याय १०।

प सौ. इं. ए. इ. १९१० सं. ३२। ६ एपि. ई. ४. पृ० ६६।

७ इंडि. पेंडि. १२, पृ० ८७ । पृषि. इं. १, पृ० १८८ ।

भौ। पीने के जल के लिए कुनाँ खदवाने के हेतु भी एक सजन ने दान किया था। इस प्रकार के उदाहरण अपवाद नहीं, साधारण स्थिति के निदर्शक हैं।

इन कार्यों के लिए केंद्रीय सरकार से भी घन या सामग्री की सहायता प्राप्त होती थी? । बड़े बड़े निर्माण कार्य लिनका खर्च स्थानीय संस्था उठा सकने में समर्थ न थी तो राज्य ही द्वारा किये जाते थे। काठियाबाड़ का गिरनार का इतिहास प्रसिद्ध बाँच इसका प्रसिद्ध उदाहरण है।

धाम सभा और उसकी कार्य कारिणी समिति या पंचायत और उसकी उपसमितियों की कार्य-प्रणाली पर भी दृष्टिपात आवश्यक है। प्राम सभा का अबि-।
वेशन कभी संवागार में, कभी देवालय के मंदण में, और कभी वरगद या
हमली की छाया में भी होता था। सभा में ग्रामवासी सब सद्गृहस्वों को
शामिल होने का अधिकार था पर संभवतः २०० या २०० से अधिक उपस्थिति
न रहती होगी। साधारण सभा की बैठक कार्यकारिणी समिति के संघटन के
समय होती थी। तामिल देशके अग्रहार ग्रामों में कार्य समिति का चुनाव चिट्ठी
उठा कर होता था। अन्य स्थानों में पहले ग्रामके प्रमुख व्यक्ति मिलकर आपस्य
में विचार कर लेते थे और ऐसी नामावली तैयार करते थे जो प्रायः सबको
स्वीकार्य हो, ततुपरांत सभा जुलायी जाती थी, जो साधारणतः प्रमुख व्यक्तियों
का निर्याय मान लेती थी। श्राचकल की भौति मत देने को प्रणाली उत्त

महत्वके प्रका उपस्थित होनेपर, यथा अकाल झादिके संकट निवारणार्थ, गाँव की सार्वजनिक भूमि बेचने या ऋण लेने के प्रश्नों पर विचारार्थ भी साधारण सभा की बैठक बुलायी जाती थो। प्राचीन यूनान की मांति ऐसे अवसर पर बृद्धों की ही राय ली जाती थी। पर कभी कभी कुछ दुष्ट न्यांक अकारण विरोध करके काम में बाघा डालने की चेष्टा भी करते थे, ऐसे व्यक्तियों के लिए तामिल देशकी एक ग्राम सभा ने १ कास (करीब है तो का सोना) के इंडका विचान किया थां

ग्राम की ओर से ग्राम के हेतु दान की स्वीकृति देनेके लिए भी ग्राम सभा

१ सी. इ. ए. रि., १८६८ सं. ६६ स और ७४

२ अर्थशास्त्र, २, अध्याय १ ।

३ सी. इं. ए.-रि. , १६०६ सं० ४२३।

की बैठक बुलायी जाती थी। विशेषकर कर्नाटक में ऐसे श्रवसरों पर ग्राम सभा की ओर से दाता को आश्वासन दिया जाता था कि दानकी रकम अभिप्रेत कार्यमें हो लगायी जायगी। दाता के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने की यह बहुत सुंदर विधि थी।

कार्य समिति और उसकी उपसमितियों की कार्य प्रणाजी के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त हुई है। संभवतः उत्तर भारत और दिल्लण में गाँव का मुखिया और तामिल देशमें 'मध्यस्य' इनकी बैठकों में अध्यत्त होते थे। बैठक ग्राम कार्यालय (चावडी) में होती थी। ग्रामका मुनीब काररवाई का लेख भी रखता रहा होगा खासकर दान आदिकी स्वीकृति और करों की माफी आदिका। कभी कभी इस विषय के महत्वपूर्ण निश्चय देवालय की दीवारों पर अंकित भी कर दिये जाते थे। इन्हों अंकित विवरणों से आज इस इनके बारे में इतना जान सके हैं।

अब केंद्रीय सरकार और ग्राम-पंचायत या सभा के संबंध पर विचार किया बायगा। कुछ स्मृतियों में कहा गया है कि ग्राम-पंचायतों के अधिकार राजा या केंद्रीय शासन से प्रदत्त हैं । यह कथन राज्य के सार्वभीम अधिकारों का स्चक है पर ऐतिहासिक हिंछ से सर्य नहीं है। प्राचीन भारत के अधिकांश राजवंश हो शताब्दियों से श्रिषक न कायम रह सके। पर ग्राम संस्थाएँ और पंचायतें सनातन काळ से चली आती थीं और उनके श्रिषकार भी परंपरागत थे किसी राज्य विशेष से कानून द्वारा प्रदत्त न थे। जब केंद्रीय शक्ति अधिक विकरित और सुसंघटित हुई तो इसने ग्राम संस्थाशों के अधिकारों में कभी करने का भी प्रयक्त बीच बीच में किया। कभी कभी विज्ञान में संशोधन के अवसर पर ग्राम सभा को बैठकों में राज्य के अधिकारी के भी उपस्थित रहने के भी उदा- हरण मिलते हैं, कभी कभी नियमों पर स्थयं राजा की स्वीकृति दिये जाने के भी उल्लेख मिलते हैं । पांतु ये असावारण घटनाएँ बान पढ़ती है। संभव। है कि ग्राम सभा के अधिवेशन के समय ग्राम में उपस्थित रहने पर राज-अधिकारी भी उसमें चले जाते हों, और ग्राम सभाव्यां द्वारा पेश किये जाने पर राजा उनके नियमों पर श्रपनी बाजाशा स्वीकृति की मुहर लगा देते रहे हों।

१ याज्ञवल्क्य २, ३०

२ ६१६ ई. में उत्तर मेरूर में ऐसा हुआ था, था. स. रि., १९०५ ६ सी. इं. ए. रि., १६२७ सं १४८।

प्राप्त प्रमाणों का ध्यान पूर्वक अध्ययन करने से यही प्रकट होगा कि ग्राम सभाएँ स्वयं अपना विधान बनाती थीं, केंद्रीय सरकार नहीं। उत्तर भारत में भी संभवतः यही स्थिति थी, यहाँ तो ग्राम की कार्य-कारिणी समिति में प्रायः पाँच ही सदस्य होते थे, जो ग्राम समाज द्वारा उस पर प्रतिष्ठित किये जाते थे। केंद्रीय सरकारको विधान निर्माण में इस्तद्धेप करने का कोई अवसर ही न था।

इत्तर और दिव्ण मारत से ऐसे बहुत से लेख मिले हैं जिनमें राजा द्वारा प्रामके मुखिया और पंचायत को दिये गये आदेशों का विषरण हैं, इससे पता चलता है कि केंद्रीय सरकार का ग्राम व्यवस्था के साधारण निरीच्ण और नियंत्रण का श्रिषकार रहता था। इस श्रिषकार का उपयोग यों होता था कि कभी कभी जिलेका श्रासक कुछ पृष्ठ ताछ के लिए मुखिया को अपने दफ्तर में बुला देता था और ग्राम पंचायत के साधारण प्रबंध और हिसाब किताब की जांच के लिए निरीच्यक भेजे बाते थे। केंद्रीय सरकार के कर्मचारियों द्वारा ग्राम पंचायत के हिसाब किताब की निर्धारित श्रविच पर जाँचका उल्लेख चोळ काळीन लेखों में किया गया है, श्रीर श्रव्य राज्यों में भी यही स्थित रही होगी। काम में गढ़बढ़ करने पर ग्राम-पंचायत के सदस्यों को सभा स्थयं पदच्युत कर देती थी, पर कभी कभी केंद्रीय सरकार भी उनपर जुर्मोना किया करती थी?। दो ग्राम पंचायत में झगड़ा होनेपर साधारणतः मामला कद्रीय सरकार के सामने ही पेश किया जाता था, पर एक उदा ररण ऐसा भी मिला है जिसमें दो ग्रामों में कगड़ा होने पर तीसरे ग्रामकी पंचायत निर्धा विक बनायी गयी?।

अस्तु, निष्कर्ष यह है कि केंद्रीय सरकार को वेवल साधारण निरीक्षण ए वे नियंत्रण का अधिकार या। ग्राम-प्रबंध की प्री जिम्मेदारी ग्राम-सभा वा पंचायत पर ही थी और उसे अधिकार भी बहुत थे। ग्राम-पंचायतें ग्रामकी रक्षाका प्रबंध करती थीं, राज्य-कर ए कन्न करती थीं, और अपने कर भी लगाती थीं, गाँव-वालों के झगड़ों का फैसला करती थीं और सार्वजनिक हितकी योजनाएँ हाथ में लेती थीं, साह्कार ग्रीर विश्वरत का कार्य करती थीं, सार्वजनिक श्रूण आदि लेकर श्रकाल ग्रीर अन्य संकटों के निवारण का उपाय करती थीं, पाठवालाएँ, शिवालय, अनाथालय आदि लोड तों और चलाती थीं, और देवालयों द्वारा विविध सांस्कृतिक तथा बार्मिक कार्यों को व्यवस्था करती थीं। इसमें कोई सेंदेह नहीं कि

१ सी. इं. ए. रि., १९१५ सं. १८१-१३१०, सं. २६८

२ वही , १९३२ सं. २६

आधुनिक कार्लमें हिंदुस्थान या योरप-अमेरिका में ग्राम संस्थाओं को जितने अधिक राम में उनसे कहीं अधिक रून प्राचीन कालीन ग्राम संस्थाओं को ये और इनकी रहा करने में वे हमेशा सावधान रहतीं थी। ग्राम वासियों के ग्रम्युद्य और उनकी सर्वोगीण भौतिक, नैतिक और धार्मिक उन्नित के साधन में इनका भाग प्रशंसनीय और महत्वपूर्ण था।

## बारहवाँ अध्याय आय और व्यय

राज्यकी समृद्धि और स्थायित उसकी श्रार्थिक स्थितिकी सुदृता पर ही निर्भर है। इस सिद्धांत को प्राचीन भारतीय श्राचार्य भली भाँति समझते थे। इसी लिए उन्होंने कोष की गणना राज्य के श्रंगों में की है और कोष या आर्थिक दुर्बछता को राष्ट्र की महान् विपत्ति माना है।

घर्मप्रचान होने के कारण वैदिक वाङ्मय से तत्काकीन राज्यों की आर्थिक व्यवस्था के विषय में अधिक ज्ञान नहीं प्राप्त होता। राज्यों के विकास की प्रारंभिक अवस्था में राजा को शांक अधिक न थी और लोग स्वेच्छा से जो कभी कभी दे देते थे वही उसे कर रूप में प्राप्त होता था। अस्तु, राजा अपने अनुयाह्यों और कर्मचारियों का पोषण अपनी ही भूमि, चरागाहों और गोषन से प्राप्त होने वाली आय से ही किसी मांति किया करता था। देवताओं को प्रस्क करने के लिए चढ़ायी जाने वालों भेंट का नाम ही 'विलि' राजा को स्वेच्छा से दिये जाने वाले करों या अन्य उपहारों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। राज्य-भ्रष्ट राजा के पुनः राज्य माप्ति के समय प्रार्थना की जाती है कि इंद्र भगवान उसे प्रजा से 'विल' दिलवाने में सहायता दें और उसे प्रजा से प्रचुर उपहार और 'विलि' प्राप्त करने का सौमान्य माप्त हो । इन प्रार्थनाओं से भी यह ध्विन निकलती है कि जनता अभी राजा को नियमित कर देनेमें अभ्यस्त न हो पायो थी।

धीरे धीरे इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। परवर्ती वैदिक वाङ्गमय में राज्यामिषेक के समय के एक मंत्र में राजा 'प्रजाका खानेवाला' (विशामता' ) कहा गया है। इस संबोधन से यही बोध होता है कि लोग राजाको नियमित रूपसे कर दिया करते ये और इसी के बल पर राजा अपने कर्मचारियों सहित उाट बाट से रहता था।

१ देखिए ऋग्वेद ५, १, १०।

२ अथा ते इन्द्रः केवलीः प्रजा बिकद्वितस्करत् । ऋ. १०. १७३. ६ ।

३ अथर्व ३. ४. ३.।

४ विद्यामत्ता समजनि । पुत. ब्राह्म, ७, २९ ।

वै दक काक्सें ब्राह्मण कोग भौरोहित्य वृक्ति करते थे, जिसमें अधिक लामकी गुंजायश न थी, ज्ञिय लोग नये प्रदेशों के जीतने में ही लगे थे, और श्रूदों के पास कोई संपत्ति न थी। अतः कर का मुख्य भार वैश्यों पर ही पड़ता यो और बहुत से स्थलों पर उनका वर्णन करदाताओं के रूपमें हुआ है?। पर यह भी न समझना चिहिये कि अन्य लोग कर देने से एकदम मुक्त थे क्यों कि राजा को बहुत से स्थलों पर सबसे कर लेनेवाला कहा गया है?।

पहले के अध्यायों में दिखाया जा जुका है कि प्रारंभ में राजा की स्थिति सरदार मंडल के प्रधान की सो थी। ग्रतः यह भी संमव है कि राजा के अति-रिक्त अन्य सरदार लोग भी अपना अलग कर वस्ल करते थे। इस अनुमान का समर्थन शतपथ शाह्य को इस कथन से होता है कि 'दु बंलों को बहुआ बलवानों को कर देना पड़ता है ।

'भागधुक्' (राजा का भाग वस्त्र करनेवाला) और 'समाहर्ता' (कर काने वाला) जो इस समय के 'रत्नी' मंडल में भी थे, संभवतः कर विभाग के ही श्रिवकारी थे। संभवतः पहले का काम अन्न तथा अन्य उत्पादित साम-प्रियों में से राजा के भाग का अंध एकत्र करना था और दूसरे का काम इन्हें भंडारों और कीषों में संचित रखना था।

राज्य की आय के खोत कुषक और पशुपालक थे। कुषक राजाकी अपनी फसलका एक भाग दिया करते थे, जिसका परिमाण वैदिक अन्थों में नहीं बताया गया है। उस समय के समाज में पशुपालकों का आजकल की अपेद्धा बहुत अधिक महत्व था, क्योंकि समाज को पशुपालन को दशा से कृषि में प्रवेद किये अधिक समय न हुआ था। ये लोग कर में गाय, वैह, और घोड़े दिया करते थे । राज्य इन सब के एक निश्चित अधि का अधिकारी था।

प्रजा से 'भाग' के अतिरिक्त राजा युद्ध में विजित शत्रुश्चों या सरदारों से भी खंडची या कर पाया करते थे"। वैदिक कालमें विणव्य व्यवसाय की आयों में विशेष प्रतिष्ठा न यी इसलिए इस स्रोत से विशेष आय न थी। खानें।

१ अन्यस्य बिलकुत्। ऐत् ब्रा. ७. २६; शतः ब्रा. ११. २. ६. १४।

२ विशोऽद्धि सर्वाः । श्रथवं ४. २२, ७ ।

३ वात. मा. ११. २. ६. १४।

८ एम मज प्रामे अववेषु गोषु । अयर्च, ४. २२ 🗷 ု

५ ऋग्वेद, ७. १८, १९ ।

पर राज्य का अधिकार था या नहीं श्रीर राज्यद्वारा उनकी खुदाई की जाती भी या नहीं इसका ठीक पता नहीं।

हॉपिकन्स का यह मत है कि वैदिक काल में कर बहुत अधिक और कठोर थे, और राजाकी शोषक प्रवृत्ति का नियंत्रण करने के बजाय पुरोहित उसे अपनी प्रचा का 'भक्षण' करने में प्रोत्साहन देते थे । परंतु यह चारणा ठीक नहीं है। हॉपिकिन्स 'विशामचा' शब्द से घोखा खा गये हैं। जैसा कि 'वैदिक इंडे स्व' में कहा गया है इस उक्ति का सन इस प्रवा में है जिसमें राजा और उसके कर्मचारियों का पाषण प्रजा के उपहारों से चलता था, जिसके अनेक उदाहरण अन्य देशों में भी प्राचीन काळ में पाये जाते हैं? । ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अत्ता' शब्द का प्रयोग बहुधा 'भोक्ता' के अर्थ में हुआ है। यथा, एक जगह पति को 'अत्ता' ( भोक्ता ) श्रीर पत्नो को 'आद्य' ( भोग्या ) कहा गया है 3 । इसका श्रर्भ यह तो नहीं हो सकता कि पति पत्नी का खानेवाला या पीइक था। फिर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि 'विशामत्ता' का प्रयोग हाच्णिक अर्थ में और राज्याभिषेक के वर्णन के प्रसंग में हुआ है जहाँ राजा की शानशौकत का बड़ा लंबा-चौड़ा वर्णन किया गया है। यथा, "आज प्रतिष्ठित हो रहे है धन छोगों के शासक, प्रचा के खानेवाछे (विशाम ता), हुगों को तोइनेवाछे, दैस्यों का नाश करने शले और घर्म तथा बाह्य ऐं। का प्रतिपालन करनेवाले"। पाँचवे अध्याय में बताया जा चुका है कि इस समय राजा की रियति बड़ी ही कमजोर यी और उसके ऊपर जनता की संस्था 'समिति' का काफी नियंत्रण रहता था। अतः यह संभव प्रतीत नहीं होता कि इस समय के छोग करों के सार से पिसे जा रहे थे।

वैदिक युग के बाद और मीर्य कालके पूर्व बोचके समय की कर व्यवस्था के बारे में बहुत कम ज्ञान है। इस युग का कुछ हा जातकों से मिछता है, पर उनसे भी इस विषय पर बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है। वे केवळ यह बताते हैं कि अच्छे राजा केवळ विधानसम्मत कर ही छेते थे और दुध शासक नाना प्रकार के असंब कर छगाकर प्रवाको इतना सताते थे कि वे कर वस्ळ

१ द्वापकिस, 'इंडिया भोवड पेंड न्यू रे पृ० २४०।

२ वेदिक इंडेन्स, 'राजनू'।

दे शतपथ हा. १. २. ६. ६. ।

करनेवाले कर्मचारियों के भय से भागकर जंगह में शरण लेते ये । इन उद्धरणों से कर व्यवस्था के वास्तविक रूप के बारे में कुछ मी ज्ञात नहीं होता।

मौर्य कालने हमें निश्चित जानकारी प्राप्त होती है। अर्थशास्त्र, धर्मस्त्रों और स्मृतियों से पर्याप्त सामग्री मिलती है, जिनकी छानबीन तत्कालीन शिला और ताम्रलेखादि और यूनानी वृत्तलेखकों के विवरणों से भी की जा सकती है।

प्रारंभ में ही कर व्यवस्था के मूळ सिद्धान्तों पर विचार कर छेना सुविधा-जनक होगा। इस संबंध में स्मृतियों ने जो सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं, उनसे श्रेष्ठ और दोष रहित दूसरे शायद ही हो सकते हैं।

- (१) कर न्यायोचित और वीमित होने चाहिये। अध्यधिक कर लेनेवाले राजा से जनता जितनी रुष्ट होती है उतनी और किवीसे नहीं । माली फूल और फल तोड़ लेता है पर बुच्को हानि नहीं पहुंचाता । राजाको भी इसी भाँति कर उगाहना चाहिये कि प्रजाको कष्ट न पहुँचे। बकरी काट डालने से अधिक से श्रिषक एक दिन का आहार मिल जायगा पर उसे पालने से तो अनेक वर्षों तक नित्य दूधका लाभ होता है ।
- (२) उचित कर की कसोटी यह है कि राजा श्रीर प्रजा, विशेषत: कृषक और व्यवसायी, दोनां समझें की हमें अपने परिश्रम का उचित लाम मिल रहा है ।
- (१) विश्व और उद्योग में लाभ पर कर लगाना चाहिये श्रामदनी पर नहीं।
  - (४) किसी भी वस्तु पर कर एक ही बार लिया जाय दुवारा नहीं है।

१ जातक, ४. पृ. २६६; ५. ६८६, पृ. १०१ | २. पृ. १७. कर वस्क करनेवाले, 'बिलसाधक' या 'बिलपितगाहक' पुकारे जाते हैं। इनमें वैदिक शब्द 'बिल' की परंपरा कायम चली आती है।

२ प्रद्विषंति परिस्थातं राजानसतिसादिनस् । म. भा, १२-८७.७९ ।

३ फजार्थी नृपतिचेकान्यावयेवालमास्थित: । दानमानादितोयेन मालाकारोऽकुरानिव ॥ पंचतंत्र १, २४३ ।

४ अजामिव प्रजां हन्याची मोहासृथिवीपति:। तस्यैका जायते प्रोतिनै द्वितीया कदाचन ॥ वही २४२।

१ विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् । योगक्षेमं च संप्रेष्ट्य विश्वजो दावयेत्करान् ॥ सनु. ७-१२७ ।

६ वस्तुजातस्येकवारं श्रवकं प्राह्मं प्रयानतः।

- (५) यदि कर बढ़ाना आवश्यक हो जाय तो वृद्धि एकाएक नहीं क्रमशः की जाय ।
- (६) राष्ट्रपर चंकट के ध्यवसर पर ही अतिरिक्त कर लगाना चाहिये। जनता को भली भाँति श्यिति समझा देनी चाहिये ताकि वह स्वेन्छा से कर दे। राजा को कभी न भलना चाहिये कि अन्य उपाय न रहने पर ही श्रातिरिक्त कर लगाया जायर।

सभी लोग स्वीकार करेंगे कि उपर्युक्त सिद्धांत आदर्श हैं और आधुनिक युग के लिये भी उतने ही उपयुक्त हैं जितने प्राचीन युगके। इनका पालन कहाँ तक होता या इस पर भी आगे चलकर हम विचार करेंगे।

परिस्थित के अनुसार नियमित कर में पूरी या अंशतः छूट देनेके बारे में भी बहुत ही न्याय-संगत व्यवस्था की गयी थी । अर्थशास्त्र और अक्रनीति दोनों का मत है कि यदि कोई व्यक्ति अपने उद्योग से बेकार भूमिको कृषियोग्य बनावे या सरोवर आदि बनवा कर सिंचाई द्वारा भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़ावे तो सरकार उसे नाममात्र का कर लेकर भूमि दे और धीरे धीरे उसे बढ़ाकर ४-५ वर्षों में साधारण स्तर पर लावें । 'इस बातके पर्योप्त प्रमाण हे कि प्राचीन काल से १८ वर्षे शताब्दों के अंत तक भारत में राज्य इस नीतिका अनुसरण करते थें ।

राजकीय रेना में नियमित काल में पर्याप्त धंख्या में हैनिक भेजनेवाले ग्राम भी कर से मुक्त कर दिये जाते थे।

गूँगे, बहरे, श्रंधे और श्रन्य अपाहिल ब्यक्ति भी अपनी गरीबों के कारण कर से मुक्त किये जाते थे। यह भी कहा गया है कि गुरुकुल में विद्याध्ययन करनेवाले श्रंतिवासी और बनों में तप करनेवाले तपस्वी भी कर से मुक्त किये जाने के अधिकारी हैं, क्योंकि इनकी कोई आमदनी नहीं थी। स्त्रियों को

१ अरुपेनारपेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत् । ततो भूयस्ततो भूषः क्रमवृद्धिं समाचरेत् ॥ दमयम्निव दम्यानि शश्वद्वारं विवर्धयेत् ॥ मः भाः १२-८८, ७-८ ।

२ म. मा. १२-८७. २६-३३; शुक्रनीति ४-२. १०

३ मधशास ४. अध्याय ९, शुक्रनीति ४, २. १२३।

४ ए. क., ३ सेरिंगपद्या र्स. १४८, सी. ई. ए. रि., १८१२ सं. ४२२; इ. स. प्रे., भाग २ सहुरा सं. ३ अ.।

प्रारंभिक कालमें संपत्ति का अधिकार बहुत कम था अतः उन्हें भी कर से मुक्त करने की सिफारिश की गई है । बादमें जब उन्हें दायमाग मिला तो केवल निर्धन विधवाएँ और अनाय स्त्रियाँ ही कर-मुक्ति के योग्य समझी गर्यों होंगी।

स्मृतियोंने 'श्रोत्रिय' (बिद्वान् ब्राह्मण् ) को भी कर ने मुक्त करने पर कीर दिया हैं । श्रादर्श श्रोत्रिय का कर्तव्य अिक चनता वत बारण् कर विद्यार्थिं को निः शुल्क वेद शास्त्रादि की शिक्षा में ही जीवन लगा देना था। और प्राप्त प्रमाणों ने सिद्ध होता है कि वे वास्तव में इस कर्तव्य का पालन भी यथासाध्य करते थे श्रातः यह उचित ही था कि वे राज्य-कर ने मुक्त किये जायं। विद्वान् ब्राह्मणों को कभी कभी सरकार ने अग्रहार ग्राम मेंट में मिलते थे जिनके सरकारी कर वे आपस में बाट लेते थे; इस श्रवस्था में उन्हें कुछ कर देना पड़ता थां। यह उचित भी था, क्योंकि अब वे अर्थ-हीनता के श्राधार पर पूरी मुक्ति पाने के अधिकारी न रह जाते थे। पर यदि ब्राह्मणों को इन ग्रामों से अपने हिस्से में मिलने वाला धन स्वल्प होता तो इस स्थिति में उन्हें सरकार पूरी माल- धुजारी माफ कर देती थीं। मगर ऐसे करमुक्त श्रोत्रियों की संख्या बहुत कम रहती थी।

१ अकर: श्रोबियः । सर्ववर्णानां क्रियः । क्रमाराक्ष प्राक्यंजनेश्यः । ये च विद्यार्थां वसंति । तपस्विनश्च ये धर्मपराः । शृद्धश्च पावाबनेका अंधवधिरसूक-रोगाविष्टाश्च । चाप. ध. सुत्र. ११. १०. २६, १४-१७ ।

ए. क., ४, चामराजनगर, सं १८६ और बेलंदूर सं. २. इत लेकों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इन सिद्धांतों का अनुसरण किया जाता था। बेलंद्र लेक में कहा गया है कि जीविका का साधन न रहने पर न देवल, पाँच वाराह कर देने से ही मुक्त की जाय वरन् उसे छ वाराहों की वृक्ति भी दी जाय।

२ म्रियमागोप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् । सनु, ७. १३३

२ दिंदुगुर अग्रहार को १०० निष्क और देशवपुर अग्रहार को ३१० निष्क मालगुजारी में देना पहता था। ए. क. ५. चत्रराय पट्टण सं. १७३ और १७९।

४ इं. म. प्रे., भा. १. पृ. ७३. यहाँ पूरी माछगुजारी । माफ की गयी सही पर बाद के राजाओं ने इसे न माना।

कुछ स्मृतियों ने पूरे बाह्मण वर्ण को ही कर से मुक्त करने का आदेश दिया है । पर इस विषय में शास्त्र कारों में मतभेद दिखाई देता है। महाभारत में स्पष्ट कहा नगरा है कि जो ब्राह्मण अच्छे वेतन पर सरकारी पढ़ें पर हैं। श्रीर जो बाणिज्य. कृषि या पश्चपालन बैसी व्यर्थकारी वृत्ति में लगे हों, उनसे पूरा पूरा कर लिया जाय? । जब ब्राह्मण लेखक स्वयं भी इस विषय पर एकमत के नहीं है तो स्वभावतः राज्यों ने भी इस आदेशको अनिवार्य न माना होगा। फिर भी पूरे ब्राह्मण वर्ण के कर-मुक्त किये जाने के उदाहरण यदा कदा मिलते हैं। परमार वंश के राजा सोमसिंह देव (अनु. १२३० ई) और विश्वयनगर के राजा अन्यतराय के लेखों में सब ब्राह्मणों के कर से मुक्त किये जाने का वर्णन किया गया है। पर इन्हों लेखें से यह भी शत होता है कि यह एक ग्रसाधारण और नयी बात समभी गई, इसी लिए यह इन राजाओं के विशेष श्रेय का कारण भी माना गया। इससे पता चलता है कि ये दृष्टांत साधारण नियम नहीं उसके अपवाद के सचक हैं।

इस बातकी पुष्टि दिच्या भारत के कुछ हेखें। से और भी पक्की तरह से हो जाती है, जिनमें कर न दे सकने के कारण ब्राह्मण भूस्वामियों की भूमि के नीलाम किये नानेका उल्लेख है। सन् १२२९ ई. के एक लेख से शात होता है कि अग्रहार भोगनेवाले ब्राह्मणों को भी बकाया भूमिकर पर व्याब देना पहता या। यह बकाया भी तीन माससे अधिक न खा जाता था, इस अवधि के

१ यथा-ब्राह्मसेभ्यः करादानं न कुर्यात्। ते हि राशो धर्मकराः । विष्या ३-२४-६

२ गोजाविसहिषाणां च बड्वानां च पोषकाः। वृत्यर्थं प्रतिपद्यन्ते तान् (विप्रान् ) वैश्यान्संप्रचत्ते ॥ ४ ॥ येशवर्यकामा ये चापि सामिषाश्चैव भारत । निम्रहानुमहरतास्तान्द्विजान्द्वित्रयान् विदुः ॥ ५ ॥ अश्रोत्रियाः सर्वं एते सर्वे चानाहिताग्नयः। तान्सर्वान्धासिको राजा बिक यिष्ट च कारयेत ॥

स. सा. १२. ७६. ४-७ ।

३ ए. इ. , ८ ए. २०८।

४ इ. म. प्रे. मा. , १. पृ. २२. गुंतुर त्रिलेमें भी ब्राह्मणों को पूरी करमुक्ति कभी कभी मिळने का वर्णन आता है: देखो, ई. म. प्रे. मा. १ पृ. २२

समास होने पर न देनेवालों की भूमि वेचकर बकाया बच्चल कर डिया जाता आं। एक अन्य लेखने पता चलता है कि बकाया चुकाने के लिए कभी तीन महीने के एवज दो वर्ष तक मोहलत दी जाती थी, पर इसके बाद पूरा चुकता किये बिना जमोन नहीं बचायी जा सकती श्री । उत्तर भारत के इस प्रकार के उदाहरण नहीं मिले हैं पर यह मानना गलत न होगा कि पूरे ब्राह्मण वर्ण के कर-मुक्त किये जाने के उदाहरण प्राचीन भारत में बिरल ही थे। साधारणतः ब्राह्मणों को मी कर देना पड़ता था, सिवा विद्वान ब्राह्मणों (श्रोक्षियों) के, जो निर्धन होते थे और जिन्हें राज्य से कोई बृत्ति भी न थी।

जिन देवालयों के पास विस्तृत भूमि थी, वे भी कर से मुक्त न थे। जिन मंदिरों को आय कम रहती थी उनसे अधिक कर हो लिया जाता था, लेकिन जिनकी श्रामदनी काफी थी उनसे पूरा पूरा कर वस् ला जाता था। राज्यकर चुकाने के लिये मंदिरों द्वारा श्रपनी भूमि के कुछ ग्रंश वेचने के भी उदाहरण मिलते हैं । कभी कभी तो बकाया लगान के लिये राज्य द्वारा ही मंदिरों की भिम बेचे जाने के भी उदाहरण मिलते हैं ।

अब करें। पर विचार करना चाहिये। भूमिकर ही राज्य की आय का मुख्य साधन था। उत्कोर्ण छेखों में इसका उच्छेख कभी 'भागकर' और कभी 'उद्गंग' नाम से किया गया है। स्मृतियों में कर की कोई एक ही दर नहीं निश्चित की गयी है, श्राठ फी सदी से ३३ फी सदी तक कर छेने का निर्देश मिळता है भा भूमि की श्रच्छाई बुराई के कारण ही यह श्रंतर पाया जाता है; उदाहरणाथ जब मनु एक ही संस में श्राठ, बारह या सोड्ड प्रतिश्चत भाग कर में छेनेका निर्देश करते हैं, कर यह स्पष्ट है कि भूमि को किस्म के अंतर को ध्यानमें रखकर ही उन्हेंनि यह निर्देश दिया है। कुछोचुंग चोछ ने कर के हिसाब के किये भूमि को बाठ श्रेणियों में विभाजित किया थां । भिन्न भिन्न राज्यों में कर की भिन्न भिन्न दर होने या एक ही राज्य हारा आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न समय पर भिन्न

१ ए. क. , ५ असिंकेरा सं. १२८।

२. इ. भ. मे. भा. २ पृ १२७४

३ सी इं. ए हि , १८९० सं १७

४. ई. म. मी., साः २ पृः १३२२

४ मनु म. १३० , गौतम १०-२४-२७, अर्थशाहा ५-२।

६ घान्यानामप्टमो सागः पद्धो द्वादश एव वा । ८. १३०।

<sup>ं</sup> कहें. म. प्रे. , १ प्र. १२९–१३०

भिन्न दर है कर लगाये जाने के कारण भी, स्मृतियों में इस विषय में भिन्न भिन्न निर्देश भिलते हैं?। फिर भी साधारण परिपाटा उपन का छठा भाग हा भूमिकर के रूप में लेने की थी। बंगाल श्रीर बुंदेलखंड तथा बहुचा अन्यत्र भी कर एकत्र करनेवाले कर्मचारियों का नाम हो 'षष्टाधिकृत' पड़ गया था।

पर महत्वाकां ची राज्यों के लिए १६ प्रांतशत भूमिकर पूरा न पढ़ता था। अर्थशास्त्र और यूनानी लेखकाँ के विवरण से बात होता है कि मीर्य धातन में भूमिकर कुषक की आय के २४ प्र. श. के हिसाब से लिया जाता था, अशोक ने भगवान बुद्ध के जन्मस्थान छंबिनो ग्राम में विशेष रियायत खरूप यह दर आषी (अर्थात् उपजका आठवाँ भाग) कर दी थी । चोल शासनमें साधारण भूमि पर २० प्र. श. और सरीवर विचित्त घान उत्पादन करनेवाली भूमि पर ३३ प्र. श. लिया जाता था । राजा विराज चोल के राज्य में मंदिरों का रियायत के स्वरूप १० प्रतिशत कर देना पढ़ता था, अर्थात् साधारण भूमि कर इसले अधिक संभवतः २० से ३० प्र. श. रहा होगा।

यह कहना कठिन है कि सरकार खेत में होनेबाले पूरे गल्लेका छठवाँ भाग लेतो थी या खर्च से बची हुई उपज का। जातक कथाओं में पत्थक बटारते समय सरकारी कमंचारियों या बलिपतिगाहकों का उपस्थित रहने का वर्णन है इससे बता चलता है कि समूची उपजका हो भाग किया जाता था । पर इसका भी कोई प्रमाण नहीं कि राज्य कर लेते समय कृषिका खर्च बाद न करता रहा हो खासकर जब उसकी दर इतनी ऊँची २५ या ३३ प्र. श. रही हो । ध्रकनीति, जो ३६ प्र. श. की अनुमित देती है स्पष्ट कहतो है, कि कृषक को जितना ्मिकर और कृषिका खर्च देना पहता है कमसे कम उसका दूना उसे पक्की

१ षड्भागमुपत्रक्षायां यावता प्रजानां पोदा न स्यात् तावदेव प्रजापाळन-स्यावश्यकत्यात् ॥ स्मृतिरत्नाकर पृ. ६२ ।

२ सेन-'इंसक्रिप्शन फ्रॉम बंगाल' सं. १।

३ मा. १ अ. २ । ४ ऐंशेन्ट इंडियां ऍज डिस्काइडड बाय मेगास्थेनोत ।

प्रहिद भगवा बुधे जातेति छ'बिनिगामे उबिछके कटे घठमागिये च। ( रुम्मिनदे शिकालेख)

हामायवा ३. १६-१४ में भी २५ प्र. श. का विधान है। ६ प्. क., मा. १० मुहबंगिज सं. ४४ म और १०७। ७ भा. २. पृ ३७८।

त्रायके रूपमें मिलना चाहिये । इससे प्रतीत होता है कि सरकार का भाग पूरे उत्पादन का बगभग १६ प्र. श. और आय का २१ प्र. श. होता था।

प्रकृतिजन्य कारणों से चित्रप्रस्त होने पर, यथा समुद्र के बढ़ाब से भूमि बर्छ है होने श्रादि पर, परिस्थिति के अनुसार सरकार कर में भी छूट देती थीर । पर इस प्रकार की स्थितिमें कर में सुविधा अपने श्राप भी मिल जाती थी, कारण कर तो उत्पादित अनाज का ही एक श्रंश होता था श्रतः यदि बत्पादन कम होता था तो कर भी उसी हिसाब से कम हो जाता था।

म्मिकर अनाज के रूप में ही किया जाता या यह सिद्ध करने के लिए अचुर प्रमाण हैं। भागकर नाम ही इस जातका सूचक है कि यह खेत में होने वाकी फसल का ही एक भाग था। जातकों में कर एक ज़ करने वाले कर्मचारी को 'होणमापक' अभिघान दिया गया है, जिसका अर्थ 'होण की माप से अनाज नापने वाला' होता है। जातकों में ऐसे भी धर्मभी क व्यक्तियों की कथा है जो अपने ही खेत से एक मुद्धी जान की बाली तोड़ लेने पर पछताबा करते देखे जाते हैं कि इससे राजा अपने माग से वंचित हो जाता है 3; अर्थशास्त्र में ऐसे अवसर पर जुर्माने का भी विचान है ४। स्थान स्थान पर राज्य की विधाल खत्तियाँ या कोठिया होती थी, जहाँ मूमिकर में मिले अन्न का संचय किया जाता था। इसकी देखरेख राजकीय अधिकारी करते थे को घुन लगने वा सहनें के पूर्व ही इसकी निकासी की व्यवस्था करते थे थे।

कुछ लेखों से यह भी जात होता है कि ६ वीं शताब्दी के बाद कहीं कहीं भिमकर नकद भी वस्त कियो जाता या। युक्त श्रांत के १० वीं शताब्दी के एक गुर्जर श्रतिहार दान पत्र में एक गाँवकी आमदनी में से १०० सुद्रा किसी देवालय के लिए लगाये जानेका वर्णन है६। [इसी कालके उद्दीसा के एक लेखमें ४२ 'रुपयों' (चाँदी के सिक्के) की आमदनी के एक गाँव के दानका विवरणो है०। राजराजेश्वर मंदिर के १२ वीं शताब्दी के दो भिस्तिलेखों में १ आम

१ राजमागादिव्ययतो हिगुणं छम्पते यतः ॥ कृषिकृत्यं तु तच्छ्रेष्ठं तन्त्यूनं दुःखदं नृगाम्।॥ ४, २, ११५ ।

२ इं. म. प्रे., १पू. १३६।

३ मा. २ पू. ३७८।

४ मा. २. अ. २२।

प शक्त नीति, ४,२,९६-३। ६ इं. ऐ., १६,१७४।

७ पुषि, इं, १२ प. २०।

को आमदनी का विवरण दिया गया है, इनमें से ३० प्रामों में सरकारो कर अनाज के रूपमें ही, प्रति 'वेकि' १०० 'कलम' घान के हिसान से, लिया जाता या, पर ५ प्रामों में यह सिक्कों में १० स्वर्ण कलंजु प्रति 'बेलि' की दर से लिया जाता था। इससे प्रतीत होता है कि ६ वों श्वताब्दी के आस-पास नकद कर लेने का प्रारंभ हुआ। पर ऐसे उदाहरण विरष्ट हो हैं।

भृमिकर नकद लिये चाने की अवस्था में यह अवश्य ही दो किश्तों में शरद और वसंत ऋतुकी फसन बटोरते समय लिया जाता रहा होगा? । गुज-रातके एक लेखने ज्ञात होता है कि कभी कभी राष्ट्रकृट शासन में यह तीन बार में एकत्र किया चाता थां ।

भूमिकर का प्रमाण समय समय पर बदलता था। स्मृतियों ने राज्य को आवश्यकतानुसार इसके वृद्धि को भी गुंबाइश रखो है। साथ हो सिंचाई को नहर सूख जाने पर कर में कमो करना भी आवश्यक थी। बनवासी के एक उत्कोण लेख से ज्ञात होता है कि ऐसे अवसरों पर सरकार अपने कर्तव्यपालन से बिरत न होती थीं ।

भूमिकर न चुकाने पर एक निश्चित अविध के बाद, जो समय और स्थान के अनुसार भिन्न भिन्न थी, भूमि बेच दी जाती थी। राजेंद्र चोळके समय यह अविध है साळ को थी, कुछोत्तुंग ने इसे घटा कर दा वर्ष कर दिया था बकाया रकम पर न्याज भी लगाया जाता था। पहले दिखाया जा चुका है कि। माझणों की और मंदिरों की भूमि भी कर न देने के कारण जप्त कर ली जाती था। पर आश्चर्य की बात है कि स्मृतियों में कहीं भी राज्य द्वारा नादेहन्दों को भूमि जब्त करने के अधिकार का उल्लेख नहीं है। क्या यह अविकार ९०० ई के बाद हो अस्तित्वमें आया !

यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार करना है कि कृषियोग्यभूमि का स्वामी कौन होता या। यदि भूमि का स्वामी राज्य था तो कृषक से लिये जानेवाळे घनको मालगुर

१ सी, इं. इं. भा. २ सं. ४ और ५

२ महस्वामी ( धर्थशास्त्र २, १५ ) और कुरुल्क (मनु ८, ३०७) ने इस प्रणासी का प्रतिपादन किया है।

३ इंडि, पे टि, १३ पृ. ६८ ।

४ ए. क. ८, सोराब सं. ८३।

५ सी. इं. इं., ३, सं. ६ । ६ इं. म. प्रे., भाग २ प. १२४५

जारो मानना पदेगा, भूमिकर नहीं। पर यदि भूमि का स्वामी कृषक या तो इसे भूमिकर कहना होगा।

श्राजकल की भाँति प्राचीन कालमें भी इस प्रश्न पर मतमेद था। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि भूगर्भ की निश्चिंका स्वामी राजा है क्योंकि वह भूमि
का भी अधिपति है । इससे केवल कुषियोग्य ही नहीं सब प्रकार की भूमि पर
राजाके स्वामित्व का समर्थन होता है। अर्थशास्त्र के टोकाकार भहस्वामी ने
एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि भूमि भीर
जलश्यों पर राजा का हो स्वामित्व है इतर व्यक्ति का नहीं। डायोडोरस का
भी कथन है कि भारतमें भूमि का स्वामी राजा हो माना जाता है, कोई व्यक्ति
मालिक नहीं माना जाता। उपर्युक्त इन तीन मतों के विरुद्ध, जो इस विषय में
निश्चयात्मक नहीं माने जा सकते, इमारे सामने पूर्व मीमांसा की स्पष्ट उक्ति है
जिसमें कहा गया है कि कुछ यहां के श्रंत में राजा द्वारा सर्वस्व दान का विचान है पर
इस स्वस्तर पर राजा प्रजा की निजी भूमि दानमें नहीं दे सकता । अर्थशास्त्र मो

निधीनां तु पुराणानां धातुनामेव च चितौ ।
 अर्धमायच्यादाना भूमेरधिपतिहिं सः ॥ ८.३९ ।

र राजा भूमेः पतिहर्ष्टो शास्त्रज्ञैरुदकस्य तु । ताभ्यामन्यतु यहूज्यं तत्र स्वाम्यं कुटुंबिनाम् ॥ भगः, २ अध्याय २४

३ संभव है कि भूगभैं स्थ निधियों का स्वामित्व सिद्ध करने के लिए ही मनु ने समस्त भूमि पर राजा का आधिपत्य प्रतिपादित किया हो। भट्टस्वामी का आश्रय भी साधारणतः जल और स्थक पर राजा का आधिपत्य प्रतिपादित करना था जैसे आजकल जल स्थक और आकाश में राज्य का आधिपत्य माना जाता है। राजकीय भूमि से ही यूनानी लेखकों ने समस्त भूमि पर राजा के स्वामित्व की करपना कर ली हो। इस संबंध में युवान खांग के मत का पता उसके यात्रा विवरण से नहीं चलता। देखिये माग १ प. १७६।

४ नं भूमि: सर्वान् प्रति अविशिष्टस्वात् । पूर्व मी० ६. ७.३, इस पर का ज्ञावरमाध्य ऐसा है:—

य इदानीं सार्वभौमः स तर्हि भूमि दास्यति । सोऽपि नेति बूमः । कुतः । · · · · ·

सार्वभौमत्वे स्वस्यैतदेवाचिकं यदसौ पृथिन्यां सभूतानां निश्चादीनां रक्षा-योन निर्दिष्टस्य कस्यविद्धागस्येष्टे न भूमेः ।

राजकोय मूमि श्रीर प्रजाकी व्यक्तिगत भूमि में स्पष्ट अंतर करता है । नारद् भी कहते हैं कि राजा जनता के यह और देश के स्वामित्व में इस्तद्वेप न करे अन्यथा इससे पूरी अन्यवस्था फैल जायगी । नीलकण्ड भी व्यवहारमयूख में स्पष्ट कहते हैं कि यद्यपि राजा समस्त पृथिवी का अधिपति हैं, फिर भी देश श्रादि (खेत) का स्वस्व जनता का ही है राज्य का नहीं ।

शागैतिहासिक काळमें भूमि पर पूरे समाज का स्वामित्व माना जाता था, इसका पता कुछ श्राचार्यों के इस मत से चलता है कि पूरे शाम, गोत या बिरादरी की अनुमति से ही भूमि बेची या हस्तांतरित की जा सकती है । भूमि के इस समाजगत स्वामित्व का यह श्रर्थ नहीं कि समाज सरकार द्वारा किसी व्यक्ति की भूमि छीन सकता था, इससे तो केवल भूमिके हस्तांतरित किये जानेपर एक रोक सी रहती थी तार्कि कोई अवांछनीय व्यक्ति शाम में न श्रा जाय। यह ध्यान में रखना चाहिये कि वैदिककाल में राजा भी कोई भूमि दानमें तभी दे सकता था जब पड़ोसी उसमें आपत्ति न करें ।

प्रागैतिहासिक कालमें समाजगत स्वामित्व का प्रमाव ऐतिहासिक कालमें दो बातों के रूप में देख पड़ता है। भूमिकर न देने पर भूस्वामी को उसकी भूमि से हटा सकने का राज्य का अधिकार मकानदार के किराया न देनेवाले किराये-दार को हटा सकने के अधिकार के समान है। यह स्पष्ट सिद्ध करती है कि पहले राज्य सब भूमि का स्वामी था। ऐतिहासिक काल में भी जसर जंगल और खानों पर राज्य का अधिकार पूर्व काल के उसके समस्त भूमि पर स्वामित्व के ही आधार पर था।

१ भाग २ अध्याय २३।

२ गृहक्षेत्रे च हे दृष्टे वासहेतु कुटुंबिनास्। तस्माने नाक्षिपेदाजा भूमेरिधपनिहिंस: ॥ ६-४२।

तत्त्यामक्षेत्रादौ स्वस्व तु तत्तक्षीमिकानामेव । राश्चां तु वस्त्रहणमात्रम् ।
 श्वतएव इदानीतनपारिमाषिकक्षेत्रदरनादौ न भूदानिविद्धिः ।
 किंतु वृत्तिकक्ष्वतामात्रमेव ।

व्यवहारमयुख, स्वत्वागम प्रध्याय ।

४ स्वय्रामज्ञातिसामन्तद्रायादानुमतेन च । हिरण्योदकदानेन षड्मिर्गच्छति मेदिनी । मिताक्षरा याज्ञ. २-११३ । ४ जत. ब्रा. १. ७. ३. ४; ८, १. १. ८ ।

इस बात के निश्चित और प्रवल प्रमाण हैं कि ६०० ई० पू० के बाद से कर न देने की अवस्था को छोड़ कर शेष किसी भी स्थिति में सरकार किसी भी व्यक्ति की भूमि नहीं छोन सकती थी। छोगों को अपनी भूमि दान करने बचने या बंघक रखने की पूरो आजादी थी। अम्बपालो और अनाथिंडिक ने बौद्ध संघ को वैशाली और श्रावस्तों में विस्तृत भूमि दान दी थी। बातक में भी मगघ के एक श्राह्मण द्वारा श्रपनी भूमि दूसरे को देने का उल्लेख हैं। उत्कोर्ण छेखों में भो अनेक व्यक्तियों द्वारा बिना सरकार की ओर से किसी वाघा या आपत्ति के श्रपनी भूमि के दानों के बहत से उल्लेख मिकते हैं?।

इसमें संदेह नहीं कि उत्कीर्ण लेखों में राज्य द्वारा बाह्मणों या देवाळ्यों को पूरे गांव दान में दिये जाने के उदाहरण मिळते हैं, पर इसने कृषियोग्य मूमि पर राज्य का स्त्रामिश्व नहीं सिद्ध होता,। कारण इन दोनों को राज्य को मिजनेबाले कर, जिनमें भूमिकर भी शामिल है, अपने लिये लेने का हो अधिकार दिया जाता था, इससे गाँव में रहनेवाले व्यक्तियों को निजो भूमि के स्वत्व पर कोई प्रमाव नहीं पड़ता था। दानपत्रों में लोगों से अपनी भूमि छोड़ देने को कभी नहीं कहा जाता, उनसे केवल यही कहा जाता है कि दान पाने वाले व्यक्ति का यथोचित सम्मान करें और राज्य अधिकारों को जो कर दिये जाते थे वे उसे दिये जाय। मविष्य में आनेवाले शासकों को गाँव की भूमिपर कब्जा करने से नहीं वरन् गाँव से कर उगाहने को वरजा जाता है ।

कभी कभी राज्य द्वारा भूमिदान के मां अनेक उदाहरण मिछते हैं, पर इनमें पूरा आम नहीं वरन् उसमें स्थित भूखण्ड, जो कभो कभी छितरे भी रहते हैं, दान किये जाते हैं। यथा, वरुमों के भुत्रतेन एक आम के देवालय को ३६० पादावर्त भूमि देना चाहते थे, इसमें उन्होंने आम के उत्तर-पश्चिम में स्थित चार दुकड़े और उत्तर-पूर्व के चार दुकड़े जिनका माप ३०० पादावर्त था आर ४० और २० पादावर्त के दो खेत कुएँ ने सीचे जानेबाड़े दिये । यदि राजा

१ सा. ४, ५० २८१।

२ प्पि. इं., ८ नासिक सं० १६।

र ते यूर्यं समुचितमागमोगकरहिरचयादिप्रस्वायोगनयनं करिष्यय ज्ञाहा-अवग्यविधेयादच मविष्यय । कॉ. इं. इ. मा. २ पृ. ११२ । देखिये खोह तामपत्र, वही पृ. १२६-१३३ । पाळी दानपत्र, पृषि. इं., २ पृ. २०४, वरह दानपत्र, पृषि. इं., १९ पृ. १४ ।

४ पुषि. इ., ३ पृ. ३२१।

ग्राम की पूरी भूमि का स्वामी होता तो वह १६० पादावर्त का पूरा एक चक ही दे सकता था और पानेवाला भी यही पबंद करता। पर ऐसा न करने का कारण यही हो सकता है कि राजा या सरकार के ग्राधकार में गाँव के कुछ थोड़े से खेत थे, बो उसे उत्तराधिकारी न रहने या कर के बकाया में मित्र गये थे। आजकल की माँति प्राचीन कालमें भी पत्थेक ग्राम में कुछ भूमि राज्य के अधिकार में रहती थी, इन्हें कुछ लेखों में 'राज्य-वस्तु' कहा गया है । जब राजा भूमिदान करना चाहते थे तो यही राजकोय खेत दे देते थे । जब 'राज्यकातु' में कोई खेत न होते तो वे खरीद कर भूमि दान करते थे; एक लेख में एक वैदुम्ब वंशी राजा द्वारा (१५०६) ग्राम-सभा से १ वेलि भूमि खरीद कर देवालय को दिये जाने का वर्णन है। कुछ चोल लेखों में भी ऐसे ही उदाहरण मिलते हैं जिनमें राज्य की ग्राप्त भूमि न होने पर अन्य व्यक्तियों से खरीद कर दान किये गये थे ।

कुछ अला लेखों से उपर्शुक्त बात और भी स्पष्ट हो जातो है। एक लेख में दिख्ण के राष्ट्रकृट सम्राट् अमोघवर्ष (८५० ई०) द्वारा तलेयूर प्राम ओर उसीमें स्थित एक ५०० × १५० हाथों की फुलवारी के दान का वर्णन हैं । एक अन्य लेख में सम्राट् गोविंदचंद्र (११५० ई० युक्त प्रांत) द्वारा लोलिंघपाद ग्राम और उसमे स्थित 'तियायी' नामक चेत्र के दान का उल्लेख हैं । यदि ग्राम के दान से ग्राम को पूरी सूमि के दान का अर्थ होता तो, उसमें के किसी खेत या फुलवारी के अलग दान के उल्लेख को स्या आवश्य-कता थी !

श्रतः निश्चित प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि कम से कम उत्तर बौद्ध कारू में कृषियोग्य भूमि का स्वामित्व जनता को हो या श्रौर राज्यकर न देने के

१ चेंडलूरममे राज्यवस्तुमृत्वा स्थितं चेत्रं " ' ' ब्राह्मणाय प्रदत्तम् ।

प्वि. इं. पृ. २३१।

र छोटे छोटे हुकड़ों के दान के लिए देखिये इं. ऐ. ६ पृ. १०३ ( आंध्र देश, तीसरी सदी ), एपि. इं. ३ पृ० २६०-२ ( मध्यप्रांत ५ वीं सदी ), इं. ऐ. ६ पृ० ३६ ( तामिक देश ६ ठीं शताब्दी ), एपि इं. ६ पृ० ४६ ( मैसूर १० वीं सदी ), इ. ऐं. ६ पृ० २०३ गुजरात १३ वीं सदी )

३ ती. इं. इं., ३ पृ. १०४-६।

क एपि इं. ४ पृ० २९.,

र वही ७ पू० २०३-४ ;

सिवा और किशी कारण से इस स्वत्व का अपहरण न हो सकता था। अत: राज्य को मिलने वाली रकम भूमि कर या भूमि का किराया नहीं।

अब इम दूसरे करों की ओर दृष्टिच्चेप करेंगे। कृषि की मांति वाणिज्य और उद्योग को भी अपने योग्य करों का भार उद्याना पड़ता था। व्यापारिकों को प्राम या नगर में आनेवाली वस्तुओं पर चुंगी देनी पड़ती थी। इसका औचित्य यों या कि राज्य को उद्दुकों को मरम्मत और मुरच्चा पर बहुत खर्च करना पड़ता था?। यह चुंगी नगर या प्राम के प्रवेश-द्वार पर 'शौलिकक' नामक कर्मचारियों द्वारा वस्तूल की जाती थी?। स्थान स्थान की प्रथानुसार यह छुटक पैसा या पदार्थों में लिया/जाता था। स्मृतियों के निदेंशों से प्रतीत होता है कि चुंगी पदार्थों के रूप में दी ली जाती थीं, कभी कभी तो कुछ लेखों में किसी स्थान पर शुल्क में मिलने बाले घी, तेल, कपास, पान आदि की वास्तविक संख्या भी दो गयी हैं । मुद्रा में भी चुंगी एकत्र की जाती रही होगी, सोना, चांदी, और रत्नों पर तो अवश्य हो नकद चुंगी लगतो रही होगी। कभी कभी उत्कीर्ण लेखों में चुंगीघरों की आय से दान का उल्लेख मिलता हैं इससे भी सिद्ध होता है कि होगों को अधिकार था कि चुंगी पदार्थों के रूप में दें या मद्रा में।

वस्तु के अनुसार चुंगी. की दर भी पृषक् पृथक् थी, हैसा आजकळ होता है। मनु ने इंघन, मांस, मधु, घी, गंघ, औषिघ, फूळ, शाक, मिट्टी के वर्तन और चमड़े के सामान पर १६ प्र० श० चुंगी हेने की अनुमति दी है। अर्थशास ने इन पदार्थों पर इससे कम, माने ४ था ४ प्र० श० छेने का आदेश दिया है। सूत्रो बस्न पर भी इतना ही शुल्क था पर महिरा और नेशमी वस्त्र पर ६ से १० प्र० श० हिया जा सकता था । अस्तु, इह स्पष्ट है

<sup>।</sup> मार्गसंस्काररचार्थं मार्गगेस्यः फळं इरेत् । शुक्र ४. २. २३

२ ई. ऐ. २४ ए. १८ (इसायूँ ६ वीं शताब्दी) मजूमदार ईस. वंगाक सं. १ (वगाज ८ वीं शताब्दी)

शाददीताय षड्मागं दुमांसमधुसिपंषास् ।
 गंभौषिवस्तानां च पत्रमुखफलस्य च ॥ मनु ७-१३१ । और भी शुक्रः
 ४, २, १२१; अर्थशास्त्र २, २२ देखिये ।

४ पृषि. इं. ३ पृ. ३६।

र पृपि. इं. १ सं. १६।

६ अ०७., १३१-२।

ांक राज्य को नीति ग्रौर आवश्यकता तथा समय और स्थान के अनुसार चुंगीहैंको दर बदलती रहती थी। स्मृतियों में उछिखित बस्तुमों पर चुंगी बस्ले जाने का प्रमाण उस्कीर्ण लेखों में भी मिलता है पर इसकी दर नहीं बतायी गयी है?।

चुंगी के साथ ही यात्री, माल, मवेशी श्रीर गाहियों की नदी आरपार ले जाने के लिए एक नौका कर भी हगता था। यह कर बहुत अल्प था।

चुंगी, जकात, और नौका कर के श्रतिरिक्त बाियाज्य को कुछ श्रीर भी कर-भार वहन करना पड़ता था। कुछ राज्यों में माप श्रीर तौल की जाँचकर उन्हें मुहर'लगा कर प्रमाणित किया जाता था श्रीर इसके लिए कुछ स्वल्प कर देना पड़ता था?। उत्कीर्ण लेखों में बहुचा दूकान कर का भी उत्लेख है यद्यपि स्मृतियों में यह बिरल ही है। यादव काल में दिक्लन प्रांत में इसका चलन थां। दिख्ण मारत में पांख्य राज्य में इसकी दर ६ पणम् प्रति वर्ष, श्रीर गुर्जर प्रतिहार राज्य में दो विशोपक प्रतिमास था। ऐसा जान पड़ता है कि यह एक इलका कर था जो छोटे नगरी और श्रामों में दूकानों पर लगाया जाता था। मेगास्थनीज ने विकी की रकम पर जिस १० प्र० शंकर का जिक किया है, वह अर्थशास्त्र या स्मृतियों में नहीं पाया जाता। संमव है कि भ्रम वश मेगास्थनीज चुंगी को ही विकी कर समझ बैठे हों।

त्रव उद्योग धर्घो पर लगनेवाले करों का विचार करना है। जहाँ तक बदर्ड और लुद्दार कैसे छोटे मोटे कारीगरों का संबंध है उन्हें महोने में एक या दो दिन सरकार के किए काम करना पड़ता था । सरकार यह अधिकार अधिकतर स्थानीय संस्थाओं को दे दिया करती थी ताकि सार्वजनिक निर्माण कार्य में इसका उपयोग हो सके। उत्कीण लेखों में इसे 'कारकर' (कारीगरकर) कहा गया है। इसमें संभवतः नाई, घोबो, सुनार, और कुम्हार भो शामिल थे।

१ अर्थशास्त्र मा० २-२२.।

२ अर्शास्त्र भा० २. १९।

इ इ. थे. १२ पू. १२७।

४ ए. इं., ३ सं० ३६।

प्र पहले के स्मृतिकार मनु (७. १३८) और विष्णु (३.३२) मादि महीने में एक दिन काम छेने का भादेश देते है पर बाद के स्मृतिकारों, शुक्त आदिने इसे बढ़ाकर दो दिन कर दिया।

विजय नगर साम्राज्य में जुनकरों को प्रति करघा १२ पणम् कर देना पड़ता या । संमव है कि पहले भी यही परिपाटी रही हो ।

सुरा के व्यापार पर राज्य का कड़ा नियंत्रय था। सुरा राजकीय सुरालयों में भी बनायी काती थी और व्यक्तिगत सुरालयों में भी। इन्हें ४ प्र. श. आकारी कर देना पड़ता थारे।

सब खार्ने राजकीय संपत्ति समझो जाती थीं। कुछ तो सरकार स्वयं खुदवाती थीं श्रीर कुछ ठेके पर दे दी जाती थीं। ठेकेदार को खानसे निकलने वाले द्रव्य पर भारी कर देना पड़ता था। शुक्र सोने और हीरे पर ५० म. श., चांदी और तांवेपर ३३ म. श. और अन्य घातुओं पर १६ से २४ म. श. कर हैने की अनुमति देते हैं । स्मृतियों में सोने पर जो २ म. श. कर हिखा गया है वह बहुषा जकात था आवकारी नहीं।

नमक पर भी आबकारी कर लिया जाता था। नमक की खाने या तो सरकार खुद्वाती थी या उसकी अनुमति से कोई अन्य। ग्रामों के दानपत्रों में दान पानेवाले को अक्सर बिना कोई शुक्क दिये धातु या नमक के लिए खुदाई करने का अधिकार भी दिया जाता था ।

पशुपालन भी एक प्रमुख न्यवसाय या विशेषकर प्राचीन या वैदिक काल में, अतः इसे भी अपना भाग राज्य को अदा करना पढ़ता था। मनु ने पशुयूय पर २ प्र० श० कर की श्रनुमित दी है , यह २ प्र० श० संमवतः पूरे यूथ का या। शुक्र ने ६ से १२ प्र० श० की राय दी है, यह भाग सालभर में जितनी चृद्धि हुई हो संभवतः उसीसे लिया जाता था। उत्कीर्ण लेखों से एक तीसरी प्रणाली का पता चलता है, इसमें यूथ में जितने पशु होते थे प्रति पशु कुछ नकद रकम प्रति वर्ष ही जाती थी ।

१ इं. स. प्रे. १, पृ. ५०।

२ अर्थशास्त्र, मा० २ अध्याय २४ ।

<sup>₹ 8.</sup> २. 995-E I

८ विष्णु ३, २४।

५ इं. पे. १८ प्र. ३४-४।

<sup>€</sup> No 9, 930 |

वीरपाण्डय के राज्य में (१२४० ई) ५० मेक्ने, १० गायों या ५ मेंस्नें पर १ प्रयास प्रतिवर्ष किया जाता था। प्रयास भाजकक के ६ भाने के बरा-बर एक चाँदी का सिक्का था।

जिन चुंगी और आवकारी करों का अब तक उल्लेख किया गया है उनके लिए शिलालेखों में एक ही सारगर्भ शिव्द 'भूतोपाचप्रत्याय' प्रयुक्त होता या। अर्थात् 'भूत' जो कुछ अस्तित्व में आया या बनाया गया हो और 'उपाच' जो कुछ बाहर से लाया गया हो, उस पर लिया जाने वाला कर । कभी कभी जकात या चुंगी के लिए केवल शुल्क का प्रयोग होता था ।

प्राचीन क: लमें 'विष्टि' (बेगार) का भी काफी ंचलन या। यह उचित समझा जाता या कि जो गरीब आदमी नकद या घान्यादि के रूप में सरकार को कर देने में समर्थ न थे वे शारीरिक श्रम के रूप में राज्य को कुछ कर दे दे। उन्हें प्रतिदिन तो काम मिलता न या श्रतः उनसे मास में एक दो दिन सरकार के लिए काम लेने में कोई अनौचित्य न समझा जाता था<sup>3</sup>। सरकार के लिए बिधि करते समय वे सरकार से भोजन पाने के अधिकारी थें

सरकार के अधिकारी जब देहात में 'दौरे पर जाते थे, तब यह बेगार हो जाती थी । अन्यया स्थानीय संस्थाओं को गांव या नगर के सार्वजनिक उपयोगी कामों में इस अम का उपयोग करने का अधिकार दे दिया जाता था।

बेगार एक अप्रिय प्रथा है । युवान च्वांग के समय (इ. स. ६३० कहीं कहीं इसका चलन ही न या और अन्यत्र भी इससे बहुत हो कम काम लिया जाता था । अधिकारियों का दौरा रोज रोज तो होता न था, इसलिये सदक, धर्मशालाओं तथा सरोवर्रा आदि की मरम्मत और निर्माण में ही जो लोग इन कार्यों के लिये चंदा न दे सकते थे उनसे बेगार की जातो थी। इन कार्यों से सर्वे साधारण जनता का ही काम होता था।

<sup>ा</sup> प्रि. इं. ६, पृ. २६, ईं. प्रें. ३२. पृ. १६१; ५. पृ. १५०, आक्तेकर, राष्ट्रकृटों का इतिहास, पृ. २२⊏-६।

२ इं. पू. १२. पू. २६४; १६. पू. २४।

३ गौतम २. १. ३१; मनु ७. १३८ और विष्णु ३. ३२, केवल एक दिन की । बेगार की अनुमति देते हैं, शुक्र हो दिन की ।

४ भक्तं च तेम्यो द्यात्। गौ. ध. सू. २. १. ६१।

पू' उत्तरी भारत के लेखों में 'स्कंधक' करका उक्लेख है । इसका अर्थ संभवतः दौरा करनेवाले अधिकारियों का सामान दोना था। एपि. इं., ३. ८. १९६ ।

६ बॉटर्स, भाग १. पृ. १७६।

राज्यकार्य से सरकारी कर्मचारियों के प्राप्त में आगमन पर प्राप्तवासियों को उनके रहने और भोजन का व्यय देना पड़ता था, इसके लिए सबसे चंदा लिया जाता था । इनके घोड़ों के लिए दाना और घास देना पड़ता था तथा इनकी यात्रा के लिए अगकी मंजिल तक सामान पहुँचाने के लिए भारवाहक पशुओं का भी प्रवंध करना पड़ता था ।

नियमित करों के अतिरिक्त श्राकिश्मक संकट उपिश्यित होने पर या साम्राज्य विस्तार की योजनाओं के लिए साधन जुटाने के लिए प्रजा से विशेष कर भी लिये जाते थे। महाभारत तो ऐसे अवसर्ग पर भी विशेष कर लगाने के विरुद्ध है पर बड़ी अनिच्छा से कहता है कि कभी कभी इसके सिवा दूसरा उपाय भी नहीं रहता है। यह इस बात पर जोर देता है कि ऐसे अवसरों पर विशेष प्रचारक भेजे जायँ जो जनता को नये कर का औचित्य समझाकर इसे कर देने के लिए राजी कर सकें । श्रर्थशास्त्र में इन विशेष करों को 'प्रणय' या भेंट का नाम दिया गया है और कहा गया है कि किसानो से २४ प्र० श० और ज्यापारियों से उनको हैसियत के अनुसार ५ से ५० प्र० श तक लिया जाय ।

उत्कीण लेखों में इन विशेष करों का उल्लेख मिळता है। रहदामन ने अपने लेख में गर्वोक्ति की है कि विशाल सुदर्भन झोळ बिना प्रजा से विशेष कर या बेसार लिये बनवायी गयी। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के विशाल निर्माण कार्य के लिए विशेष कर लेने की प्रथा थी। बीर रार्केंद्र ने बेंगों के चालुक्यों के बिरुद्ध अपने युद्ध का साधन जुटाने के लिए प्रति वेलि भूमि पर कलंजु सुवर्ण का विशेष कर लगाया या । गृहडवाल राज्य में लिया जानेवाला 'तुरुष्क दंड' भी इसी प्रकार का एक विशेष कर था जो संभवतः मुसलमानी आक्रमण का सामना करने के लिए सैन्य संग्रह हेतु लगाया गया था ।

राजसेवकानां वसतिदं सप्रयाचादंडी न स्तः । इं. ऐ' १४. पृ. ३१३

२ अपारंपरगोबिछवर्दः । वाकाटक दान पन्न ।

३ शांति० ८७. २६- ३६।

४ मा. १. घ. १२।

र सी. इं. प. रि. १९२० सं० ४२० ।

ब पुषि, हुं. १४ प. १९३।

ि अन्त में प्राचीन भारत को कर व्यवस्था वास्तविक व्यवहारमें कहां तक न्यायसंगत और औचित्य पूर्ण थी इसका विचार करना जरूरी है। हम देख चके हैं कि स्मृतियों में कर व्यवस्था के जो सिद्धांत प्रतिपादित किये गये हैं वे अस्यंत निर्दोष और न्यायसंगत हैं। पर प्रश्न यह है कि वे प्रत्यक्ष व्यवहार में कहाँ तक माने जाते थे। इस विषय में छानबीन करते समय यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारे पास इस संबंध में बहुत कम सामग्री है। राजप्रशस्तियों में सर्वदा प्रजा सुखी, संतुष्ट और समृद्ध ही बतायी जाती है, पर उत्कीण लेखों और ग्रंथों से इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिले हैं कि कभी कभी कर श्रविषक श्रीर प्रजा के किए कष्टकर होते थे। एक जातक में कर एकत्र करने वाले कर्म चारियों के भय से बंगल में भागी हुई प्रजा की कष्ट-कथा का वर्णन है । कश्मीर के राजा लिखतादित्य ने अपने उत्तराधिकारियों को सहाह दी थी कि प्रवा पर इतनो कर लगाया बावे कि उसके पास केवल इतना ही अन बच जाय जिसने किसी प्रकार साल भर तक उतका काम चल जाय? । कश्मीर के राजा शंकर वर्मा के शासन में इतना अधिक कर लिया जाता या कि प्रजा के लिए हवा पीकर ही प्राण रच्चा करने के सिवा अन्य कोई सामन शेष न रह नाया याउ ।

कुछ लेखों से ज्ञात होता है कि तंबोर जिले के कुछ प्रामों में प्रजा ने अत्य-विक कर से व्याकुल होकर विरोध स्वरूप खेती करना ही छोड़ दिया थाड़ । तृतीय कुलोचुंग के राज्य में उसके एक सामंत ने प्राम-सभा के विरोध की उपेचा करके उत्तर भूमि पर भी कर लगा दिया था । यह अन्याय्य कर न देने पर प्राम पंचायत के सदस्य बंदी यह में रखे गये और उनका लुटकारा तभी हो पाया जब प्राम-सभा की कुछ भूमि बेच कर नया कर चुकाया गया । ब्रह्मदेय प्रामों के लोगों को भी अत्याचार का धिकार होना पहता था और कर की वस्त्लो के किए कही धूप या पानो में ज़िंदे रहना पहता था और इस अत्याचार से लुटकारा पाने का भो उपाय न या ।

९ आ. ४, पू॰ ९८

२ राज तरंगिणी ४, पृ. ३४४।

३ कायस्थप्रेरणादेवेदेवेनाच प्रविततेः । श्रायासैः श्रासशेवेव प्रायाचुत्तिः शरीरिणाम् । राज. ५. १८७ ।

४ सी. इं. ए. रि., १८६७ सं. ६६, ६८, और १०४।

भू वही, १९१२ सं. २०२। ६ वही १८६४ सं. १५६।

206

पर इन घटनाओं को व्यर्थ अधिक महत्व भी न देना चाहिये। उपर्युक्त कश्मीरी राजा असाधारण अत्याचारी थे। उनमें से शंकरवर्मा, दिहा और हवें को श्रेणी ही श्रलग है। हवें न केवल मंदिरों को संपत्ति का ही अपहरण करता था वरन देवम्तियों को भी भ्रष्ट करके उनका सोना कोष में जमा करता था। अतः इन राजाओं के अत्याचार को साधारण स्थिति का द्योतक नहीं माना जा सकता। दिखण भारत के संबंध में सेकडी लेखों से कर एकत्र किये जाने की प्रणाली का वर्णन मिलता है। ऋौर यह उल्लेखनीय बात है कि इस संबंध में ज्यादती के उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं। जो कुछ भी उदाहरण मिलते हैं वे चोक शासन काल के अंत के हैं जब शासन व्यवस्था बहुत बिगड़ चुकी थी। अन्याय्य करों का जनता द्वारा सफल विरोधों के भी उदाहरण हमे पर्याप्त मिलते है। तंजीर जिले के नाइओं का उदाहरण हैं नहाँ ग्राम स्माओं ने श्रपनो बैठक में केवल नियमित कर के सिवा अन्य कोई भी कर न देने का निश्चय किया बा? । कर्नाटक की एक ग्राम सभा का उदाहरण भी हमारे सम्मुख है जिसने गायों और भैसों पर कर देने से इस कारण इनकार कर दिया कि इस प्रकार के कर की प्रथा चिर काल से न थी। इसके अतिरिक्त इस आम सभा ने यह भी निश्चय किया कि भूमि कर किस हिसाब से दिया जाय?। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जनता अनुचित कर का विरोध करने में सदैव तत्पर रहती थी। अत्याचारी निरंकश शासकों के सामने भले हो उनकी न चल पाती हो पर साधारण प्रवृत्ति के शासकों के सन्मुख वे श्रिषकारों की रखा कर छेते थे। वैदिक काल की समिति की भाँति कोई जनसंस्था ईसा की पहला सहसान्दी में न भी जो राजा की निरंकुशता पर अंकुश रख सके, पर ग्राम पंचायतों में अपने अधिकारों और स्वर्खों की रहा के लिए पर्याप्त शक्ति थी।

अब यह देखना है कि करके अतिरिक्त राज्य की आयके और क्या स्रोत थे। इनमें मुख्य राजकीय संपत्ति और राजकीय कारखाने और उद्योगों से होनेवाली आय. जुर्मानों की रकम और सामंतों से मिलने वाला उपायन या खिरान थे।

राजकीय संपत्ति में राज्यवस्तु भूमि असर, जंगल, भूगर्भस्य घन या निवान, खान, प्राकृतिक सरीवर श्रीर जलाशय, श्रादि को गणना की बातो थी और इनसे काफी आमदनी होती थी । जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है कृषियोग्य

१ , सौ. इं. ए. रि., १८९७ सं. ९६, ६८, १०७।

२ ए. क., १०, मुखबातक सं. ४४ ( अ )।

भूमि कृषक की हो होती थी पर उत्तराधिकारी के अभाव, राज्यकर न देने तथा गुक्तर श्रपराचों, संपत्तिहरण (forfeiture) आदि कारणों से राज्य के कन्जे में भी बहुत भूमि आ जाती थी। श्रतः अधिकशों ग्रामों में राज्य के भी अनेक खेत रहते थे जिनकी खेती या तो मजदूरी द्वारा करायी जातो थी या वे असामियों (lesees) को दिये जाते थे। राजकीय भूमि की देखरेख का काम एक विशेष कर्मचारी का या जिसे श्रयशास्त्र में सीताध्यस्त् कहा गया है। बादमें उसका क्या नाम था यह शांत नहीं।

उत्तर भूमि पर किसी का कब्जा न रहता था अतः वह राज्य को संपित्त मानी जाती थी। प्रारंभ में ५-६ वर्षों तक पहले पूरा और पीछे अग्रतः भूमि-कर माफ कर देनेका आश्वासन देकर इन पर भी कृषि कराने का अयस्न किया जाता था। बहुचा उत्तर भूमि का प्रवंच स्थानीय संस्थाओं को सौंप दिया जाता था; गुप्तकाल में इनकी स्वीकृति और सहमति से ही इसक विक्रय होता था । ऐसा प्रतीत होता है कि दिख्ण भारत में न केवल इसका प्रवंच ही प्राम संस्था के हाथ में था वरन इसके स्वामित्व का भी वे दावा करती थीं। अकाल बाद आदि के समय बहुचा इस प्रकार की सार्वजनिक भूमि के विक्रय के उदाहरण मिळते हैं ।

कैसा कि प्रायः सब युग में सब राज्यों का नियम रहा है प्राचीन भारत में भी खानों और खनिज वस्तुओं पर राज्य का ही स्वामित्व था। प्रामों के दान देते समय उसमें स्थित खानों को खोदनेका अधिकार भी प्रतिग्रहीता को प्रायः प्रदान किया जाता था। खानों में नमक और पत्थर को खाने भी शामिल थीं । रह्नों की खानें बहुमूल्य राज्य-संपत्ति समझी जाती थीं, इनकी व्यवस्था की विधि पहले ९ वें अध्याय में पृ० १४७ पर बतायी जा जुकी है।

जमीन में गहे खनानों पर भी राज्य का ही अधिकार माना जाता था, कारण लाबारिस माळ का स्वामी भी राज्य ही होता था और भूगमं से निकलने के कारण वे भी खनिज संपत्ति के हो वर्ग में आते थे। पर यदि

१ अर्थशास्त्र सा०, ६ अध्याय ६ ।

२ एवि इ. १५ पृ. १२९ ।

३ सी. इं., ए. रि., १८९८ सं. ६७६।

सपापायक्तिः । संथनदेव का दानपत्र ( युक्तप्रांत ११ वीं सदी ), इंडि.
 ऐंडि. १८, ३४-५ ।

खनाने का पता किसी ब्राह्मण को लगता था तो उसे वह सरकार न लेती थी, अन्य जाति के पाने पर आधा सरकार बेती थी आणा पानेवाला।

जंगल भी राज्य की महत्वपूर्ण संपत्ति समझे जाते थे। इनका एक माग गजदक के हाथी प्राप्त करने के हेतु गजों के लिए छोड़ दिया जाता था, एक भाग राजा के आखेट के लिए सुरिवत रखा जाता था। बाकी हिस्से से ईंघन और लकड़ी प्राप्त होती थी । इनकी न्यवस्था का हाल १ के श्राप्याय में पृ० १४४ पर बताया जा जुका है।

केवल गहह्वाल राजाओं के दानपत्र में ही दान पानेवाले को आम और महुए (मधूक) के मेहों का भी स्वामित्व प्रदान करने का उल्लेख है? । पर इसी के बल पर यह नहीं कहा जा सकता कि जनता की निजी भूमिपर उगनेवाले हन बुद्धों पर भी राज्य का स्वामित्व होता था। संभवतः उपर्श्वक्त लेखों में उल्लिखत बुद्ध ऊसर भूमिपर उगे थे, एक लेख में ऐसा संकेत भी मिहता है?।

नवम अध्याय में बताबा बा चुका है कि प्राचीन भारत में सरकार की क्रोर से भी उद्योग धंधे चलाये बाते थे। वह्न उत्पादन के लिए सरकार का एक बुनाई विभाग भी होता था। इसी प्रकार सुरा बनाने के लिए राजकीय सुराह्य भी रहते थे। सरकार के कसाईखाने रहते थे जिसमें मांस के लिए पशु काटे जाते थे। मेइ, बकरी, गाय भैस और हाथो आदि के यूथ राजकीय बनों में पशुशालाओं में पाले जाते थे। सरकारी टकसाल में अल्प शुलक पर जनता सुद्रा दलवा सकती थी। कभी कभी तो जनता के गहने क्रादि बनवाने के लिए सरकार की क्रोर से कारखाने खोले बाते थे; वहाँ प्रमाण पत्र देकर सुनार रखे जाते थे। व्यापारियों का माल दोने के लिए भी राज्य की ओर से किराये पर नौकाएँ चलायी बाती थीं और समग्री, पशु तथा यात्रियों को पार उतारने के लिए नौका कर भी लिया बाता था। सरकार की ओर से गणिकालयों और द्यावसायों को भी अनुमित पत्र (license) दिये बाते थे। इन सब कार्यों और व्यवसायों से सरकार को अच्छी ब्राय हो बाती थी।

सामार्क्यों को श्रपने करद सामंतों के उपायन (खिरान) से भी पर्यात श्रामदनी हो जाती भी। परंतु इसकी रकम निश्चित न यी और यह तभी तक

१ अर्थशास्त्र अध्याय १-२।

२ ई. ऍटि., १४ ए. १०३-४।

<sup>🧎</sup> समधूकाम्रवादिका, चंद्रावती दानपत्र, एपि. इं. १६ ए. १३३।

जारी रहती थी जब तक करद राज्यों को वशमें रखने की शक्ति साम्राज्य में रहती थी।

जुर्मीने भी राज्य की आयके एक खोत थे। साधारण अपराधों के हिए ग्राम-त्यायालयों द्वारा किये गये छोटे मोटे जुरमानों की श्राय तो साधारणतः ग्राम संस्था या मुखिया को ही मिलती थी। पर राजकीय न्यायालयों द्वारा किये गये जुरमानों की रकम राजकोष में ही जाती रही होगी। जुरमाना वस्ल करने वाले अधिकारी को कुमायूँ प्रांत में 'दशापराधिक' कहा जाता था ।

क्षता कितारी या स्वामी विद्यान वस्तु पर स्वमावतः राज्य का हक होता या। जब विधवाओं को संपत्ति का उत्तराधिकार न या, तब मृत ब्यक्ति की पूरी संपत्ति सरकार ही छे छेती थी, विश्ववा को भरण-पोषण के किए समुचित वृत्ति दी जाती थी? । विश्ववाओं को दायमाग मिल्लने से राज्य की आय मारी जाती थी अतः १२ वीं शताब्दी तक अनेक राज्य इस सुधार का विरोध करते पाये जाते हैं; यद्यपि देरी शताब्दी ईसवी में ही अनेक पुरोगामी आचारों ने इसका प्रतिपादन किया था । कुछ चालुक्य और यादव छेखों में पुत्रशीन अवस्था में मरने वाले व्यक्ति की संपत्ति पर कर का उल्डेख है, संभवतः यह विधवाओं के दायमाग से होने वाली राज्य की हानि की पूर्ति स्वरूप था ।

अब हमें राज्य के व्यय की मदों पर विचार करना है। इस विषय में प्रामाणिक समग्री का अभाव है। महाभारत या प्राचीन स्मृतियों में भी इस विषय का अधिक विवरण नहीं मिलता। उत्तर कालीन स्मृतियाँ उरकीण लेख और ताम्र पत्र भी इस संबंध में प्रायः मौन हैं।

अर्थशास्त्र से इस विषय में कुछ सहायता मिलती है। इसमें न्यय की मर्दों का विवरण दिया गया है। पर ये सब अधिकतर राज महल के खर्च से ही संबंध रखते हैं, शासन के विभिन्न विभागों में होनेवाले खर्च का इससे अनुमान

१ इं. ऍटि. २५, पृ० १८।

२ अदायिकं राजगामि...

अन्यत्र ब्राह्मणात्कितु राजा धर्मपरायणः ।

तरस्त्रीणां नीवनं दृद्यादेष धर्मः सनातनः । नारदस्मृति, १३. ५२

गुजरात में बारहवी सदी तक विधवाओं का पतिसंपत्ति पाने का अधिकार स्वीकृत नहीं हो पाया था। देखिये, कुमारपाल-प्रतिबोध नाटक, ततीय अंक।

३ इं. पं., १९. १४५; पूछ, कोल्हापूर, पृ. ३३३; प. इं., ३ तं. ३६।

215

नहीं होता । न इससे यही पता चलता है कि राजमहरू पर होनेवाला खर्च राज्य की आयका कितना प्रतिशत था। कौटिल्य ने मंत्री, अपारय और कुछ अन्य अधिकारियों के वेतन का भी विवरण दिया है पर राज्य की आय का पता न रहने के कारण इम यह नहीं जान सकते कि ये वेतन उचित थे या ब्रनुचित । यह भी प्रायः निश्चित है कि प्राचीन भारत में राज कर्मचारियों को श्रविकतर नकद वेतन के स्थान पर जागीर या राज्यकर का अंग्र ही दिया नाता था।

शुक्र ही एकमात्र ऐसे अंथकार हैं जिनसे यह पता चलता है कि राज्य की आय का कितना प्रतिशत किस मदमें व्यय होता था । इनके अनुसार व्यय का विवरण इस प्रकार है।

१—सेना (बलम्)	५० प्र. श.
र—दान धर्म (दानम्)	·····= पुत्र प्र. श.
३— बनता ( प्रकृतयः )	८ <u>३</u> प्र० श्र॰
४- शासन खर्च ( अधिकारियाः )	رو ا
१—राजपरिवार खर्च ( आश्मभोग )	6 3 ,, ,,
६ - कोश ( सुरिच्चत या स्थायी Reserve Fund	

इस खर्च के व्योरे का (बजट) स्वरूप ठीक समभने के छिये थोड़ा सा विवरण जरूरी है। ऐसा आपाततः बान पहता है कि इसमें सामाजिक और राष्ट्रहित के कार्यों के लिए व्यय की व्यवस्था नहीं की गई है। पर प्रकृति ( बनता ) और दान की मद इसी कार्य के लिए हैं। शुक्रनीति के टीकाकार और हा • घोषाल प्रकृति का अर्थ मंत्री और श्रमात्य जैसे उच्च अधिकारी समझते हैं, पर इन सबका वेतन मिलाकर राज्य की आय का मह प्र• श्र० होना असंभव था। फिर यह भी न भूछना चाहिये कि अधिकारियों के किए एक अलग मद ( सं॰ ४ ) बी ही । प्रकृति शब्द का साधारण अर्थ जनता ही है अतः यह जनता के शंस्कृतिक और भौतिक हित के कार्यों के लिए ही थी। प्रकृति के मद में सन्न, रुग्णालय, मठ (विहार ), विद्यालय व मंदिर पर किया जाने वाळा खर्च बाता है। विहार और मंदिर बहुबा पाठशाळा और चिकिरसा-

१ 1. २१६-७: ४. ७, २४-२८ में शुक्र १ जाख वार्षिक आय वाले काद राज्य के लिए कुछ छोटा सा विभिन्न व्ययपत्र बताते हैं।

२ हिंदू रेबेन्यू सिस्टीम, पृ. १६१

क्य भी चढाते थे<sup>र</sup>। अमहार मामों के ब्राह्मण उपमोक्ता भी योग्य विद्यार्थियों को निःश्चटक पढ़ा कर शिच्चा और संस्कृति का संवर्धन करते थे।

इस प्रकार सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्र निर्माण के कार्यों के लिए राज्य की श्रायका १६३ प्र. श. निर्मारित किया जाता है। पर वास्तव में व्यय इससे भी बहुत अधिक होता था। क्योंकि इसमें स्थानीय संस्थाओं द्वारा राज्य के थन से व्यय की जानेवाली रकम सम्मिलित नहीं है।

राजा के निजी खर्च के लिए ८3 प्र. श. अत्यिषिक नहीं है। वर्तमान भारतीय नरेशों के सामने अंग्रेज सरकार ने हाल में यह आदर्श रखा था कि वे राज्य की आय का १० प्र. श. से अधिक राज परिवार के लिये खर्च न करें।

सेना (बलम्) पर ५० प्र. शा. व्यय अवश्य ही अस्यधिक है। ५०० ई से साम्राज्य विस्तार का जोर बढ़ा और आये दिन युद्ध होने लगे। अतः अपनी स्वतंत्रता कायम रखने के लिए सेना पर खूब खर्च करना आवश्यक या। परंतु स्मरण रहना चाहिये कि इस खर्च की एक पाई भी देश के बाहर न जाती थी और इससे न केवल बनता में बीरभाव की बृद्धि होती थी वरन् देशमें उद्योग और व्यवसाय की भी प्रोत्साहन मिलता था।

स्थायी कोश में आयका १६ प्र. श जाता था। मुसलमान लेखकों ने इस बात का विशेष उल्लेख किया है कि हिंदू राजा अपने पूर्वजों से भरा पूरा कोश पाते थे और अत्यंत संकट पहने पर ही इसमें हाथ लगाते थे। सार्वजनिक या सरकारी ऋण की कल्पना प्राचीनकाल में अशात थी और वही राज्य संकट से अपनी रज्ञा कर पाते थे जिनका कोष और भांडार भरा पूरा रहता था। दिच्चण के राजाओं से अलाउद्दीन और मिलक काफूर ने जो अपार घनराशि दृटी थी वह इस बात का प्रमाण है कि हिंदू राजा अपनी आय का बहुत बड़ा माग संकट के समय काम देनेके लिए अपने स्थायी कोश में संचित और सुरिच्चत रखते थे।

१ श्रावतेकर, प्ञुकेशन इन ऐशिएंट इंडिया (द्वितीय संस्करण; पृ-११९-१३८),

# १३ वाँ अध्याय

### अंतर-राष्ट्रीय संबंध व व्यवहार

राज्य और शासन-व्यवस्था संबंधी ग्रंथ में राज्यों के परस्पर संबंध के विषय पर सरसरी तौर पर ही विचार किया जा सकता है। इस विषय के दो पहलू हैं, एक शांति काल में संबंध और दूसरा युद्ध काळ में। शांति काल के संबंध का विचार करते समय प्रभुराज्य (Sovereign state) और सामंत-राज्य (Feudatory state) के संबंध का भी विचार करना होगा।

वैदिक काळ के विभिन्न राज्यों के परस्पर संबंध के विषय में हमें बहुत कम जान है। ये राज्य श्रिकतर जनराज्य थे श्रीर बहुत समय तक इनकी सारी शक्ति अनार्य जातियों को पराजित करने में ही छगी रही। अतः इनमें परस्पर संबंध साधारणतः मैत्री पूर्ण ही था। पर एक दूसरे का उत्कर्ष देख कर आर्थ जातियों में भी परस्पर स्पर्धा के भाव उत्पन्न होने छगे। फलतः कभी कभी उनमें आपस में भी संघर्ष होने छगे, जिनमें बहुधा अनार्थ जातियों से भी सहायता छी जाती थी, पर ऐसे अवसर कम थे।

उत्तर वैदिक काळ में छोटी छोटी आर्य बातियों के मिल जाने से कुछ बड़े बड़े राज्यों की भी स्थापना हुई। परंतु इनका भी विस्तार बहुत श्रिक न था। उदाहरणार्य प्राचीन बौद्ध मंथों में विणित इ. स. पू. सातवीं सदी के १६ महाबनपदों में से भी अधिकांश आधुनिक काळ की कमिइनरियों से बड़े न थे।

अपने शासकों की शक्ति और साधन के अनुसार राज्यों का पद भी छोटा बड़ा होता था। 'स्वराट्', 'एकराट्', 'सम्राट्' और 'श्रिवराट' आदि पदिवयाँ राजाओं के विभिन्न पदों की सचक हैं, पर इनकी निश्चित मर्यादा स्थिर करना इस समय कठिन है। 'सम्राट्' आदि पदवीबारी राजा निस्संदेह अन्य राजाश्रों के कुछ उच्च स्थान पर थे। पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे सामंत राज्यों के अबिपति पद पर थे या नहीं। यह संभव है कि दुर्बल राज्य अपने से अबिक शक्तिशाली राज्यों को कुछ कर देते रहे हों।

उत्तर वैदक कारू की संस्कृति और वार्मिक यज्ञादि विधियों ने आर्थ राजाओं के सम्मुख साम्राज्य का आदर्श उपस्थित किया। राजाओं का राजा बनने के श्राकांची शासक के लिए 'श्रव्यमेध', और 'सम्राट्' पद के अभिकाषी के लिए वाजपेय' यज्ञ का विधान था। इससे राज्यों के परस्पर संबंध में अस्थिरता उत्पन्न हो गयी। कोई भी विजिगीषु राजा किसी भी समय साम्राज्य विस्तार की इच्छा से किसी भी राज्य पर चढ़ाई कर सकता था। इसके साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि इन राज्यों को पृथक करनेवाली कोई प्राकृतिक सीमाएँ न थीं जैसे कि कीशामी काशी श्रीर कोशल राज्यों में। ज्योंही इनमें से कोई अपने को शक्ति-शाली समझने लगता था त्योंही वह औरों को दबा कर अपना विस्तार करने का श्रयल करता था।

स्मृतियों का भी मत है कि जब राजा अपने राज्य को समृद्ध और सेना को बलवान देखे और राष्ट्रकी स्थित इसके विपरीत देखे तब वह उस पर वेहिचक आक्रमण कर सकता है । स्पृतियों में इस प्रकार बिना कारण पर-पीड़क युद्ध का समर्थन होते देख कुछ लोग बहुत आश्चर्य करते हैं। परं<u>त</u> यदि देखा जाय तो बास्तविकता यही है कि सारे संसार में जो भी राज्य बळवान और विस्तीर्ण बने वे अपने से दुर्बल राज्यों को दबा कर ही । और युद्ध छेड़ने का असली कारण सदा शत्रु की दुर्बलता ही रहा, भले ही इस कार्य के समर्थन में ऊँचे सिद्धांतों की दुहाई दी जाय। अकबर, शाहनहाँ और औरंगजेव आदि ने अपने ही सहधमी दिवाण के युलतानों पर आक्रमण क्यों किया ? सन १८०३ में अंगरेजों ने मराठों से युद्ध क्यों किया ? केवल इसीलिए कि वे समझते थे कि इस अपने प्रतिपद्धी से मजबूत हैं और आसानी से उसका राज्य हद्दप सकते हैं। पिछले दो विश्व युद्ध क्यों हुए ! केवळ इसीळिए कि युद्ध करनेवाले राष्ट्रों ने या तो यह समझा कि विश्व पर प्रभुख करने की आकांचा पूरी करने का यही उपयुक्त अवसर आ गया, या अपने विशाल साम्राज्य को बनाये रखने के लिए युद्ध करना ही श्रेयस्कर होगा। अतः स्मृतिकारों को ऐसी नीति के समर्थन के लिए दोष देना उचित नहीं को स्राज भी अंतर-राष्ट्रीय कगत में भतिष्ठित है।

भवश्य ही यह कहा जा सकता है कि स्मृतिकार अपने समय के समाज के सामने अधिक उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत कर सकते ये और अशोक की भांति साम्राज्य लिप्सा के कारण आकामक युद्ध त्यागने का उपदेश दे सकते थे। पर यह निश्चय करना सरल नहीं कि आकामक कौन है अर्थात लड़ाई किसने शुरू

१ मनु, ७. १७१।

की। प्रत्येक पच्च अपने कार्य के समर्थन में न्याय और आत्म रचा की दुहाई दे सकता है। युद्ध के एकदम त्याग देने की नीति कार्यान्वित करना बड़ा कठिन है, जैना कि सम्राट अशोक के इस दिशा में अन्यक्त प्रयत्नों ने सिद्ध होता है। तत्कालीन अशांतिमय वातावरण में यह आवश्यक था कि समाज में एक ऐसा शक्तिशाली वर्ग हो जो समय पड़ने पर उसकी आक्रमणों ने रच्चा कर सके। चित्रय वर्ग ऐसा ही योद्धा वर्ग था, जिसका आदर्श यह था कि 'श्रय्या पर पड़े पड़े मरना च्यिय के लिए शोर अधर्म है?'। युद्ध इसका सहन कमें था, इसे निषद्ध कर देना इनका काम छोन लेना था। अतः यदि स्मृतियाँ ऐसा आदर्श प्रतिपादित न कर सकीं जो चित्रय धर्म के विरुद्ध था और जो आज के संसार में भी व्यवहार्य नहीं तो कोई आश्रय की बात नहीं है।

फिर भी यह समझ लेना भूछ होगी कि राज्य के भीतर शांति का प्रतिपादन करनेवाले प्राचीन भारतीय मनीषी विभिन्न राज्यों में परस्पर शांतिस्थापना की ओर उदासीन रहे। लगभग स्वने महस्वाकांची राजाओं को पथा संभव युद्ध से दूर रहने और शांतिमय उपायों से ही अभीष्ट सिद्ध का यल करने का उपदेश दिया है?। उनको कथन है कि अवर्भ और अन्याय युद्ध से इस लोक में तो नाश होता ही है परलोक भी मारा जाता है । कौरवों और पाण्डवों में अंत तक समझौते की चेष्टा और पांण्डवों का पाँच गाँव लेकर ही संबुध हो जाने की तस्परता से सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में बिना विचार के ही प्राय: युद्ध नहीं छेड़ दिये जाते थे।

प्राचीन भारतीय आचार्य जानते ये कि युद्ध का एकदम स्थाग कर देना संभव नहीं, अतः युद्ध की संमावना यथा संभव कम करने के लिए उन्होंने विविध राज्यों के 'मंडक' बनाकर उनमें शक्ति सतुज्ञन कायम रखने की व्यवस्था की थी। स्मृति श्रौर नीति संथकारों की मख्यात 'मंडक' नीति शक्ति संतुलन के सिद्धान्त पर ही श्राधारित थी। इन आचार्यों ने विभिन्न राज्यों में प्रायः जो

<sup>।</sup> अधर्मः चत्रियस्येष यच्डटयामरणं भवेत् । शुक्रभ, ७, ३०५ ।

२ साम्ना दानेन भेदेन समस्तिरथवा पृथक्। विजेतुं प्रयतेतारीच युद्धेन कदाचन ॥ मनु ७, १६८ नाशो भवति युद्धेन कदाचिदुभयोरिव ॥ कामंद्रक ६, ११।

१ नाधर्मेंग महीं जेतुं किप्सेत पृथिवीपतिः। अधर्मविजयं जन्दवा को जु मन्येत सूमिपः। अधर्मेंयुक्तो विजयो सप्नुवोऽस्वार्यं एव च । स. भा. १२. ६६. १. १ ।

संबंध रह सकते हैं उन्हें समझाते हुए दुर्बल राज्यों को अपने अधिक शक्ति-शाली पड़ोसी राज्यों से सावधान रहने की सलाह दी है और इनकी विस्तार-नोति से अपनी रक्ता के हेतु अन्य समान या न्यूनाधिक बलवाले राज्यों से मैत्रो स्थापित करके एक ऐसा मंडल बनाने की सलाह दी है जिस पर आक्रमण करने का शत्रु को साहस ही न हो।

वैदिक धर्म में अश्वमेध और वाजपेय आदि यज्ञों का विधान होने के कारण आदर्शवादी राज-ीतिक विचानक भी विजय-श्रमियानों का विरोध न कर सकते थे, पर उन्होंने इसकी उप्रता कम करने की शिक्त भर चेष्टा की है। धर्म-विजयी राजाको पराजित राज्य का अपहरण करने (annexation) या उसकी शासन पद्धति में कोई हस्तच्चेप न करके केवल अपनी अधीनता स्वीकार करा के श्रीर कर लेकर हो पराभृत शत्रु को लोइ देने का छपदेश दिया गया है । प्राचीन श्राचार्यों का कथन है कि यदि पराजित राज्य का राजा युद्ध में बीर गित को प्राप्त हुआ हो, या यदि वह जीवित हो पर पराधीन होकर राज्यालढ़ न होना चाहे तो उसकी गद्दी पर कोई दूसरा राजपुत्र बिठाया जाना चाहिये यदि राज्य को मिला ही लेना पढ़े तो उसके विधि नियमों और प्रचल्ति परिपाटी की रचा की जाय और नयी प्रजा के साथ वैशा ही वर्ताव किया जाय जैसा श्रमनी मूल प्रजा के साथ किया जाता था अर्थात् नयी प्रजा को विजित मानकर श्रममर्दित न किया जायर।

इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि यह नीति साधारणतः कार्यान्वित भी की जाती थी। जातकों में ऐसे किसी युद्ध का वर्णन नहीं मिळता जिसमें विजित प्रदेश विजेता के राज्य में मिळा किया गया हो। जब कोशल का राजा काशी पर आक्रमण करता है तो काशिराज को उनका मंत्री इस प्रकार समझाता है—'महाराज डिरिये नहीं, आपका अनिष्ट न होगा, आपका राज्य बना रहेगा केवळ आपको कोशलराज की अधोनता स्वोकार करनी पड़ेगों ।

गृहीत प्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
 श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्।। रघु, ४. ४३।

२ स्थापयेत्तत्र तद्वंडयं कुर्योच समयकियाम् । मनु ७. २०२। देखिये विष्णु ३. ३०; शुक्र ४. ७. ३७३; ३९७-⊏।

३ मा भावि महाराज नास्थि ते परिपंथो तव राजं तवेव भविस्सति केवलं मनोजरंत्रो वसवती हो हि । जातक ५, पृ. ३१६, पृ. ३११ मी ।

८ वीं और ९ वीं धताब्दी के मुस्रिक्त यात्री भी दक्षिण भारत में इस प्रकार के 'वर्म विजय' देखकर बड़े प्रभावित हुए थे। सुलेमान का कथन है जब एक राजा दूसरे को पराजित करता है तो वह उसीके दंश के एक व्यक्ति को पराजित राज्य में स्थापित करता है जो विजेता के नाम पर धासन करता है। इस देश की यही प्रधा है और जनता इसे अन्यथा न होने देगी?।

विजय के बाद जीते हुए राज्य को अपने राज्य में न मिलाने की सलाह दे देना आसान है पर इसका कार्यान्वित होना कठिन है। परंतु प्राचीन भारतीय इतिहास से यही सिद्ध होता है कि श्रविकतर इसका पालन ही होता था। मीर्य साम्राज्य की आंतरिक स्थिति का हमें बहुत कम ज्ञान है पर संभावना यही ज्ञान पहती है कि मौर्य वाम्राज्य के अंदर मी राजस्थान और पंजान के शक्तिशाली गणतंत्रों की आंतरिक स्वायत्तता अद्भाण थी। ग्रप्त शामाज्य में तो खास मगव में भो ये सामंत राज्य वर्तमान थे। समुद्रगुप्त द्वारा पराजित नाग वंशीय राजगण श्रंतर्वेदी (दोशाव ) में साम्राज्य के अधिकारी के रूप में शासन कर रहे थे। इसमें संदेह नहीं कि सपुद्र गुप्त ने बहुत से राज्यों को ले भी छिया पर इनकी संख्या से उनकी संख्या अधिक है जिन्हे उनका राज्य वापस कर दिया गया और जो साम्राज्य के सामंत होकर अपने राज्य में बने रहे। हर्षवर्धन के साम्राज्य में भो अनेक सामंत या करद राज्य थे। यही स्थिति उत्तर भारत के प्रतीहार साम्राज्य की भी थी। दक्षिण के सातवाहन, चालुक्य, राष्ट्रकृट और यादव राज्यों में बहुत से स्वायत्त सामंत थे। दिग्विजय का सिद्धांत स्वीकार कर लेने पर अधिक से अधिक जो किया जा सकता या वह यही कि पराजित राज्यों की संस्कृति श्रौर श्रंतर्गत सत्ता सुरच्चित रहे । और इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन भारत में इस दिशा में बहुत हदतक सफलता भी हुई। इस सफलता का श्रेय बहुत कुछ इस बातपर भी है कि लड़नेवाले राज्यों में सांस्कृतिक और घामिक एकता थो। इन राज्यों में ऐसा कोई धर्म और संस्कृति के विभेद नो दो राष्ट्रों में द्वेष और शत्रता के भाव भरते हैं श्रौर उन्हे प्राणांतक शत्रु बनाकर एक दूसरे का आमूल नाश करने को उत्तेषित कर देते हैं, प्राचीन मारत के इन राज्यों में वर्तमान न थे। अतः पराजित राज्य को आंतरिक स्वतंत्रता देने में कोई कठिनाई न थी।

ईकियट और बाडसन, हिस्ट्री भाव, इंडिया भाग १. ए. ७ । झौर, अकाउंट आब चाइना ऐंड इंडिया. ए. ३६ ।

युद्ध के कारण साधारणतः ये होते थे; (१) साम्राज्य-पद की भाकां जा।
(२) श्रात्मरज्ञा की आवश्यकता। (३) राज्यविस्तार या सामंतों से भाषक कर की इच्छा। (४) शक्ति संतुद्धन की चेष्टा। (५) शत्रु के बावें का बददा श्रोर (६) पीड़ित अनता की रज्ञा। यही कारण सब युगों भीर देशों में युद्ध के हेतु बनते हैं। अतः प्राचीन भारत में इनके दर्शांत या उदाहरण हुँदना व्यर्थ है।

परस्पर युद्ध को अनिवार्यता देखकर प्राचीन भारतीय विचारकों ने उसकी भीषणता कम करने की यथाधक्य चेष्ठा की है और इस हेतु उन्होंने चर्मयुद्ध के बहुत ऊँचे झादर्श का प्रतिपादन किया है। पर यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि वैदिक युग में आयों और दस्युओं के युद्ध में यह आदर्श लाग् होता था या नहीं। ऋग्वेद में वर्णन है कि इंद्रने दासवर्श को पैरी तले कुचल कर गुहाओं में दक्त दिया था। संभवतः यहो व्यवहार वैदिक आप के व्यवच्हार का सचक है। वैदिक बाह्ममय में विघ से बुक्त वाणों के उपयोग का भी वर्णन है?। पर स्मृतियों ने एक स्वर से इनके प्रयोग का निषेध किया है। यहो नहीं उन्होंने यह भी कहा है कि शत्रु पर ऐसी अवस्था में कदापिन वार किया जाय जब वह सावचान न हो, पूरी तरह शक्तों से लैस या तैयार न हो या किसी भी तरह औचट या विपत्ति में हो?।

यह मान छेना अनुचित न होगा कि जब तक दोनों पर्चों में जोड़ तोड़ का मुकाबळा रहता या और पराजय के बाद राज्य अपहरण की आशंका न थी तब तक इन नियमों का वास्तव में अनुसरण होता था। मेगास्थेनीए को यह देखकर आश्चर्य हुआ था कि युद्ध काळ में मो कृषिकार्य चळता रहता था; वह ळिखता है कि 'दोनों पच्च एक दूसरे के संहार में ळीन रहते हैं पर किसानों को कोई हानि नहीं पहुँचाता।' युवानक्वांग भी यह देखकर चिकत हुए थे कि बारंबार युद्ध होते रहने पर भी देश को बहुत ही कम हानि पहुँचती थी।

अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि जबतक बर्म-विजय का आदर्श सम्भुख या और राज्य नाश की घटनाएँ बहुत कम होती थीं लढ़ाई में भी घर्मयुद्ध का आदर्श प्रवान रहता या और उदारता तथा बीरता से काम छिया जाता का पर जब साम्राज्यवाद की भावना ने जोर पकड़ा और सामंत राज्यों की दासता

१ ऋग्वेद, ७. ११७, १६; इ. ७४. १५, अथर्व, ६. ६.७।

र मन् ७. ९०।

की शृंखला करी जाने लगी तब आत्मरचा की भावना भी प्रवल हो उठी और युद्ध में उपकार पाने के लिए सभी उचित अनुचित साधन और उपाय ठीक समझे जाने लगे। कौटिल्य ने इस विषय में सटीक सलाह दी है कि जब तक अपना पलड़ा भारी रहे तब तक घर्म युद्ध के आदर्श पर चलने में हानि नहीं अन्यया जिस उपाय से सफलता मिले वहीं करना उचित है चाहे वह घर्म हो या अधर्म श्रुक का भी यहीं मत है?।

क्ट युद्ध में किसी भी:समय किसी भी स्थिति में शत्रु पर आक्रमण बायज या, शत्रु प्रदेश को तहस नहस कर हालना, वृद्धों को काटना, फसल और अन्नागार जला देना, नागरिकों को दास बनाना सब द्ध्य था। अशोक के किलंग अभियान में ऐसे कुछ अनर्थ हुए थे और ईसवी सन् के बाद के युद्धों में कभी कभी वे होते रहे हों। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि धर्म युद्ध के आदर्श पर चलने की भी चेष्टा यथाशक्य सर्वदा होती थी, और इसो का परिणाम था कि मध्ययुग तक राजपूतों में धर्म युद्ध का आदर्श जीवित रहा।

यह भी कह देना व्यस्थानीचित न होगा कि भारत के कूटयुद्ध के कांड भी प्राचीन काल के अन्य पूर्वी देशों के युद्ध की बर्वरता के सामने सौम्य प्रतीत होते हैं। किसी भी प्राचीन भारतीय नरेश ने शहुदछ के मुंडों पर भीनार बनवाने या शत्रु की खाल खिंचवाकर नगर की परिखा पर मद्वाने में श्रपनी बहादुरी नहीं समझी जैसी कि तृतीय श्रुटमोजेस और असुरबनपाल ने समझो थी।

शत्रुको प्राण दान या अभय दान की भी निश्चित परिपाटो थी। शस्त्र रख देने या शरण में आने पर पराष्ट्रित शत्रु पर हाथ उठाना निषद्ध था, धायळ या भागते हुए शत्रुपर भी वार करना मना था। श्रायळ युद्ध बंदियों की चिकित्सा कराना भी श्रावस्यक था। साधारणतः युद्ध बंदियों को दास बनाया था वेचा भी न जाता था<sup>3</sup> बल्कि युद्ध समाप्त होने पर घर कौटने की श्रामुनित दे दी जाती थीं



चलविशिष्टः प्रकाशयुद्ध सुपेवात् । विषयंये शकरयुद्ध स् । अर्थ. १० आध्याय ३

र धर्मयुद्धैः कृटयुद्धैर्हन्यादेव विषु सदा । १-३१० ।

र उजेर छान। मदोषः प्रजां विकेतुमाद्यातं वा । अर्थं. भा. २. १३। नारद ने युद्ध में बंदी किये गये दास का डक्लेख किया है, पर ऐसे व्यक्ति किसी को अपने बदले में देकर अपनी मुक्ति करा सकते थे।

८ असि पुराग, अध्याय २४०।

899

युद्ध में बीते हुए मारू के बारे में भी निश्चित नियम थे। पराजित शत्र के कोष, संपत्ति, शस्त्रास्त, अन आदि पर विजेता का श्रिषिकार था । विजित देश के नागरिकों की स्थावर संपत्ति का भी श्रस्थायी तौर पर ग्रहण और उपयोग किया जा सकता था।

परस्पर युद्धरत देशों में कैंडा व्यवहार रहता था इसका हम लोगों को शान नहीं है। चुँकि शांतिकाल में भी विदेशियों को किसी राज्य में जाने के लिए प्रवेश-पत्र लेने को आवश्यकता पहतो थी इससे अनुमान किया जा सकता है कि युद्ध काल में दोनें। देशों के बीच यातयात बिलकुत बंद कर दिया जाता रहा होगा। युद्धरत राज्य इस बात की अवश्य व्यवस्था करते रहे होंगे कि उनके देश से शत्रु देश, में ऐसी कोई सामग्री न जाने पाने जिससे उसकी शक्ति वृद्धि हो। पर जब सीमाएँ दूर तक फ़ैडी होती भी और शासन प्रवंश दोला रहता था तो दोनें। श्रीर से चोरी चोरी काफी व्यापार चहता रहा होगा। समुद्र मार्ग से भी शत्रु देश के अवरोध की व्यवस्था और शत्र पोतां को पनदने की परिपाटी थी या नहीं यह ज्ञात नहीं।

्रिज़ब हमें इस पर विचार करना है कि शांति काळ में दो स्वतंत्र राज्यें। में क्या संबंध रहता था। यह निश्चित मालम नहीं कि प्राचीन भारत में स्थायी दूतावाहीं की परिपाटी थी या नहीं । मेगास्थेनीस चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहता था श्रीर डायमेकस बिंदुसार के री बहुत संगव है कि मीर्य सम्राटें की भीर से भी सेल्युकवंशीय राजाओं की राजधानियों में दूत भेजे गये हैं। खासकर जब कि धम प्रचार के लिए बौद भिन्नुओं के दल वहाँ भेज गये थे। (पर यह विदित नहीं कि मौर्य दरबार में यूनानी दूत स्थायो रूप से रखे गये थे या कुछ वर्षों के लिए ही।) तिच्छिला के यूनानी नरेख अंतिकिकित ( एंटिग्रलकाइडम ) का दूत हैलियोदारस राजधानी विदिशा में शुंगवंशी भागभद्र राजा के दरबार में रहता था पर यह भी संभव है कि वह किसी विशेष प्रयोजन से थोड़े समय के लिए ही मेजा गया हो। ेछनृद्रगुप्त की राजसमा में विंहल राजा के दूत और चालुक्यराज पुलकेशो के दरबार में (६३० ई०) ईशन से दूत आये थे, पर वे विशेष कार्य है ही भेजे गये थे (चीन और रोम में प्राचीन भारत है को दूत भेजे गये थे वे भी आजकल के सदरावना मंडल की ही आँति थे। जनका कार्य उन नरेशों को अपनी देश की ओर से उपहार मेंट करना और

१ मनु, ७. ६६-६७, श्रुक्त ४. ७. ३८६।

970

उनसे न्यापार की सुविधाएँ प्राप्त करना था। यूरोप में भी स्वायी दूतावास रखने को परिपाटी मध्ययुग में हो कायम हुई।) संस्कृत के 'दूत' शब्द का अभिषेय अर्थ भी संदेशवाहक या वार्तीहर ही है और इससे यही संकेत मिलता है कि वह किसी विशेष कार्य वा प्रयोजन से ही भेजा जाता था। अर्थशास्त्र में (भाग १ अध्याय १६) दूत के आचरण संबंधी जो निर्देश दिये गये है उनसे यही प्रकट होता है कि उसे उसी समय तक विदेशी राज-वानी में रहना होता था जब तक अंगीकृत अयोजन की सिद्धि की कुछ आशा हो, अन्यथा तरकाल लौट आना पड़ता था।)

विदेशों में भेजे जानेवाले दूत तीन श्रेणी के होते थे। 'निस्पृष्टार्थ' दूत वह था जिसे अपने राज्य की ओरसे सब विवादभूत बाते तय करने का पूर्ण श्रिषकार प्राप्त था, 'परिमितार्थ' दूत दिये गये निर्देश से बाहर न जा सकता था और 'श्रासनहर' दूत केवल अपने राज्य की ओरसे संदेश भर दे देता था और जवाब ले आता था, जातचीत का उसे अधिकार ही न था'। श्राजकल की मांति प्राचीन कालमें भी दूत अधिकृत और प्रकाश्य रूप से मेदिये का कार्य करता था। उसका काम विदेशो राजपुरुषों से जान पहिचान करके उस देश की बास्तविक राज्यनीति की जानकारी प्राप्त करना था। राज्य की साधारण रियति का ज्ञान प्राप्त करना, उसके जन, बल और साधारों का ठीक ठीक अनुमान करना और अपने गुप्तचरों द्वारा उसके दुर्ग श्रीर सेना का प्रामाखिक विवरण प्राप्त करना, यह सब भी उसका काम था। यह सब विवरण वह 'गूढ़ लेख' ( संकेत लिप ) द्वारा अपनी सरकार को भेजता था ।

(आधुनिक काल की मांति प्राचीन काल में भी दूत अवध्य था। रामायण में कहा गया है दूत केवल संदेश वाहक हैं, अपने स्वामी की ही बात वह कहता है अतः वह बात कह और श्रोध-जनक भी हो तो भी दूत पर कुछ शासन नहीं करना चाहिये 3)। महाभारत में कहा गया है कि दूत का हंता राजा अपने सचिवों के समेत नरकगामी होता है ४। युद्ध छिड़ जाने पर भी दूत और उसके साथी अवध्य है 4, पर यदि वह अनुचित आचरण करे तो उसे विरूप करके

१ अर्थशास्त्र भाग १ अध्याय १६ ।

२ वही।

३ ज्ञुबन्परार्थं परवान्त दृतो बचमईति ।

४ दूतस्य हंता निरयमाविशेःसचिवैः सह ॥ १०, ८४. २६

५ नीति प्रकाश ७-६४।

या उसे लोहे से दागकर निकाला जा सकता था जैसा रावण ने मारुति के साथ किया था।

्दूतों के न रहने पर भी गुप्तचर इसी प्रकार के भेदों की टोह में बराबर काम किया करते थे ) वि'लोग छात्रों, सन्यासियों, व्यापारियों त्रादि के विविध छद्म वेशों में रहते थे । विश्याओं और नर्तिकयों से भी बहुचा गुप्तचरों का काम लिया जाता था, कभी कभी राजमहरू में ये तांबूल या छत्र वाहिकाओं का पद भी प्राप्त कर लेती थीं, ताकि राजा के समीप रहकर सरकार को अंतरंग गति-विधि का भेद लेने का अवसर मिले।

शांतिकाल में राज्यों में आवागमन पर ककावट न रहती थी। प्रवेश पत्रों की आवश्यकता पहती थी, पर इसके सिवा अन्य किसी प्रकार की रोक टोक न थी। व्यापार के कार्य से बराबर आने जाने वाले व्यापारियों को भी प्रत्येक बार आने के लिए प्रवेश-पत्र लेने की जरूरत नहीं थी। संदिग्ध व्यक्ति संदरगाहों में ही गिरफ्तार कर लिये जाते थे और आगे न जाने पाते थे । विदेशियों की गतिविधि। पर कही नजर रखी जाती थी कि कहीं वे भेदियों का काम न करते हों विशापिक सामग्री के आयात निर्यात पर भी रोक टोक न थी, अवश्य ही निर्धारित शुल्क देना पहता था।

यात्रा के सिलिसिले में जहाज या पोत जब जब किसी बंदरगाह या पत्तन पर ठहरते थे उन्हें पत्तन शुलक देना पहता था। ख्तिप्रस्त होनेपर उन्हें मरम्मत की पूरी सुविधा दी जाती थी और उनको सन्य आवश्यकताएँ भी पूरी की जाती थीं?।

### सामंत राज्यों से संबंध

(प्राचीन मारत में कामंत या श्रर्घ स्वतंत्र राज्यों की संख्या बहुत थी।) यह दिखाया बा जुका है कि विजेता से यह श्राधा की जाती थी कि पर जित राज्य का अस्तिस्व नष्ट न करके अपने आधिपत्य में उसकी स्वायत्त सत्ता कायम रहने है। इससे सामंत राज्यों की संख्या काफी हो जाती थी। जिब प्रांतीय धासक या स्वेदार आनुवंधिक होने लगे और महाराज, सामंत, महासामंत और मंडलेश्वर श्रादि पदिवयाँ धारण करने लगे तब ये भी सामंत राज्यों की श्रेणी में श्रा गये और इनकी संख्या में और दृद्धि हुई।) द्विण के यादवों या चाछ्रस्यों के राज्य

९ अर्थशास्त्र, माग २, अध्याय २८।

२ वही।

में तो यह जानना कठिन था कि महामंडदेश्वर उपाधिधारी व्यक्ति सामंत है या सामंत उपाधिधारो सुवेदार । पराजित राजाओं को प्रांतोय शासकों के पदपर नियुक्त करने की प्रथा से यह गड़बड़ो और भी बढ़ जाती थो।

वर्तमान भारत के हैदराबाद वरोदा, कोल्हापुर, आदि कुछ बहे शमंत राज्य के भी अपने सामंत राज्य हैं; भारत में प्राचीन काल में भी ऐसी ही स्थिति थी। अदाहरणार्थ, पाँचवा सदी में एरण के राजा मातृ वण्णु सुरिश्म चंद्र के समंत थे, जो स्वयं समाट् बुधगुत का सामंत था । (सन् ८१३ ई॰ में तृतीय गोविंद राष्ट्रकृट समाट् थे, उनका मतीजा तृतीय करके उनके सामंत के रूप में दिल्ली गुजरात पर शासन कर रहा था, और उसके भी सामंत के रूप में साछिकक वंद्य का श्रीबुचवर्ष सिहरिका १२ पर शासन कर रहा था; उसे इस पद पर कक्ष के छोटे माई ने मतिष्ठित किया था । अस्तु यह स्पष्ट है कि सामंत राजा भी संभवतः सम्राट् की अनुमति बेकर अपने उपसामंत बना सकते थे।

( अतएव सामंतों पद और अधिकार एक समान न रहते थे, मैंसेसा कि आज के भारतीय राज्यों की स्थिति है। (प्रमुख सामंतों को सिंहासन पर बैठने, छत्र चामर भारण करने और शिकिका (पाळकों) तथा हाथो पर चढ़ने का श्रिकार रहता था।) (उन्हें अपनी सवारी के समय खंग, शंख, भेरी, जयघण्टा और रमट आदि पाँचो बाजों को बनवाने का भी अधिकार प्राप्त था। यह श्रिकार सम्राट् श्राष्ट्रनिक तोपों को सल्लामों को तरह बहुत बोहे व्यक्तियों को ही देते थे। महाराज, सामंत, महा सामंत, मण्डलेश्वर आदि हनके बिहद थे।)

सामंतों के दरबार में सम्राट् को हित रच्चा के लिए और सामंतों के नियंत्रग के लिए सम्राट् को ओर से प्रतिनिधि रहा करते थे। आवकल के रेजिंडेंटों और पोलिटिकल एजेंटों की भांति इन्हें भी सामंत राज्यों के साधारण निरीचण और नियंत्रण का अधिकार था। सुलेमान सौदागर के कथनानुसार सामंत राजा इन प्रतिनिधियों की अगवानी सम्राटोचित सम्मान से ही करते थे। ये प्रतिनिधि ग्रसचरों द्वारा बराबर इसकी खबर रखते थे कि कही सामंत राजा बिद्रोह को तो नीयत नहीं रखता। सामंत राजा भी सम्राट के दरबार की गतिविधि पर ध्यान

१ मध्य भा, छे, ३. पृ. ८९।

२ एपि. इंडि. ३ ए. १३।

रखने के लिए श्रापने प्रतिनिधि वहाँ रखते थे। उदाहरणार्थ, बनवासी के सामंत शासक बंगेय ने राष्ट्रकूट सम्राट् तृतीय श्रमोधवर्ष (=५० ई०) के १ दरबार में गणपति नामक व्यक्ति को अपने प्रतिनिधि रूप में रखा था।

( सामंत राज्य पर सम्राट्का नियंत्रण सामंत के पद और सम्राट्की सामर्थ्य के अनुसार होता था। सम्राट् की आज्ञाओं का पालन सामंत का कर्तव्य था। सामंत के दानपत्री, और शासनों (फर्मान) में सम्राट का नाम सर्वे प्रथम देना जरूरी या । उन्हें प्रायः अपने सिन्के चलाने का भी अधिकार न था। सम्राट् के दरबार में सामंतें की उपस्थित केवल उत्सव श्रीर राज्या-मिषेक ब्रादि अवसरीं पर ही नहीं, वरन् थोड़े थोड़े समय के अंतर पर भी वांछित थी । अतएव शिलालेखों में अनेक जगह सम्राटों के दरवार के वर्णन में अनेक सामतों की उपरिथति के उल्लेख मिळते हैं। (सम्राट् को नियमित कर देना भी जरूरी था, या तो यह कर सम्राट् के दरबार में भेज दिया जाता था या सम्राट् अपनी यात्रा में इसे वस्ल करते थे? । सम्राट् के यहाँ पुत्रजनम और विवाह आदि अवशरों पर भी सागंतो से उपायन ( भेंट ) की आशा की जाती थी। सम्राट्को इच्छा होने पर सामतीं को अपनी कन्याएँ उनते व्याहनी पढ़ती थीं।) गुप्त साम्राज्य में पराजित राजा बन सामंत पद स्वीकार करते थे तो उन्हें कुछ इकरार करना पड़ता या और सम्राट उन्हें अपने फर्मान ( शासन ) द्वारा पुनः अपने राज्य में प्रतिष्ठित करते थे। इस शासन में इन शहीं का भी उल्लेख रहता या जिन पर राज्य वापस किया जाता था<sup>3</sup> । श्रन्य साम्राज्यों में भी ऐसा होता या या नहीं, हमें शात नहीं।

् मध्यकालीन यूरोप की भांति प्राचीन भारत में भी सामंतों को सम्राट् के सहायतार्थ निर्धारित संख्या में सैनिक मेजने पड़ते थे। किलचुरि राजा सोद्देव (८१० ई०) अपने सम्राट् मिहिरभोज के बंगाल अभियान में सम्मिलित हुआ था । दिख्ण कर्नाटक का नरसिंह चालुक्य (६११ ई०) अपने सम्राट् राष्ट्रक्ट तृतीय इंद्र की त्रोर से प्रतिहार सम्राट् महीपाल के विरुद्ध युक्त प्रांत में जाकर लड़ा था ।

१ पृषि इं. ६, पृ. ३३।

२ इंडि. वेंटि. ११. पू. १२६

३ समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति।

८ प्पि. इहि, १२, पृ० १०१।

५ राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ. १६५ !

ह वी शताब्दी में वेंगों के चालुक्यों को मैसूर के गंगों के विरुद्ध राष्ट्रकूटों की सहायता करनी पड़ती थी। गंग राबाओं के सामंत नागरस को अपने सम्राट्की आज्ञा से अय्यपदेव और वीरमहेंद्र के संवर्ष में १० वीं हदों में भाग केना पड़ा और अपने प्राण भी देने पड़े?। उपर्युक्त घटनाओं के अतिरिक्त इस प्रकार के और भी बहुत उदाहरण हैं।

परिस्थित के अनुसार सामंतों की अपनी आंतरिक स्वायत्तना में भी श्रांतर होता था। (बड़े बड़े सामंतों को पर्याप्त अधिकार रहते थे, कैसे गुप्त साम्राज्य में उच्छकल्प और परिवाजक राजाओं को, राष्ट्रकूट राज्य में गुजरात के सामंतों को और चाछुक्य तथा यादव राज्य में शिहाहार वंशी सामंत राजाओं को थे। उच्छकल्प वंशी सामतों की भाँति कुछ तो अपने दानपत्रों में अपने समार्ट्य का उल्लेख भी नहीं करते, पर इसे श्रपवाद समझना चाहिये। श्रिचपात को कर देने के प्रल स्वरूप उन्हें पूर्ण आंतरिक स्वायत्त अधिकार प्राप्त हो जाते थे। वे श्रपने उपसामंत बना सकते थे और अपने कर्मचारियों की स्वयं नियुक्ति करते थे। बिना समार्ट्य पूछे वे जागीर दे सकते थे, गाँव दे सकते थे और बच भी सकते थे?।

हत्त समंत सम्राट् को दान कितनी कम मानते थे इसका पता नाझणानाद् (सिंघ) के लोहार सरदार अक्खम के राजा छछ को लिखे पत्र से चलता है। छछ ने उसे अपना आधिपत्य स्वीकार करने को लिखा था इसके उत्तर में अक्खम ने लिखा—मैंने कभी आपका निरोध या आपसे झगड़ा नहीं किया। आपका मैत्री पूर्ण पत्र मिला, मैं उससे गौरनान्तित हुआ हूँ। हमारी मैत्री कायम रहेगी और हम में कोई शत्रुता न होगी। मैं आपके आदेशों का पालन कहाँ ग। आप बाझणानाद के इलाके में नहीं चाहें स्वच्छंदता से रह सकते हैं। यदि आप किसो अन्य दिशा में जाना चाहते हैं तो आपको रोकने या छेड़ने-बाला कोई नहीं। मेरा हतना प्रमात अर्थ शक्ति है जिससे आपको मदद मिल सकती है3।

्छोटे सामंतों को स्वभावतः इससे बहुत कम स्वतंत्रता थी। वाकाटकों के सामंत नारायण महाराज श्रीर शश्रुत्र महाराज, वैन्यगुप्त के सामंत रहट,

१ राष्ट्रकूटों का इतिहास,

२ इंडि. पेंटि. १२ ए. १३६; एपि. इं. ३, ए. २१०। ४२७६एप और परित्राजक शासनों में साधारयातः अधिपति का नाम न रहता था।

३ इतियर, १ ए० १४६

भौर कदम्बां के सामंत भानुशक्ति आदि को अपने ही राज्य के कुछ प्रामां की मानगुबारी दान करते समय अपने सम्राटों की अनुमति लेनी पद्दी थी १। राष्ट्रकृट सम्राट् तृतीय गोविंद का समंत बुधवर्ष शनिकी दशा निवारणार्थ एक गाँव दान देना चाहता था, इसके विष्ट ससे समाट् से अनुमित माँगनी पद्दी । राष्ट्रकृट प्रुव के सामंत शंकरगण को भी एक गाँव दान करने के लिए सम्राट् की अनुमित लेनी पद्दी था ३। कदंब सम्राट् भी अपने सामंतों पर इसी प्रकार नियंत्रण रखते थे।) गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य के काठियावाद जैसे दूरस्थ प्रदेशों के सामंतों को भी गाँव आदि दान देने के लिए अबिपति की अनुमित लेनी आवश्यक थी और यह अनुमित साधारणतः उनके यहाँ रहने वाले सम्राट् के प्रतिनिधि दिया करते थे, जो बहुधा सम्राट् की ओर से ताम्रपत्रों पर इस्ताच्चर करते पाये जाते हैं । ११ वीं शताब्दि में परमार राज्य में और ७ वीं शताब्दी में करमीर में भी यहां प्रथा प्रचलित थीं।

(निक्कष्ट श्रेणी के सामंतों पर तो सम्राट् का नियंत्रण व हस्तत्त्वेप और मी अधिक रहता था। इनके सम्राट् और उनके मंत्री भी इनको रियासतों के गाँव दान कर दिया करते थे।) उदाहरणाथ राष्ट्रक्ट द्वितीय कृष्ण ने अपने सामंत चंद्रग्रस के राज्य का एक गाँव दान दे डाला था । चालु स्य सम्राट् सोमेश्वर के प्रधान मंत्री के आदेश से उसके एक सामंत को किसी कार्य के लिए ५ स्वर्ण सुद्राएँ दान में देनी पड़ी थी । परमार राजा नरवर्मा ने अपने सामंत राज्यदेव के एक गाँव की २० 'हल' जमीन किसी व्यक्ति को दान दो ।

१ कॉ. इ. इ., १ पृ० २३६. इंडि. हिस्टा. स्वा. ६, पृ० ४३, इंडि. ऐंटि. ६ पृ० ३१-२।

२ इंडि, ऐटि. १२ पृ० १५।

३ एपि. इंडि. ९, पृ० १६५।

८ पृषि. इंडि. १ पृ० ६।

भू ज, प्. सा. वं. ७ पृ० ७३६- ह

६ इंडि. एंटि, १३ पु० ६८।

७ एवि. इंडि. १ प० द९।

८ इंडि. पृंटि. १ पृ १८१।

९ प्रोप्नेस रिपोर्ट, अ. स. वे. इं., पु॰ ५४; मांडारकर सूची पु॰ १८०।

परमार नरेश जयवर्मा के आदेश से उसका सामंत गंगदेव भूमिदान करता पाया जाता है ।

विद्रोही सामंतों को पराजित होने पर बड़ी लांछनाएँ सहनी पड़ती थीं।
गुजरात के कुमारपाल (१११० ई) ने अपने सामंत विक्रमसिंह को हराकर
उसे अपदस्य कर उसके स्थान पर उसके भतीजे को प्रतिष्ठित किया थारे।
कभी कभी इससे भी श्रिषक लांछना मुगतनी पड़ती थी; कभी कभी उनसे
विजेता के अश्वशाला हस्तिशाला में झाड़ दिलवायो जातो थी । राजद्रोह के दंड
में उनका कीष, घोड़े और हाबी जत कर लिये जाते थे। कभी कभी उनके
राज्य भी जस कर लिये जाते थे या थोड़े दिनों के लिए शासन प्रबंध उनके
हाथ से छोन लिया जाता था।

केंद्रीय सत्ता कमजोर पह जाने पर सामंत गण प्रायः स्वतंत्र हो जाते थे। गर्बर प्रतीहार साम्राज्य की अवनित के समय उसके अनेक सामंतो ने 'महाराजा-घिराज परमेश्वर' आदि सम्राटोचित उपाधियाँ धारण कर को शीर । सामंत लोग अपने शासनों में (फर्मानों ) में अधिपति का नाम देना बंद कर देते थे या देते भी थे तो याँ ही उल्लेख कर देते थे। कर भी नियमित रूप से देना बंद हो जाता था। अबिपति की शक्ति कम हो जाने पर जब उसे युद्ध में सामंती की मदद की आवश्यकता होती थी तो सामंत सहायता के बदले अपनी मनमानी शर्तें लगाते थे। उदाहरणार्थ बंगाड के राजा रामपाड को अपने शामंतों को धैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए, बहुत अधिक अधिकार छोड़ने पड़े थे। सम्राट् अधिपति के उत्तराधिकारियों में राजसिंहासन के लिए संघर्ष होने पर तो सामंतों की श्रीर बन जाती थी, वे प्रतिद्वंद्वियों का पन्न ग्रहण करके अपने पसंद के आदमी को सिंहासन पर बिठाने की कोशिश करते थे, और नये राजा से मनमाने अधिकार प्राप्त करके वे अपनी पुरानी पराजयों को घोने का प्रयत करते थे। नया सम्राट् राजा भी इस हियति में न रहता था कि अपने गद्दी दिलानेवाकों की बातें मानने से इनकार कर सके। यदि उत्तरा-विकारी बहुत हो कमजोर होता या, तो सामंत स्वयं सम्राट पद प्राप्त करने के छिए लड़ना शह कर देते थे। चालुक्य साम्राज्य के पतन पर यादवी, कड़-

९ एपि. इंडि. १ पृ० १२०-३। २ कुमारपाल प्रवंध पृ० ४२।

३ एति. इंडि. १८ पृ. २४८।

४ पुषि. इंडि. १ पृ. १६३; ३ पृ. २६१-७।

चुरियों त्रौर होयलालों में दिख्ण के आधिपत्य के लिए १२ वीं सदी में गहरी होड़ लगी जिलमें यादवों को सफलता मिली। इसी प्रकार के दश्य प्रत्येक साम्राज्य के पतन के समय देखने में आते थे।

पराजित राजाओं को राज्यब्युत न करने की नीति से अवश्य ही चिरागत स्वार्थों और स्थानीय स्वतंत्रता को रचा होती थी। परंतु इससे राज्य ब्यवस्था में स्थायो अशांति और अस्थिरता के बीज पढ़ जाते थे। निसर्गत: सामंत राजा सम्राट् के जुए को अपने कंघो से उतारफेकने की ताकमें रहते थे, और प्रमु शिक्त को सदा उनकी गतिविधि पर कड़ी नजर रखनो पहती थी। सामंत राज्यों की सैनिक शक्ति नष्ट नहीं की जा सकती थी क्यों कि अधिपति को उसकी आवश्यकता पड़ती थी। प्रमु शक्ति और सामंत का संबंध बहुचा सशस्त्र तटस्थता (armed neutrality) का सा रहता था। अधिपति अपनी प्रमुखता तभी तक कायम रख सकता था, जब तक बहु अपने सामंतों को एक दूसरे के मुकाबळे रखकर उनकी शक्ति संदुद्धित रखकर सबको अपने वश्च में रख सके। इस स्थायी अशांति और अस्थिरता के परिणामों पर अगळे अध्याय में विचार किया जायगा।

# १४ वाँ अध्याय

## सिंहावलोकन और गुण-दोष-विवेचन

पिछले १६ अध्यायों में इमने राज्य और उसका स्वरूप ध्येय तथा कार्यों के विषय में प्राचीन भारतीयों के विचारों, ग्राद्यों और शासन की विभिन्न शासाओं का वर्णन किया है। शासन के विषय का विचार करते समय इमने शासन यंत्र के विभिन्न पुनों, राजा, श्रमात्य, केंद्रीय शासन कार्या जय, भादि पर अलग अलग विचार किया और उनके विशेष स्वरूप तथा प्रत्येक युग में उनके इतिहास की समीचा की। इससे पाठकों को विभिन्न शासन संस्थाओं और पदों की उत्पत्ति श्रीर विकास का कम समभने में सुगमता हुआ होगी। परंतु यह भी श्रावश्यक है कि पाठक के सम्मुख विभिन्न युगों की शासन व्यवस्था का मुख्य विशेषताओं को ध्यान में रख सके। अतः इस अंतिम श्रध्याय में पहले एक एक युग की शासन व्यवस्था की साधारण समीचा की जायगी।

बीते युगों के बध्ययन का अपना हो आकर्षण और महत्व है। पर यह वर्तमान की समस्याएँ सुलझाने में भी सहायक हो सकती है। अतएव इस अध्याय के दूसरे भाग में इम प्राचीन भारत के राजनीतिक चितन और शासन-त्यवस्था की साधारण समीचा या मूल्याँकन करेंगे और निःपच माव से उनके गुण दोष का विवेचन करेंगे। प्राचीन भारतीय राज्य तंत्र के गुणों को समझ कर इम वर्तमान काल में भी उन्हें प्रहण कर सकते हैं, और दोष पहचान कर नया विधान बनाने में उनसे बच सकते हैं।

### सिंहावलोकन

्राचीन भारत की जाति, विवाह, श्राश्रम आदि संस्था श्रौर प्रथाओं के विकास क्रम के अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है पर राज्यतंत्र श्रौर शासन व्यवस्था के विषय में यह बात नहीं है। वैदिक काल की शासन पद्धति की साधारण रूपरेखा तो खींची जा सकती है पर अगले एक हजार वर्षों में इसके विकास का कम हमारी आँखों से ओझल हो जाता है। फिर पर्दा उठने

पर मौर्यं साम्राज्य के पूर्णं विकस्ति शासन तंत्र का दर्शन होता है जो केवल राज्य के आवश्यक ही नहीं वरन अनेक लोकहितकारी कर्तव्यों का भी संपादन कर रहा था। बैदिक काल का राज्यतंत्र, जो केवल थोड़े से आवश्यक कार्यों का ही संपादन करता था, विकसित होकर कैसे इतने कार्य करने लगा यह एक भकार से अज्ञात ही है। मौर्यं साम्राज्य को शासन पद्दित बाद के लिए भी एक भकार से कदि हो गयी और इसमें अधिक परिवर्तन या विकास नहीं दिखायो देता।

#### वैदिक काल में राज्य और शासन-पद्धति

(वैदिक काल का राज्य प्राचीन यूनान के नगर राज्यों की भांति छोटा होता या, उसका विस्तार आजकल के एक जिले से प्रायः अधिक न था। श्रिकांश राज्यों की उत्पत्ति भी एक विशेष जन या कवीले से संबद्ध थो, राज्य के नागरिक अपने को यहु, पुरु, तुर्वेशु जैसे किसी पौराणिक पुरुष की संतान समझते थे। शासक वर्ग में विभिन्न कुलों के ग्रहपति ही संभित्तित थे। कई कुटुंबों को मिला कर 'विश्' की रचना होती थी, जिसका अध्यद्ध 'विश्पति' होता था, कई 'विशों' को मिलाकर 'जन' को रचना होतो थी जिसका प्रधान जनपति या राजा होता था। प्राचीन यूनान की भांति यहाँ भी राजा का पद अभीरों या सरदारों के मंडल के प्रधान का था। अतः उसके अधिकार भी सीमित थे और वह देवोपम भी न माना जाता था। वैदिक काल के श्रांतिम चरण में राजा के कार्यों की तुलना इंद्रादि देवताओं से होने लगी और उसको दिन्यता के सिद्धांत का बीजारोपण हुआ।

(कालकम से राज्यों का विस्तार और राजा के अधिकार भी बढ़ने लगे।)
किंद्ध शताब्दियों तक समिति जैसी लोकसभा का पूरा नियंत्रण राजा पर काकम रहा। (समिति से विरोध राजा के लिए सबसे बड़ी विपत्ति समझी जाती थी। समिति में संमवतः विश्वपति और एहपति रहते थे। निस्य के शासन कार्य में रिलियों की समिति राजा को सहायता देती थी, इसमें उसके रिश्तेदार, दरवारी, और प्रमुख विभागों के अध्यक रहते थे। इस युग के प्रमुख अधिकारियों में सेनापति, संग्रहीता, सन्विधाता और प्रामणी आदि का उल्लेख होता था। यह स्पष्ट है कि सरकार का मुख्य कार्य भीतरी और बाहरी शत्रुओं और उपद्रवों से राज्य को रचा करना था, और इसके लिए आवश्यक कर वस्त किया जाता था। आरंभ में कर यदा कदा और स्वेच्छा से दिये जाते थे पर कालंतर में अनिवार्य हो गये। वैदिककाल के परवर्ती माग में हो सरकार ने गंभीर

झगड़ों के निपटारे के काम लिया; इसके पूर्व सब झगड़े आम सभा द्वारा ही निपटाये बाते थे /

्बेदिक राज्यों के छोटे होने के कारण इस युग में प्रांतीय या प्रादेशिक शासन का प्रारंभ भी नहीं दिखाई देता है। प्रामणी का (मुखिया) राजा और उसकी रिक-परिषद से सीवा संबंध था। कालकम से राज्यों का विस्तार बढ़ा।/ राज्य-संख बनाने की प्रवृत्ति भी लिखा होती है, कुठ और पांचालों के मिलकर एक राज्य बनाने का उदाहरण हमारे संमुख है। ब्राह्मण ग्रंथों में समूद् और सामूज्य का भी उल्लेख मिलता है। (पर ये सामूज्य भी शायद ही आधुनिक कमिहनरियों से बड़े रहे हों। पर इनके विकास से जन राज्यों (Tribal states) का अंत हो गया। १००० ई० पू० से सर्वत्र प्रादेशिक राज्यों का ही चलन हुआ।)

श्राह्मण युग के बड़े राज्यों में (ई० पू० १०००) अवश्य ही जिलों की शासन पद्धति का विकास हुन्ना होगा पर इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। न केंद्रीय शासनालय का ही कहीं वर्णन है। उस समय लिपि या लेखन कला का अधिक प्रचार नहीं था और राजा अपने छोटे राज्यों की प्रजा से स्वयं प्राम प्राम घूमकर या संदेशवाहकों द्वारा संपर्क स्थापित करते थे।)

राज्य के लक्ष्य और आदर्शों के विषय में भी नियमित विचार या चर्चा वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलती। पर(स्फुट उल्लेखों से ज्ञात होता है कि वरण की मांति आदर्श राजा से भी घतत्रत, (नियमों का पालक) होने की आशा को जातो थी। अपनी प्रजा की नैतिक और भौतिक उन्नित की चेष्टा करना भी उसका कर्तव्य था।)

(वैदिक काळ में नृपतंत्र सर्वाधिक प्रचलित था, पर इसके साथ साथ गण-राज्य (Republics) भी वर्तमान थे। वे वैराज्य (राजा रहित) कहे जाते थे, इनकी लोकसभा में संभवतः विश्पति और ग्रहपति रहते जो अपना अध्यक्ष जुनते थे। जब ग्रध्यक्ष पद अनुवंशक हो जीता था तब राज्य नृपतंत्र में परिवर्तित हो जाता था; जब तक यह पद निर्वाचित रहता था, गणराज्य का अस्तित्व बना रहता था।)

् ई. प् ६००-३५० के बीच मगध और कीशळ ये दो राज्य काफी विस्तृत हो गये थे,)पर इनकी शासन पद्धति का अधिक विवरण नहीं मिलता । राजा शासन तत्र का प्रधान था, उसकी सहायता के लिए मंत्री रहते थे। बिला और प्रांत के शासन का मली-मांति विकास न हो पाया था,)क्योंकि मगधराबा बिंबिसारने एक समय ८० हजार प्रामों के मुिलयों का संमेलन किया या, न विषयाविपतियों का या पथकाविपतियों का । (पर नंद राज्य में महामात्रों को सहायता से प्रांताय शासन पद्धित का निर्माण आरंभ हुआ। मौर्थ राज्य में इन महामात्रों का पद श्रीर भी महस्वपूर्ण हुशा।)

### मौर्य युग

(मीर्य काळ का राज्य और शासन पद्धति वैदिक काळते बहुत उनत है। हमारे सम्मुख एक सुसंगठित साम्राज्य की पूर्ण किलासित शासन पद्धति उपस्थित होती है जिसमें प्रांत, जिला, नगर और ग्राम की सरकारें अपने अपने द्वेत्र में काम करती दिखायी देती है। राजा का पद अनुवंशक हो जाता है और वह सेना, शासन, न्याय आदि राज्य के सब विभागों का स्वेंस्वां हो जाता है। वह विज्ञि-नियम बनाने के अधिकारों का भी दावा करता है और उसके शासन तथा सोषणाओं को कानून का।दर्जा मिलता है। वेदिक काल की समिति के तिरोधान से राजा के अधिकारों में और भी वृद्धि हो गयी। राज्यों के अधिक विस्तृत हो जाने के कारण और यातायात की कठिनाई के कारण समिति के नियमित रूप से एकत्र होने में कठिनाई होने लगी, इससे भी मीमें उत्तर बदिक युग में समिति का तिरोधान हो गया और मौर्य काल या उसके बाद के किसी लेख में इसका उल्लेख नहीं मिळता। बैसा कि सप्तम अध्याय में दिखाया बा जुका है यह मत ठीक नहीं है कि समिति के स्थान पर पौरजानपद संस्थाओं की प्रतिष्ठा इस युग में हुई।

(बैदिक काळीन रितयों श्रयका राजा के परामर्श दाताश्रों की सिमित का इस युग में विकास और शक्ति बृद्धि हुई। अब इसने नियमित मंत्रि परिषद का रूप घारण कर लिया और इसमें राजा के रिश्तेदारों श्रीर चापळूनों को स्थान न रहा। सिमिति के न रहने के कारण मित्रपरिषद् वैधानिक दृष्टि से राजा के प्रति ही उत्तरदायी रही यद्यपि लोकमत का भी इस पर बहुत श्रभाव था।

(मौर्य कालीन शासन में सबसे उल्लेखनीय परिवर्तन सरकारी कार्यों के विस्तार में द्वित हुआ। इससे मंत्रियों और विभागों की संख्या में भी वृद्धि हुई। सरकार का काम केवल शांति और सुव्यवस्था की रहा न रह गया वरन राष्ट्र को समृद्धि के लिए राज्य की ओर से खान खुदवाने, जंगलों के विस्तृत करने, नयी बस्तियाँ बसाने, राज्य की ओर से उद्योग धंधे चलाने, और

कारीगरें तथा शिल्पियों का संरच्चण करने श्रादि की भी व्यवस्या होने लगी। शामान्य नागरिक खरीददारों (Consumers) के दित का भी ध्यान रखा गया और इस हेतु नाप व तौड़ का मान स्थिर करने तथा वस्तुओं का संचय और मुनाफाखोरो रोकने के लिए सरकार की श्रोर से बाजारों के निरीच्चक भी नियुक्त किए जाते थे । ध्वन, मदिरापान और वेश्या वृक्ति आदि सुराइयों के नियंत्रण की भी व्यवस्था की गयी। प्रजा की श्राध्यास्मिक, बौद्धिक और संस्कृतिक उन्नति के लिए धर्म श्रोर सदाचार के प्रोस्ताहनार्थ विशेष कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे और विद्वानों तथा कलाकारों को श्राध्य दिया जाता था । श्रात और दीनों के कष्टानिवारण के लिये सत्र इंग्णालय (श्रस्पताल) और धर्मशालाए खोली जाती की। इन सब कार्यों के लिए राज्य को बहुत से नये विभाग खोलने पड़े और कर्मचारी नियुक्त करने पड़े। इसमें संदेह नहीं कि उपर्युक्त कार्यों में मौर्य शासन को पर्याप्त सफलता मिली। यह कहना कठिन है कि मौर्य साम्राज्य के बाद के छोटे राज्य भी इन सब कार्मों को कर सके या नहीं।

(इतने विश्वित कार्य करनेवाले बड़े साम्राज्यों के प्रादुर्भाव के फल स्वरूप केंद्रीय और प्रांतीय राजधानियों में शासनालयों (Secretariat) को भी स्थापना हुई। २५० ई० पू० तक साम्राज्य के शासन यंत्र का पूरा विकास हो चुका था और शासन की विभिन्न केंद्रीय, प्रांतीय, प्रादेशिक और स्थानीय शासाएँ भी अस्तित्व में भ्रा चुकी थीं। यही व्यवस्था किंचित् परिवर्तनों के साथ पूरे प्राचीन काल में तेरहवीं सदी के अंत तक चलती रही।

्बहे शम्राज्यों की बड़ी सेना भी होनी चाहिए; और १०० ई. पू. से बड़ी हेनाएँ प्रत्येक राज्य में पायी जाती थी। राज्य की आय का सबसे बड़ा भाग इन्हीं पर खर्च होता था।) धरकार के विभिन्न विभागों और सेना के लिए व्यय जुटाने के लिए करों में भी वृद्धि हुई। करों को संख्या श्रीर इनकी दरमें भी वृद्धि उत्तरोत्तर होती गयी।

हम देख चुके हैं कि वैदिक काल में अनेक प्रदेशों में गण-राज्य वर्तमान थे। पष्टो शताब्दी ई. पू. तक पजाब, सिंघ, मगंघ और विदेह के विभिन्न प्रदेशों में ये गण्याज्य कायम थे। (अगली शताब्दी में नंद साम्राज्य के विस्तार ने शाक्य, कोलिय, मल, विदेह आदि अधिकांश उत्तरी पूर्वी गण्याज्यों का ऋस्तित्व नष्ट कर दिया। पर पंजाब और विषके गण्याज्य ३२४ ई. पू. तक कायम रहे। इन्हें मीर्य साम्राज्य के सामने सिर सकाना पढ़ा पर मीर्य साम्राज्य के पतन के बाद गण राज्योंने फिर सिर डठाया पर कुषाण राजाओं ने फिर कई दशकों तक इन्हें अपने अधीन रखा।)

#### विदेशियों की शासन-प्रणाली

इस काल में शासन पद्धति में बहुत कम परिवर्तन हुए। इस काल खंड में उत्तरी श्रीर उत्तरी पश्चिमी भारत और गुजरात, काठियावाइ तथा राजपुताना में अनेक विदेशो राज्य स्थापित हुए पर उनकी शासन पद्धति पूर्ववर्णित पद्धति से बहुत भिन्न न थो। राजा शासन का अधिष्ठ।ता बना रहा। उसके अधिकार दिनो दिन बढते ही जाते थे। उसकी उपाधियाँ बड़ी लंबी चौड़ो होती जा रही थीं। चहगुप्त और अशोक जैने शक्ति शालो शासक तो केवल राजा को ही उपाधि से संदुष्ट हो गये। कनिष्क ने 'महाराज' 'राजातिराज' और 'देवपुत्र' की उपाधियाँ धारण की थीं। 'देवपुत्र' हे सूचित होता है राजा की दिव्यता की मावना कुषाण राजाओं के समय ग्रीर भी बलवती हो गयो। कुषाण राजा देवकुल या मंदिर भी बनवाते थे जिसमे उनका बंग्रके मृत राजाओं की श्रतिमाएँ स्थापित को जाती थीं। शक कुषाण राजाओं ने 'हैराज्य' की भी प्रथा चलायी निसमें राजा और युवराज संयुक्त शासन करते थे। स्पॅलिरायजेस और अभेस, हगान श्रीर हगामव, गोंडोफर और गड, कनिष्क द्वितीय श्रीर हुविष्क के युवन इस दैराज्य के उदाहरण हैं। पिक्चम हिंदुस्थान के चुत्रपों के राज्य में पिता और पुत्र एक साथ राज्य चलाते थे और दोनों अपने नामसे मुद्राएँ भी जारी करते थे। इसमें पिता महाचत्रप को उपाधि घारण करता या श्रीर पुत्र चत्रप का शक-कुषाणों की इस दैराज्य पद्धति में कनिष्ठ शासक के अधिकार हिंदू शासन पद्धति में यवराज को प्राप्त ऋषिकारों से अधिक थे।

हम देख जुके हैं कि ४०० ई. पू. तक वैदिक कालोन लोक समा या सिमित का व्यस्तित्व मिट जुका था। प्रस्तुत युग में भी इस प्रकार की कोई लोक समा स्थापित न हा सकी। केंद्रीय सत्ता राजा, युवराज ब्यौर मंजिपित्व (जो राजा के प्रति उत्तरदायी थी) के हाथों में थी। पूर्वकाल की माँति केंद्रीय राजधानी में शासनाक्य (Secretariat) वर्तमान के जो केंद्रीय सरकार के विभिन्न कार्यों में एकस्नता बनाये रखते थे ब्यौर केंद्रीय सरकार के ब्यादेशों को प्रांत नगर श्रीर श्रामों को भेजते थे।

मांत, जिले, और पुर का शासन पूर्ववत् चलता रहा। विदेशी शासकों ने केवड कुछ पदाधिकारियों के नाम भर बदले, उदाहरणार्थ प्रांतीय शासक या स्वेदार शककुशासा राज्य में स्वप्न और महास्वप्न, जिले के अधिकारी यूनानी राज्य में संभवतः 'मेरिडार्क' और सेनानायक 'स्ट्रेटेगास' पुकारे जाते ये। विदेशी शासन एक दो पीढ़ियों के बाद भारतीय बन जाते थे और हिंदू संस्कृति और धर्म के क्षाय हिंदू राजनीतिक सिद्धांत और पद्धति भी महण कर हेते थे। उदाहरणार्थ महान् शक शासक रहदामा को भी चंद्रगुप्त और अशोक की भाँति एक मंत्रिपरिषद् थो जिसके सदस्य 'मित सचिव' और 'कर्म सचिव' नामों से संबोधित किये जाते े। रहदामा ने अपने हेख में गर्व के साथ हिखा था कि 'मैंने अर्थविद्या (राजनीति) का अध्ययन किया है और इसी के सिद्धांतों के अनुसार शासन करता हूँ।'

शुंग, कण्व, पहलव, कुषाण, शक और सातवाहन वंश के शासकों के शासन क्षेत्र के बारे में बहुत कम सामग्री मिलती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ये शासक अर्थ शास्त्र में निर्दिष्ट और मौर्य राजाओं द्वारा किये जाने बाले विविध राजकीय कार्य करते थे या नहीं।

## गुप्त और गुप्तोत्तर कालीन शासनप्रणाली

/ भारतीय राज्य शास्त्र के सिद्धांतों और शासन पद्धति में गुप्त और गुप्तीत्तर काल में भी (३००-१२०० ई) श्रिविक परिवर्तन न हुए 1) अनुवंशक राजा शासन का भाषिष्ठाता बना रहा और उनके हायों में ही शासन, सेना भीर न्याय के समस्त अधिकार केंद्रित थे।/राजा देवोपम माने जाते थे पर दोषों और मूलों के परे नहीं। उसे विशेष रूप से धर्मान सार आचारण श्रीर कर्तव्य पालन करने को कहा गया बा क्योंकि प्रजा भी उसी के दिखाये रास्ते पर चलती थी। मंत्रिपरिषद पूर्ववत राजा को सहायता देती रही और साधारण स्थित में राजा तथा शासन की गतिबिधि को प्रभावित करने की इसमें शक्ति थो। केंद्रीय शासन कार्याख्य भी पहले की भांति काम करते रहे। निरीचण की पदित पहले को अपेचा बहत विकासत हो चुकी थी ।) पूर्व को भांति प्रांत, जिले और पुर के शासन कायम रहे पर विभिन्न शताब्दियों और प्रदेशों में इनके पदाधिकारियों के नाम बहुधा बदलते रहे (सेना विभाग सबसे महत्वपूर्व और खर्चीहा विभाग बना रहा। अधिकांश प्रांतीय और प्रादेशिक और जिलेके शासक और मंत्रिपरिषद के सदस्य सेना के पदाधिकारी भी थे ))राष्ट्रीय संपत्ति और माकृतिक साधनों के विकास पर पहले के समान ही ध्यान दिया जाता था। खानें। श्रीर जंगलों के विकास का यत होता रहा। व्यापार श्रीर उद्योग की देख रेख के लिए विशेष अधिकारी नियक किये जाते थे ।) प्रजाकी साध्यात्मिक और नैतिक उन्नति का भी यहर किया जाता थाः इसके किए मंत्रि परिषद में एक विशेष मंत्री रहता या जिसका

काम जनता के आचरण की देख रेख रखना, धार्मिक संस्थाओं और मंदिरों की सहायता देना और समाज सुधार तथा प्राचीन प्रधाओं में आवश्यक परिवर्तन के विषय में राजा को परामर्श देना या। (अन्य युगों को अपेला इस कालके बहुत अधिक शिलालेख और ताम्रपत्रादि उपलब्ध है जिनसे पता चलता है कि शिलाके प्रचार और बानकी बृद्धि की प्रशंसनीय आकांक्षांसे प्रेरित होकर सरकार शिलासंस्था और विद्यानों को खोलकर दान और सहायता देता था।) राज्य द्वारा मंदिर निर्माण की प्रवृत्ति भी तक्षण, स्थापत्य, चित्रण और तृत्य आदि बहुत कलाओं को उन्नति में बहुत सहायक हुई।

( इस काळमें शासन पदित में दो उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। ४०० ई. से प्राचीन भारत से गणतंत्र पदित का अध्वतः उठ गया। अनुवंशक राजा की उत्तरीत्तर बढ़ती हुई भक्ति के कारण गणतंत्र के श्रध्यत्त का पद भी अनुवंशक होने कगा। गणतंत्र के अध्यत्तों को राजकीय उपाधियाँ भी लगायी जाने लगी। श्रव इनका पद भी श्रनुवंशक हो जाने से इनमें और अनुवंशक नृप में भेद ही न रह गया।

इस काल का दूसरा उल्लेखनीय परिवर्तन ग्राम श्रीर मगर समाश्रों के कार्यों और अधिकारों में श्रम्तपूर्व वृद्धि है । ये संस्थाएँ पहले मी वर्तमान थों, पर उपलब्ध प्रमाणों से यह नहीं सिद्ध होता कि इनका रूप वैसा ही गेर सरकारी और इनका कार्यचेत्र उतना हो विस्तृत या जैसा ४ थो शताब्दी से उत्तर और दिच्या मारत दोनों में पाया जाता है । संघि विग्रह को छोड़ कर सरकार या राज्य के बाकी सब काम ये करती थीं। ये स्थानीय शासन संस्थाए जनस्ता के हढ़ दुर्ग के समान भीं और इनकी कार्यच्यमता के कारण समिति के अभाव का दुःपरिणाम विशेष रूपसे प्रतीत न होने पाया। (जनता के अधिकारों और स्वत्वों की सतर्कता पूर्वक रच्चा द्वारा ये ग्राम संस्थाएँ राजा की अधिकारिक अधिकार हस्तगत करने की प्रवृत्ति की काफी रोक याम करती थीं। जनता से कर वस्त्वने का कार्य अधिकतर ग्राम पंचायतें हो करती थीं; यदि राज्य द्वारा नये और न्याय विरुद्ध कर लगाये जाते तो ये उन्हें वस्त्वने से ही इनकार कर सकती थीं। गंभोर अपराधों को छोड़कर बाकी सब झगड़ों का निपटारा ग्राम पंचायतें ही किया करती थीं।

# प्राचीन शासन-पद्धति का गुण-दोष-विवेचन

अब हमें प्राचीन हिंदू राज्यतंत्र और इसकी सफलता व कार्यच्चमता के बिषय पर विचार करना है। ऐसा करने में हमें पूरी निष्पच्चता से काम लेना

आवश्यक है। पर हमें यह भी न भूलना चाहिये कि प्राचीन शासकों और संस्थाओं की परीक्षा ऐसे मानदंड से नहीं करनी चाहिये जिसका उस समय कहीं अस्तित्व भी न था। हमें हिंदू राज्यतंत्र के विषय में घारणा स्थिर करते समय उस समय के बातावरण और परिस्थित का भी ध्यान रखना होगा। प्राचीन काल की इस समीक्षा से वर्तमान और मिवष्य के उपयोग को जो बातें प्रकट होंगी उनका भी हमें उल्लेख कर देना है।

प्राचीन भारत में गण-राज्य, उच्चन-तंत्र, द्वैराज्य और नृपतंत्र आदि विविध शासन पद्धतियाँ प्रचलित थीं, पर श्रंत में नृपतंत्र का ही सर्वेत्र प्रचार हुआ। यह घटना प्राचीन भारत में ही नहीं घटी ; प्राचीन यूरोप में भी ऐसा ही हुआ । प्राचीन प्रीस धौर इटली में भी तृपतंत्र श्रीर साम्राज्य ने गण-राज्यों को विनष्ट किया था। प्रतिनिधि शासन की पद्धति प्राचीन काल में पौर्वात्य तथा पाश्चात्य दोनों मो देशों को ज्ञात न थी अतएव गणराज्य या प्रजातंत्र तभी तक कायम रह सकते थे जब तक राज्य का विस्तार थोड़ा हो श्रीर लोक समा के सभी सदस्य, जो अधिकतर उच्चवर्ग के होते थे. एक स्थान पर एकत्र हो सकें। प्राचीन ग्रीस श्रीर रोम के प्रजातत्र राज्यों की माँति यहाँ के गणराज्यों में भी सत्ता साधारण जन के हाथ में न होकर इत्रिय, या कहीं कहीं बाह्मण जैसे छोटे से विशेषाधिकारो वर्ग के ही हाथों में रहती थी। हिंद राज्यतंत्र ऐसे समाज में काम कर रहा या जहाँ जाति प्रशा वर्तमान श्री ग्रीर शासनकार्य स्वित्रियों का कार्य और कर्तव्य माना जाता था; कुछ इद तक ब्राह्मण भी इस कार्य में उनकी सहायता करते थे। श्रतः प्राचीन भारतीय गणराज्यों में प्रतिनिधि चुनने या मतदान (franchise) का अधिकार साधारण जन को नहीं दिया जा सकता था। परंत्र वर्तमान युग जन्मना जाति हारा कार्य विभाजन का सिद्धांत स्वीकार नहीं करता श्रतः आज सबको मता-घिकार देना होगा।

यह छोकतंत्र का युग है और हाल में ही भारतवर्ष स्वतंत्र प्रवातंत्र हो जुका। श्रतः हमें उन कारणों को जान लेना चाहिये निससे प्राचीन भारतीय गण्राज्यों का विनाश हुआ। साधारण रूप से यह कहा ना सकता है कि प्राचीन भारत में छोकतंत्र पद्धित छोटे राज्यों में ही सफलता पूर्वक चल सकती थी। इसके लिए शासक वर्ग का एक विरादरी का होना भी आवश्यक था। इस प्रकार के गणतंत्र विस्तृत प्रादेशिक राज्य का रूप न धारण कर सहै। परंतु श्रव वैद्यानिक यातायात ने दूरी की कठिनाई हल कर दो है, प्रतिनिधि शासन पद्धित का आविष्कार और सर्वेत्र प्रचार हो चुका है। जातीय राज्य का अध्याय भी कब का बीत चुका है और राष्ट्रीय भावना का विकास हो चुका है। अतएव अब कोई कारण नहीं कि भारत में प्रवार्तंत्र पद्धित क्यों न सफलता पूर्वेक चळ सके।

प्राचीन गण राज्यों, के विनाश का एक कारण राजा को देवता मानने श्रीर राजभक्ति की भावना के अत्यधिक प्रावल्य प्राप्त करना भी था। जब गण-राज्य के अध्यक्ष, हेनापित श्रीर शासन परिषद के सदस्यों के पद भी अनुवंशक होने लगे तब हनमें और नृतंत्र में श्रांतर करना किन हो गया। श्रव राजा के देवत्व का विद्धांत मर चुका है और यह वर्तमान ग्रुग में कोकतंत्रात्मक भावनाओं के विकास यो संस्थाओं की स्थापना में बाधक नहीं हा सकता, विवादशी राज्यों के जहाँ नृपतंत्र की परंपरा अभी भी चली आ रही है। पर प्राचीन भारत में भी देवत्व के अधिकारी वे हो राजा समझे जाते थे, को सदाचारी, कर्तव्यरत और सुयोग्य होते थे, जो अपनी प्रजा के वास्तविक विश्वस्त (trustee) या संरक्षक का काम करते थे और प्रजा के हित के लिए अपने स्वार्थ, सुविधा और संपत्ति का त्याग करने को तैयार। रहते थे। देशी राज्यों में नृपतंत्र तभी कायम रह सकता है बब उसके नरेश उपर्युक्त श्रेणी के हो। यह न भूलना चाहिये कि हमारे आचार्यों ने दुष्ट श्रत्याचारी और अयोग्य राजा को राक्षस बतलाया है और उन्हें राज्यव्युत करने और मार डालने को भी अनुमति दो है।

प्राचीन भारतीय इतिहास और राज्यतंत्र के अध्ययन से शात होता है कि हमारे गणराज्य तब तक फलते फूड़ते रहे जब तक उनकी समाओं के सदस्यों में एकता श्रोर मेळ रहा। उनमें आपनी झगड़े की प्रवृत्ति बराबर वर्तमान रही। कुछ गणराज्यों में केंद्रीय सभा के प्रत्येक सदस्य को राजा की उपाधि दे दी जाती थी। ये सदस्य किसी को भो अपना नेता मानने को तैयार न थे क्यों कि इसमें ये श्रपनी हेंडी मानते थे। पहोसी राजा गणराज्यों की सभाओं के सदस्यों में फूट डाळने के लिए अपने चर भेजते थे। गणसभाओं में अक्सर गुट और दल बन जाते थे जो एक दूसरे को नीचा दिखाने को सदा चेष्टा किया करते थे और इस प्रकार बाहरी शत्रु को अपने. घर में इस्तच्चेप का मौका देते थे। प्राचीन भारत के बहुत से गणराज्य पद्मेशो राजाओं के पडचंत्र से आपस में फूट हो जाने के कारण नष्ट किये गये। श्रवसर गणसभा का एक दळ पराजित होकर दूसरे पच्च को नीचा दिखाने के लिए बाहरी शत्रु को श्रामंत्रण देता था और अपने राज्य के नीचा दिखाने के लिए बाहरी शत्रु को श्रामंत्रण देता था और अपने राज्य के नीचा दिखाने के लिए

या। प्रचातंत्रवादी नवभारत के लोक-सभा-भवन (पार्लमेंट) के सिंहद्वार पर लिच्छिव गणराज्य के विषय में कहे गये भगवान् बुद्ध के वाक्य स्वर्णाञ्चरों में संकित रहने चाहिये। बुद्ध का कथन या कि,—लिच्छिव गणराज्य तब तक फलता-फूलता रहेगा जब तक उसके परिषद के सदस्य बार-बार एकत्र होकर मंत्रणा करते रहेंगे, बृद्ध अनुभवी और योग्य पुरुषों का श्रादर श्रीर सम्मान करते रहेंगे, राज्य का कार्य मेळ-बोल और एकमत से करते रहेंगे और अपने पुरुष स्वार्थों के लिए झगड़नेवाले दलों को उरम्ब ही न होने टेंगे।

पीछे उछि खित कारणों से अंत में नृपतंत्र ही सर्वत्र प्रचलित हुआ। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि इमारे आचायों के सम्मुख जो श्रादर्श रखे उनमे ऊँचे आदर्श आधुनिक युग भी नहीं रख सकता। राजा धृतवत, माने नियम, व्यवस्था, न्याय और सदाचार के वत का पालन करनेवाला था, वह नियमों के परे नहीं, नियमों का अनुगामा था। उसका पद अपनी प्रजा के विश्वस्त (trustee ) से भी अधिक जिम्मेदारी का था, विश्वस्त का कर्तब्य तो सुपुर्द कार्य से व्यक्तिगत जाम न उठाना ही था, पर प्राचीन भारत के ग्रादर्श के अनुसार राजा को राज्य की भलाई के लिए अपने निजी सल, सुविधा श्रीर कार्भी को भी तिलांजिल देनो पहती थी। देवत्व का अधिकारी राजा का व्यक्तित्व नहीं, उसका पद था। राजा कमी गलती नहीं कर सकता श्रीर ईश्वर के सिवा किसी को उससे खवाब तळब करने का अधिकार नहीं, यह सिद्धांत प्राचीन भारतीय आचार्यों को संमत नहीं था। इस बात पर बराबर जोर दिया जाता था कि राजा को साधारण मनुष्य की अपेचा बहत अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है अतः उसे राज-कार्य की समुचित शिक्षा मिलनी चाहिये जिसके अमान में उसे अनेक गलतियाँ अवश्य होगी। राजपद की दिव्यता के सिद्धांत का उहे श्य उसका गौरव बदा-कर राज्यता के प्रति आदर उत्पन्न करना था न कि राजाओं में निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना।

पर यह भो मानना होगा कि व्यवहार में बहुत से राजा इस ऊँचे आदर्श का निर्वाह न कर पाते थे। किंतु प्राचीन भारत में अत्याचारो और निरंकुच ज्ञासकों को संख्या मध्ययुगीन यूगेप से बदापि श्रविक न थी। फिर भी इस पर विचार करना चाहिये कि किन कारणों से राजत्व का यह ऊँचा आदर्श कार्यान्वत न हो पाता था।

इसका सबसे प्रधान कारण राजा के अनिकारों पर किसी छौकिक और वदानिक रोक-थाम की व्यवस्था का अमाव था। मध्यकाळीन यूरोपीय विचारकों की आंति हमारे बहुएंख्य आचार्यों ने यह तो कभी नहीं कहा कि ईश्वर के लिवा श्रान्य कोई राजा से जवाब तलब नहीं कर सकता। फिर भी व्यवहार द्वेत्र में नरक के भय के अतिरिक्त राजा को निरंकुश्वता से रोकने का कोई साधन न था। हमारे आचार्यों ने यह भी सकाह दी थी कि अत्याचारी राजा का राज्य छोड़ कर जनता अन्यत्र चली जाय श्रीर प्राचीन छेखों से इस सामूहिक राज्य-स्वाग द्वारा राजा के होश ठिकाने आने के कुछ उदाहरण भी मिलते हैं। पर यह उपाय व्यवहार में अत्यंत कठिन है और इसका प्रयोग करना आसान नहीं। प्राचीन आचार्यों ने अत्यंत गंभीर स्थित में अत्याचारी राजा के वच की भी अनुमित दी है। पर इसके लिए कांति या जनविष्ठव आवश्यक है, नित्य के शासन में ज्यादती रोकने के छिए यह उपाय बिलकुल बेकार है। प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्री राजा की निरंकुश्वता को रोकने का कोई लेकिक, वैज्ञानिक श्रीर व्यायहारिक उपाय न निकाल सके इसमें कुछ संदेह नहीं है।

इसका प्रधान कारण वैदिक कारू की लोक-समा या समिति का बाद के युग में तिरोहित हो जाना है। जब तक यह संस्था वर्तमान बी, नित्य के शासन कार्य में राजा पर एक श्रंकुश रहता था। वैदिक वाङ्मय से स्पष्ट शांत होता है कि राजा तभी तक श्रपने सिंहासन पर रह सकता था जब तक उसकी समिति का उससे विरोध न हो। विरोध होने पर समिति की ही बात प्राय: मानी जाती थी और राजा को या छकना पहता वा राजस्थाग करना पहता था।

पर उत्तर वैदिक काल में बीरे बीरे केंद्रीय कोक समा बिछत हो गयों। इस लिए नहीं कि जनता में कोकतंत्र की मायना कम हो गयी जिल्क इस लिए कि राज्यों के अधिकाधिक विस्तार के कारण कोक-समा का अधिवेशन दुष्कर होता गया। यदि चंद्रगुप्त, अशोक या हर्षवर्धन ने केंद्रीय समिति पुनस्यापित की होती तो सदस्यों को अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए राजवानी पहुंचने में कई सप्ताह लग जाते, वैसे ही, और पुनः अपने अपने घर कौटने में उतना ही समय लग जाता। प्रतिनिधि निर्वाचन की पद्धति उस काल में एशिया या यूरोप में कहीं भी जात न यीं।

वैदिक काल की भांति प्रातिनिधिक लोक-सभाएँ स्थापित कर के वर्तमान देशी राज्यों में निशंबित और वैधानिक न्यपतंत्र को पद्धति चलायी जा सकती है। किंतु हिंदी नरेशों को ध्यान रखना होगा कि कोक-सभा से विरोध होने पर उन्हें या तो ह्यकना होगा या पदस्थाग या निर्वाधन झेलना पढ़ेगा।

बढ़े राज्यों में केंद्रीय लोक-सभा का कार्य करना असंभव देख कर प्राचीन भारतीय भाचायोंने जनता के द्वित के रचार्व शासनकार्य में अधिकाधिक

विकेंद्रीकरण करने की व्यवस्था की थी। जिला, ग्राम और नगर शासन को व्यापक अधिकार दिये गये थे। इन शासनों पर स्थानीय क्रोक समाओं का पुरा नियंत्रण श्रीर देखरेख रहता था। ग्रप्त शासन काल में तो राज्य की परती या जसर भूमि वेचने के छिए भी बिछे की लोक समा की स्वीकृति आवश्यक भी। प्राचीन भारत की नगर और ग्राम सभाओं के अधिकार, ग्राधनिक या प्राचीन, पाश्चात्य या पौर्वात्य, कहीं भी इसी प्रकार की संस्थाओं से बहुत अविक थे। ये संस्थाएँ केंद्रीय शासन की श्रोर से कर एकत्र करती थीं, अनुचित करों को एकत्र करने से इनकार कर देती थीं, गाँव के झगढ़ों का निपटारा करती थीं, सार्वजनिक निर्माण कार्य करती थीं और बहुधा ग्रस्पताल. अनाशालय, श्रीर शिल्ला-संस्थाएँ स्थापित करती और चलाती थीं। भारत के नव बिधान में भी इसी परिपाटिका ग्रहण वांछित है और स्थानीय संस्थाओं को अधिक से अधिक श्रविकार और कार्य सौंपना हितकर होगा। पर इसमें एक बात का ध्यान रखना होगा। प्राचीन काल में प्राप्त या नगर संस्थाओं की सफकता का सबसे बड़ा कारण यह या कि भारतीय जनता सत्य और चारिज्य का ब्यादर करती थी और योग्यता, अनुभव तथा वय का हार्दिक संमान करती भी। ग्राम पंचायत के सदस्यों को निर्वाचन के लिए दौड़ धूप न करनी पहती थी. जनमत ही उन्हे उस पद पर प्रतिष्ठित कर देता था। आजकल की लोकतंत्र पदिति और जुनाव, दलसंघटन और मतदान की प्रणाठी उस समय अज्ञात थी श्रीर श्रांच भी इस देश के लिए नयी ही है। इसके सफलता के लिए शिचा के स्यापक प्रचार की आवश्यकता है और इसे शीव उसके बारे में प्रयत्नशील होता चाहिये। ईश्वर और नरक का भय, धर्माधर्म का विचार तो आज होप हो चुका है पर इसके स्थान पर नागरिक कर्तव्य पालन की भावना का विचार होना चाहिये। इसीसे हमारे निर्वाचित प्रतिनिधी बनता के दित को सबसे ऊँचा स्थान देने में समर्थ हो सकेंगे।

प्राचीन भारत की प्राम पंचायतों को न्यायदान के व्यापक अधिकार थे।

सिवा संगीन अपराघों के बाकी सब मामलों का फैसला ये ही करती थीं।

प्राचीन काल में जीवन सादा था, न्याय के लिए आने वाले अगड़े अधिकतर
स्थानीय जनता के हाल व्यवहार से संबंध रखते थे। सभी लोग विधि नियमों
को जानते और समझते थे। आजकल का कानून पेचीदा और दुर्जोंच होता है,

इसकी व्याख्या या प्रयोग के लिए विशेषशों की सहायता आवश्यक होती है।

न्यायार्थी प्रतिपद्मी भी कभी कभी दूरके स्थानों के होते हैं। अतः आजकल
की प्राम पंचायतं उतना विस्तृत कार्य नहीं कर सकती जितना दीवानी

मुकदमों में प्राचीन काल की पंचायतें करती थीं। फिर भी प्राम पंचायतों को कुछ दीवानी अधिकार देकर न्याय व्यवस्था के विकेंद्रीकरण का श्री गणेश श्रवस्य करना चाहिये। अपने पड़ोसियों और रात दिन के साथियों के सामने सर्वविदित घटनाओं और तथ्यों के संबंध में सर्वथा मिथ्या साची देना प्रायः कठिन होता है। ग्राम पंचायतों को न्यायकार्य सौंपने से श्रवहों के निपटारे में विलंध अवस्य कम होगा। फिर भी प्रारंभ में अवस्य कठिनाइयाँ आवेगी। प्राचीनकाल में ईश्वर पर श्रद्धा, धर्म से प्रेम और श्रवम से तिरस्कार के कारण लोगों में सरयप्रेम तथा न्यायमावना प्रवल थी। अब नागरिक कर्तव्यों का अज्ञान और स्वार्थ की प्रवृत्ति के कारण ग्रामों में परस्पर देष श्रीर दल्लंदी का प्रावल्य है और न्याय अन्याय का विवेक कुंद पढ़ गया है। अतः चबतक प्राचीन काल की धर्ममावना के रिक्त स्थान पर नागरिक उत्तरदायिक का भाव नहीं प्रतिष्ठित होता, ग्राम पंचायतों के सफलता पूर्वक कार्य करने में कुछ दिक्कत श्रवस्य होगी।

स्थानीय संस्थाओं के लिए त्रावश्यक द्रव्य की व्यवस्था भूमिकरके एक त्रंश को उनको देकर की गयी थी। सरकार के लिए ग्राम-समाएँ जो कर एकत्र करती थीं, उसका १५ से २० प्र. शः सरकार उन्हें ही दे दिया करती थी। आधुनिक काल में भी इस परिपादी को अपनाया जा सकता है।

इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन भारतीयों ने कर व्यवस्था का श्राचार बहुत श्रच्छे सिद्धांतों पर रखा था। करमें छूट और रियायतों के लिए भी बहुत अच्छे सिद्धांत रियर किये गये थे। सभी लोग इस बात से सहमत होंगे कि सरकार उसी प्रकार कर एकत्र करें जिस प्रकार मधुमन्खी फूळों से रस एकत्र करती है और उन्हें कोई नुकसान नहीं पहुँचाती। व्यापार और उद्योग की आय पर नहीं किंतु लाभ पर कर लिया जाय, किसी बस्तु पर दो बार कर न लगा चाहिये, और यदि कर बढ़ाना आवश्यक ही हो तो घीरे घीरे दृद्धि होनी चाहिये। करमें छूट की व्यवस्था भी ठीक थी। प्रारंभ में केवल निर्धन और बिद्धान बाह्यणों को ही जो निःश्चल्क शिद्धादान किया करते थे, कर से मुक्त करने का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया था। इसका कुछ दृद्धयोग भी हुत्रा, पर साधारणतः व्यापार या सरकारी नौकरी करने वाले बाह्यण कर से छूट न पाते थे। ऐसे उदाहरण विरल ही थे चहाँ समुचा ब्राह्मण वर्ग कर से मुक्त था। जो हो ग्राधुनिक काल में जाति के आधार पर किसी भी वर्ग को इस प्रकार की मुक्तिया नहीं दी जा सकती।

देश काल की परिपाटी और परंपरा के अनुसार ही कर छगाये काते थे।

पर बाद में, लोकसभाओं के लोप हो जाने के पश्चात् अत्यधिक और मन माने कर भी कभी कभी लगाये जाते थे। अक्सर हमें इस विषय में केंद्रीय शासन और ग्राम सभाओं में खींच तान भी दीख पहती है, जब कि सरकार नये और कष्टदायक कर लगानी चाहती थी और ग्रामसंस्थाएँ इन्हें वस्क करने से इनकार करती थों। पर इसमें अधिकतर न्याय को शक्ति के सामने नीचा देखना पहता था और ऐसे दशतं मिलते हैं, बन दुर्वह करों के बोझ से छुटकारा पाने के लिए लोग ग्राम छोड़ कर अन्यत्र चले जाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि बाद के समय में अन्यायी शासक के सिंहासनारू होने पर जनता अनुचित करों से सुरचित न थो। इसका प्रधान कारण समिति या अन्य किसी लोक-समा का अभाव था। जनता के स्वत्यों और हितों की रच्चा के लिए सजग और सहत लोकसभा का होना अत्यंत आवश्यक है।

प्राचीन भारत के राज्य केवल कर वसूलने वाली संस्था मात्र न थे, किन्हे ग्रमन कातून की रखा के सिवा अन्य किसी बात से मतलब हो न या। यह आनंद और आश्चर्य का विषय है कि प्राचीन कोल के भारतीय राज्य ऐसे बहत से लोकहित के कार्य करते दिखायी देते है, जिन्हे श्राधुनिक राज्यों ने भी अभी डाल में ही करना आरंभ किया है। पर सरकार की कारवाई से व्यक्तिगत उद्योग या उद्यम में कोई बाधा न पहुंचती थी क्योंकि सरकार के कार्य साधारणतः विभिन्न व्यवसानी और वृत्तियों के संघटनी, समाएँ और श्रेणियों के माध्यम से ही किये जाते थे। विशेषज्ञों को भी एक सोमा तक अपनी योजनाएँ बनाने की स्वतंत्रता थी, और राष्ट्र के लिए लामदायक प्रतीत होने पर इन्हें कार्यान्वित करने में राज्य की सहायता भी मिकती थी। प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र की यह विशेषता समान के किए बड़ी ग्रम थी। उदाहरणार्थ राज्य-हारा शिचा संस्थाओं को उदारता पूर्वक सहायता दी बाती थी, पर ये संस्थाएँ प्रायः पूर्णतः गैर सरकारी होती थीं और सरकार भी इनके कार्य में किसी प्रकार का हस्तकेप नहीं करती थी। आजकल की मांति सरकारी किंदा विभाग और शिखाधिकारियों द्वारा शिद्धा संस्थाओं को राज्य की नीति का अनुसरण करने या सरकार द्वारा निर्दिष्ट पाठ्यक्रम पढ़ाने को बाध्य नहीं किया जाता था। आधुनिक काल में राज्य के कार्यचेत्र के निरंतर बिस्तार से व्यक्ति और राज्य में संघर्ष की संभावना उत्पन्न हो रही है। यदि प्राचीन भारत की भाँति श्राधनिक काळ के **एरकार भी समाजहित के कार्यों में स्थानीय संस्थाओं और विभिन्न वृत्तियों** और व्यावसायिक संघटनों को अपना माध्यम बनाने छगे तो व्यक्ति और राज्य में सामंबस्य स्थापित हो बाय ।

प्राचीन मारतीय राज्यों के आदर्श बास्तव में बहुत ही ऊँचे और ज्यापक थे। इनका डक्ष्य पूरे समाज की भौतिक, नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यास्मिक उन्नति करना था। यह उन्नति क्या है इस विषय में विभिन्न युगों की वारणाओं में श्रंतर हो सकता है। इसिलए इन चारों दोत्रों में उन्नति के लिए प्राचीन भारत में सरकार की ओर से जो कार्य किये बाते थे, उनमें से संभवतः कुछ का समर्थन आज नहीं किया जा सकता। उदाहरसार्थ वर्णन्यवस्था राज्य द्वारा समर्थित थी, यद्यपि यह शूद्रों और अंत्यजों के लिए अन्याय करती थी। पर हमें यह न भूकना चाहिये कि राज्यसंस्था समाज का दर्पण होती है। यदि प्राचीन भारत में राज्य अन्याय्य करव्यवस्था का समर्थक या तो इसका दोष तत्कलीन समानपर भी है। पर प्राचीन रीतियों श्रीर व्यवस्थाओं की हम आधनिक आदशों श्रीर मापदंडों से नहीं बाँच सकते । प्राचीन कारू में भारतवर्ष में लोगों का कर्मफल के सिद्धांत पर पूरा विश्वास था; शूद्र और श्रंत्यन भी यही समझते थे कि पूर्व जन्म के कुछत्यों के फल से ही उन्हें नीच बाति में जन्म लेना पड़ा है, और इसी पाप के प्रायश्चित स्वरूप शास्त्रों द्वारा उनके लिए इस जन्म में भी घार्मिक और समाजिक प्रतिबंधों का विधान किया गया है। अस्तु. इस दशा में प्राचीन मारत के राज्यों के लिए इन प्रतिबंधों को न मानने की कल्पना ही असंमव थी, इन्हे ब्ह्याने को कौन कहै। अतः प्राचीन भारत में सबके लिए एकही कान्न और दंडन्यवस्था न शी। यह अवस्य खेद की बात है। अवस्य ही इमारी संस्कृति के लिए यह गौरव का विषय होता यदि स्मृतिकारों ने शूड़ के मुकाबले ब्राह्मण के लिए अधिक कठोर दंड की व्यवस्था की होती, क्योंकि स्मृतियों ने सूद के मुकाबले ब्राह्मणका अपरावजन्य पाप गुरुतर माना है। पर हमें यह भी न भूडना चाहिये कि इस प्रकार का अन्यायमूलक भेदमाव पूर्व या पश्चिम सभी जगह के सम्य समाझ में पाया जाता था और आधुनिक काल में भी पाया जाता है। यदि प्राचीन भारत में शूद की इत्या के लिए बाह्मण की इत्या की अपेदा कम अर्थ दंड होता था तो यूरोप में भी सर्फ या दास के हत्यारे को नाइट या सरदार के इत्यारे से कम जुर्मीना देना पड़ता था। यदि प्राचोन भारत में विद्धान् ब्राह्मणों को कर से कुछ मुक्ति मिली थी तो यूरोप में १८ वीं सदी तक ईसाई पुरोहितों या धर्माचार्यों और धनी सरदारों को भी इससे कहीं अधिक अनुचित करमुक्ति और मुविधाएँ प्राप्त थीं। निस्संदेह प्राचीन भारत में मोची के पुत्र की प्रधान मंत्री होने का अवसर न दिया जाता था पर प्राचीन कारूमें किसी भी पूर्वी या पश्चिमी देशमें ऐसी घटना नहीं होती थो । निष्पच्च आलोचकों का मानना पड़ेगा कि प्राचीन भारतीय राज्य न देवल ब्राह्मणों की ही चिंता करते थे वरन एव जातियों की मौतिक और नैतिक उन्नति के लिए यलशील रहते थे। हाँ एक जाति के व्यक्तिको अन्य जाति की दृत्ति ग्रहण करने की चेष्टा अनुचित समझी जाती थी, कारण समाज का यही विश्वास था कि दृत्ति जन्म से ही निश्चित हो जाती है।

आसेत् हिमाचल एकल्य साम्राज्य के रूप में सर्व भारतीय राज्य की कल्पना १००० ई. पू. से तो अवश्य वर्तमान थी। पर भारतीय इतिहास में इसके फक्षीभृत होने के एक दो ही उदाहरण पाये जाते हैं। यह आदर्श भारत की मृलभृत भौगोलिक धार्मिक और संस्कृतिक एकता के अनुभव का ही परिणाम या। पर प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र स्थानीय स्वतंत्रता, संस्कृति और संस्थाओं को नष्ट करके साम्राज्य स्थापित करना अनुचित समक्षता था, इसी से यह सिद्धांत स्थिर किया गया कि चक्रवर्ती पद का आकांद्धी राजा अन्य राजाओं से कर लेकर या अपना प्रभुत्व स्थीकार करा कर ही संतुष्ट हो जाय, उनका राज्य न नष्ट करे। युद्ध दोत्र में मारे जाने पर भी वह किसी राजा के राज्य को अपने राज्य में न मिलाने, बल्कि मृत शासक के किसी कुटुंबी या रिक्तेदार को यदि वह उसकी प्रभुता स्थीकार करे तो उसकी गद्दी पर बैठाने। विजेता को स्थानीय विधि-तियम, रीति और परंपरा में भी हस्तचेष करने का निषेष था।

अस्तु, प्राचीन भारत के आदर्श राज्य के रूप में ऐसे शक्तिशाबी राज्य की कल्पना की गयी थी, जो उमस्त देश को एक सन्न में प्रसित करके एक केंद्रीय शासन के अंतर्गत सब राज्यों और सर्वों के सहयोग से बाहरी शनुओं के आक्रमण से देश की रहा की ब्यवस्था करें और साथ ही स्थानीय राज्यों या शासनों को अपनी रोति रिवान और परंपरा का पाठन करने की तथा अपनी संस्कृति और अपने आदर्शों के विकास की स्वतंत्रता दे। यह श्रादर्श हमारे वर्तमान अखंड और सुहद् मारत और पूर्ण स्वायत्त प्रांत के आदर्श से पूर्णतया मिळता है। अतः हम इसका सूक्ष्म विक्लेषण करके इसके गुण और दोष समझने की चेशा करेंगे।

प्राजित राज्यों को करद सामंत रूपमें जीवित रहने देने की नीति के कुछ अन्छे फल जरूर निकले। इससे स्थानविशेष की संस्कृति, परंपरा और राजनीतिक संस्थाओं को अनुरूप विकास का अवसर मिला। इससे प्रांतीय स्पर्धा का भाव अनिष्ट और संहारक रूप ग्रहण न करने पाया, क्योंकि एक प्रांत दूसरे प्रांत या एक राज्य दूसरे राज्य की संस्कृति या अस्तिस्व नष्ट करने का भाव मन में न लाता था, उनका लक्ष्य अपनी प्रभुता स्वीकार करना ही रहता था। इससे युद्ध वह सर्व संहारक और वर्षर रूप भी न ग्रहण कर पाया, जो इस विश्व युद्ध में दिखाई पड़ा, क्योंकि पराजित होने पर समूल नाम की

आशंका किसी पद्धके सामने न भी, जो उन्हें युद्ध में अमानुषिक व अवार्मिक उपार्थी का भी आलंबन करने को प्रेरित करती।

अबीन किंद्र श्रांतर्गत स्वातंत्र्य रखनेवाळे प्रातों या राज्यों से बने हुए इस साम्राज्य के अनेक गुणों को स्वीकार करते हुए भी हम इसके दोषों को भी श्राँख से श्रोशक नहीं कर सकते। पराजित राज्यों को कायम रखने की नीति भारत के स्थायी एकीकरण में बाधक सिद्ध हुई। प्राचीन भारत के अधिकतर साम्राज्य सामंत राज्यों के एक दीले संघ से थे, जो कुछ प्रभावी सम्राटों के पराक्रम और कार्यच्चमता के कारण कुछ दशक तक एक में बंधे रहते थे। सभी सामंत सम्राट् पद के आकांची रहते थे, और प्राचीन राजनीति शासी भी इस आकांचा को स्वाभाविक और उचित स्वीकार करते थे। फलस्वरूप प्राचीन भारत के किसी भी बड़े राज्य की स्पिरता अधिक दिनों तक न रह पाती थी । सर्वेकांचित चकवती पद के किए निरंतर संघर्ष चढा करता था। प्रस्थेक राजा का कर्तव्य था कि पड़ीसी राज्य को कमबोर पाते ही उसपर आक्रमण करे. और स्वयं चक्रवर्ती बने । अतः सामंत लोक सदा अपने अधि-पति के विरुद्ध विहोह करने की ताक में रहते थे। यदि अधीन सामंत राजाओं के सम्मुख चक्रवर्ती पद प्राप्त करने का आदर्श न उपस्थित रहता और पराजित राजाओं का अस्तित्व कायम रखने की नीति न वर्ती जाती तो प्राचीन भारत के ६० प्र. श. युद्ध न हुए होते।

प्राचीन भारतीय विचारकों को इस श्रादर्श में कोई दोष नहीं दील पड़ा। संभवतः उनका यह विचार या कि प्रत्येक प्रांत या राजवंश को चक्रवर्तित्व पद प्राप्त करने का उचित अवसर मिल्ना चाहिये। इससे बार बार युद्ध अनिवार्य हो जाते थे, पर संभवतः ये युद्ध चित्रयों की सामरिक प्रवृत्ति को बनाये रखने के लिए उपयोगी समझे जाते थे। भारत के साम्राज्य की राजधानी पाटल्यित्र हो या कन्त्रीज या श्रवंती, कोई भी प्रांत शेष भारत पर श्राविषत्य प्राप्त करे, स्से किसी भी अधीन प्रांत को संस्कृति, धर्म, या भाषा पर कोई संकट न श्राता था, नयोंकि विजेता को किसी भी स्थान विशेष की संस्कृति, रीति रिवाज और संस्थाओं में तिनक भी हस्तच्चेप करने का कहा निषेष या।

बीमें बीमे प्राचीन मारतीय हुद और मुस्थिर केंद्रीय राज्य की श्रावश्यकता और उपयोगिता को भूलते गये। चुँकि ४०० ई० से सर्वत्र त्यप्तंत्र ही प्रचित्र हो गया, अतएव राज्यों की प्रति स्पर्धा ने राज्यंशों की व्यक्तिगत स्पर्धा का रूप बारण कर दिया। जनता इन संबर्धों से उदासीन रहती थी, क्योंकि इसके परिणाम से उसके रीति रिवाज, विधि-नियम, और संस्थाओं पर कोई भी विशेष राज्य न देवल ब्राह्मणों की ही चिंता करते थे वरन सब जातियों की मौतिक और नैतिक जनति के लिए यत्नशील रहते थे। हाँ एक जाति के व्यक्तिको अन्य जाति की वृत्ति ग्रहण करने की चेष्टा अनुचित समझी जाती भी, कारण समाज का यही विश्वास था कि वृत्ति जन्म से ही निश्चित हो जाती है।

आसेत् हिमाचल एकल्ल साम्राज्य के रूप में सर्व भारतीय राज्य की कल्पना १००० ई. पू. से तो अवश्य वर्तमान थी। पर भारतीय इतिहास में इसके फलीभूत होने के एक दो ही उदाहरण पाये जाते हैं। यह आदर्श भारत की मूलभूत भौगोलिक धार्मिक और संस्कृतिक एकता के अनुभव का ही परिणाम था। पर प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र स्थानीय स्वतंत्रता, संस्कृति और संस्थाओं को नष्ट करके साम्राज्य स्थापित करना अनुचित समस्तता था, इसी से यह सिद्धांत स्थिर किया गया कि चक्रवर्ती पद का आकांची राजा अन्य राजाओं से कर लेकर या अपना प्रभुत्व स्वीकार करा कर ही संतुष्ट ही जाय, उनका राज्य न नष्ट करे। युद्ध दोन्न में मारे जाने पर भी वह किसी राजा के राज्य को अपने राज्य में न मिलाने, बल्कि मृत शासक के किसी कुटुंबी या रिस्तेदार को अपने राज्य में न मिलाने, बल्कि मृत शासक के किसी कुटुंबी या रिस्तेदार को यदि वह उसकी प्रभुता स्वीकार करे तो उसकी गद्दो पर बैठाने। विजेता को स्थानीय विधि-नियम, रीति और परंपरा में भी इस्तचेप करने का निषेत्र था।

अस्तु, प्राचीन भारत के आदर्श राज्य के रूप में ऐसे शक्तिशाडी राज्य की कल्पना की गंयो थी, जो उमस्त देश को एक सूत्र में प्रश्वित करके एक केंद्रीय शासन के अंतर्गत सन राज्यों और सुर्वों के सहयोग से बाहरी शत्रुओं के आक्रमण से देश की रहा की व्यवस्था करें और साथ ही स्थानीय राज्यों या शासनों को अपनी रोति रिवाज और परंपरा का पाळन करने की तथा अपनी संस्कृति और अपने आदर्शों के विकास की स्वतंत्रता दे। यह आदर्श हमारे वर्तमान अखंड और सुदृढ़ भारत और पूर्ण स्वायत्त प्रांत के आदर्श से पूर्णतया मिळता है। अतः हम इसका सूक्ष्म विक्रविषण करके इसके गुण और दोष समझने की चेशा करेंगे।

प्राजित राज्यों को करद सामंत रूपमें जीवित रहने देने की नीति के कुछ अच्छे फल जरूर निकले। इससे स्थानविशेष की संस्कृति, परंपरा और राजनीतिक संस्थाओं को अनुरूप विकास का अवसर मिला। इससे प्रांतीय स्पर्धा का भाव अनिष्ट और संहारक रूप ग्रहण न करने पाया, क्योंकि एक प्रांत दूसरे प्रांत या एक राज्य दूसरे राज्य की संस्कृति या अस्तिस्व नष्ट करने का भाव मन में न लाता था, उनका लक्ष्य अपनी प्रभुता स्वीकार करना ही रहता था। इससे युद्ध वह सर्व संहारक और वर्षर रूप भी न ग्रहण कर पाया, जो इस विश्व युद्ध में दिखाई पद्दा, क्योंकि पराजित होने पर समूल नाश की

आशंका किसी पचके सामने न बी, जो उन्हें युद्ध में श्रमानुषिक व अवार्मिक उपार्थों का भी आलंबन करने को प्रेरित करती।

अबीन किंत्र श्रंतर्गत स्वातंत्र्य रखनेवाळे प्राता या राज्यों से बने हुए इस साम्राज्य के अनेक गुणों को स्वीकार करते हुए भी हम इसके दोषों को भी श्राँख से श्रोझक नहीं कर सकते। पराजित राज्यों को कायम रखने की नीति भारत के स्थायी एकीकरण में वाधक सिद्ध हुई। प्राचीन भारत के अधिकतर साम्राज्य सामंत राज्यों के एक दीले संघ से थे, जो कुछ प्रभावी सम्राटों के पराक्रम और कार्यचमता के कारण कुछ दशक तक एक में बंधे रहते थे। सभी सामंत सम्राट् पद के आकांची रहते थे, और प्राचीन राजनीति-शास्त्री भी इस आकांचा को स्वामाविक और उचित स्वीकार करते थे। फलस्वरूप प्राचीन भारत के किसी भी बढ़े राज्य की स्थिरता अधिक दिनों तक न रह पाती थी । सर्वकांचित चक्रवर्ती पद के किए निरंतर संघर्ष चढा करता था। प्रत्येक राजा का कर्तव्य था कि पड़ीसी राज्य को कमजोर पाते ही उसपर आक्रमण हरे. और स्वयं चक्रवर्ती बने । अतः सामंत लोक सदा अपने अबि-पति के विरुद्ध विद्रोह करने की ताक में रहते थे। यदि अधीन सामंत राजाओं के सम्मुख चक्रवर्ती पद प्राप्त करने का श्रादर्श न उपस्थित रहता और पराक्रित राजाओं का अस्तित्व कायम रखने की नीति न वर्ती जाती तो प्राचीन भारत के ६० प्र. श. युद्ध न हुए होते।

प्राचीन मारतीय विचारकों को इस आदर्श में कोई दोष नहीं दील पड़ा। संमनतः उनका यह विचार या कि प्रत्येक प्रांत या राजवंश को चक्रवर्तित्व पद प्राप्त करने का उचित अवसर मिलना चाहिये। इससे बार बार युद्ध अनिवार्य हो जाते थे, पर संभवतः ये युद्ध च्रियों की सामरिक प्रवृत्ति को बनाये रखने के लिए उपयोगी समझे जाते थे। मारत के साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र हो या कन्तीज या अवंती, कोई भी प्रांत शेष भारत पर आविषत्य प्राप्त करे, इससे किसी भी अधीन प्रांत को संस्कृति, धर्म, या भाषा पर कोई संकट न आता था, नयोंकि विजेता को किसी भी स्थान विशेष की संस्कृति, रीति रिवाज और संस्थाओं में तनिक भी हरतचेप करने का कहा निषेष था।

बीमे बीमे प्राचीन मारतीय हद और सुश्यिर केंद्रीय राज्य की श्रावश्यकता और उपयोगिता को भूलते गये। चुँकि ४०० ई० वे सर्वत्र त्यतंत्र ही प्रचिक्त हो गया, अतएव राज्यों की प्रति स्पर्धों ने राजयंशों की व्यक्तिगत स्पर्धों का रूप बारण कर किया। जनता इन संबंधों वे उदावीन रहती थी, क्योंकि इसके परिणाम से उबके रीति रिवाज, विधि-नियम, और संस्थाओं पर कोई मी विशेष असर पहने की आशंका न थी। छड़ नेबाली सेना में भी अपने मांत या जनमभूमि के लिए नहीं राजा के लिए लड़ने का मान रहता था। इसमें स्वदेश मेम
को कोई गुंजाइश हो न थी। अस्तु इस सामंत बहुल संबीय साम्राज्य के आदर्श
ने, जिसमें प्रत्येक सामंत को साम्राज्यपद के लिए प्रयस्न करने का पूरा अधिकार
था, पर विजय प्राप्त करके एक केंद्रीय राज्य की स्थापना की अनुमति न थी,
प्राचीन भारत की राजनीति में स्थायी अस्थिरता उत्पन्न कर दी। युद्ध वरावर
हुआ करते थे, पर उनसे किसी सुद्द एक केंद्रीय राज्य का प्राद्ध मीन न हो
पाया था। राष्ट्र की शिक्त आंतरिक कल्ह में नेकार चय होती गयी। लड़नेवालों
को कोई लाम न हो सका उत्तरे वे कमजोर ही हुए, और देश शक्तिहीन होकर
आसानी से मुसलमानी आक्रमण का शिकार बना।

हमारे इतिहास पर दृष्टिपात करने से प्रकट होगा कि भारत ने उसी समय उन्नति की है जब यहाँ कोई सुद्रुढ केंद्रीय शासन स्थापित था। अशोक, दितीय चंद्रगृप्त और अकबर के समय केंद्रमें सुद्दह सरकार कायम थी श्रतः भारत काफी उन्नित कर सका । पिछके १०० वर्षी में देश ने जी उन्नति की है उसका भी यही कारण है। अपने देश का नया विचान बनाते समय हम इतिहास की यह शिखा अला नहीं सकते । पराचित राज्य का अस्तित्व श्रीर उसके नियम और व्यवस्था नष्ट न करने का शाचीन विद्वांत आज शांतीय स्वतंत्रता का नया रूप धर कर उपस्वित हुआ है। इससे प्रत्येक अंगीभृत प्रदेश को अपने दंग पर अपनी संस्कृति के विकास का पूरा अधिकार मिलता है। पर इम किसी प्रांत या राज्य को अपनी स्वतंत्र सेना रखने ऋौर दृसरों पर आधिपत्य करने की चेष्टा करने की सुविद्या नहीं दे सकते। हमारे प्राचीन विचारक यह सुविधा देना उचित समझते थे, ताकि प्रत्येक राज्य को कभी न कभी भारतवर्षं का प्रमुख राज्य होने का अवसर मिल सके। यह स्वामाविक था, क्योंकि केंद्र में ऐसी कोई प्रातिनिधिक सरकार न थी. जिसमें प्रत्येक प्रांत और राज्य को यह भावना हो कि केंद्रीय सत्ता में हमारा भी उचित शभाव, प्रति-निधित्व और भाग है। केंद्र में लोकमतानुवायी प्रतिनिधि सरकार हो बाने पर अब किसी भी शांत या राज्य को समस्त भारत पर अपना आबिपस्य बमाने का अवसर नहीं दिया जा सकता। प्रत्येक प्रांत और राज्य को पूरी स्वायस सत्ता और अपने ढंग पर विकास का अधिकार रहेगा, पर प्रत्येक को अपनी पृथक्ता की प्रवृत्ति को दबाकर केंद्र में सुद्दह सार्वदेशिक सरकार कायम करनी होगी. जिसमें देश को रचा करने की सामर्थ्य और भारत को पुनः शक्तिशाकी और समुद्ध राष्ट्र बना सकने की चमता हो।

### विशिष्टार्थंक शब्दस्ची

#### हिंदी-अंग्रेजी

अंतिमेत्थम् Ultimatum अधंषामिक अर्घलौकिक Semireligious अपदस्य करना Dethrone अनुमति पत्र License अमीर सभा House of Lords असामो Lesee अहस्तक्षेप Laissez faire ग्रान्तरिक स्वायचता Internal autonomy आयब्ययविभाग Finance department हजारेदार Lesee उच्चवर्ग तंत्र Aristocracy उपरापनः Sub-feudatory उपायन Tribute एकारमक राज्य Unitary state केन्द्रीय लोक-सभाः Parliament कोषाध्यद्य Treasurer खरहणी Tribute खनक व परिवारक Sappers and miners खरोददार Consumers नाजराज्य Republic चिक्तिसापश्य Red cross

जनराज्य Tribal state तच्य Sculpture धाती Trustee दायित्व Obligations इत Ambassador दतावास Embassy धर्मनिगडितराज्य Theocracy नौरेना Navy पहेदार Lesee पजातंत्र Democracy प्रतिनिधि पद्धति Representative government त्रभुराज्य Sovereign state पादेशिक राज्य Territorial state शासन Divisional प्राटेशिक administration भूस्तरशास Geology मह इप्रवि Chief of the General Staff मित्र Ally मृत्यांकन Evaluation रणभाण्डागारिक Quarter Master General राजमहल विभाग Palace department राज्यसंख Federal state
राष्ट्रीयता Nationality
विधान Constitution
विधिनयम बनाना Legislate
विशेषाधिकारी वर्ग Privileged class
विश्वस्त Trustee
वैधानिक व्यक्तिस्व Legal personality
व्यवहारविधान Administration of
law

शिक्तसमता } Balance of power शासन Firman

शासनकार्यालय (केंद्रीय) Secretariat शासन विभाग Department संपच्चित्रण Forfeiture संमित्रित कुटुंग Joint family संमित्रित राज्य Composite state सशस्त्र तरस्थता Armed neutrality सहमतिसिद्धान्त Theory of contract सामन्तराज्य Feudatory state सार्वजनिक निर्माण कार्य Public works सुरिह्नत कोश Reserve fund

स्थायी कोश Reserve fund

#### विशिष्टार्थंक शब्दसूची

#### अप्रेजी-हिंदी

Administration of law व्यवहार विधान Allies far Ambassador द्त Aristocracy उच्चजनतंत्र Armed neutrality स्थान तटस्थता Balance of power शांक संतुलन, शक्ति तला Chief of the General Staff महाब्युहपति Composite state सम्मिलित राज्य Constitution विधान Consumers खरीददार नागरिक Democracy प्रजातंत्र Department शासन विभाग Dethrone अपदस्य करना, राज्यस्यत करना Divisional administration प्रादे-शिक सरकार Embassy दतावास

Evaluation महबादन

Federal state राज्यसंब

Feudatory state सामंत राज्य

Finance department आयव्य विमाग Forfeiture eq egg Geology भृस्तरशास्त्र House of Lords अमीर समा Internal autonomy स्वायत्तता Joint family समिलित कुटुंब Laisses faire अइस्तचेप Laws विविनियम, कानून Legal personality वैवानिक व्यक्तित्व Lesee असामी, पहेदार, इचारेदार License श्रनुमतिपत्र Nationality राष्ट्रीयता Navy नौधेना Obligation दायित्व Palace department महल विभाग Parliament केन्द्रीय लोक समा Privileged class विशेषाधिकारी वर्ग Public works सार्वजनिक निर्माणकाय Quarter Master General vm-भांडागारिक Red cross चिकित्सापथक

Representative government प्रातिनिधिक सरकार
Republic गणराज्य
Reserve fund स्थायि कोष
Sappers and miners खनक और परिसारक
Sculpture तद्भण कला
Secretariat केन्द्रीय शासन कार्योळय
Semi-religions अर्धधार्मिक व अर्ध लोकिक
Sovereign power प्रभुराज्य

Sub-feudatory उपसामंत
Territorial state बादेशिक राज्य
Theocratic state बर्मनिगडित राज्य
Theory of contract सहमति
सिंदांत, इकरारनामा
Treasurer कोषाध्यद्ध
Tribal state गणराज्य
Tribute खंडणी, उपायन
Trustee थाती, विश्वस्त
Ultimatum अंतिमेत्थम्

Unitary state एकारमक राज्य

#### काल-सूची

इस अंथ में अनेक स्थलों पर विविध अंथ, राजा, गणाराज्य और काल खडों के निर्देश आये हैं। इतिहास-अनिभन्न पाठकों के किये उनके काल इस सूची में श्रकारानुकम से दिये गये हैं। कोष्ठ में (अं) अंदाज का संक्षेप है।

अग्निपुराण धरिनमित्र शुंगराजा भजातशञ्ज राजा अधिकायेज राजा अथवं वेद काल अमोधवर्षं तृतीय, राजा भर्यशास कौटिलीय अशोक **आचारांगस्**त्र उत्तर संहिता प्रथकान **उपनिष**रकाळ ऋ खेदकाल कडफायमेस द्वितीय, राजा कनिष्क राजा कण्वराजवंशकावा कामंदक नीतिसार, ग्रंथ कालिदास क्षाणराजवंश काळ सारवेक राजा गगवंश काल ( मैस्र का ) गहरवाल राजवंश काछ गुद्दफर ( गोंडोफानेंस ) राजा गुसयुग काक गुप्त सम्राठी का काक

ई० ४०० (अं०) ई० पू० १५० ( अं० ) ई० पू० ४९०-४७० (अं०) ई० पू० २१ ( अं० ) go yo 2000 ( 80 ) \$0 688-E06 go To 300 ई॰ पु॰ २७३-२३२ ई० पूर रेवन ई० पूर २०००-१५०० ( अं० ) ई० पू० १०००-६०० ( अं० ) है जि रंग्नि १४०० ( अंग ) ई० ६०-७८ ( अं० ) ई० ७८-१०५ ( ग्रं॰ ) ई० प्० ७४-२४ ( अं० ) ई० ४०० ( अं० ) ई० ४०० ( ग्रं॰ ) ई० ४०-२४० ई० पू० १४० 美0 800-2000 ( 刻0 ) इं० ११९०-१२०६ इ० २०-४५ ह्व इ००-६०० ई० ३१६-४१०

गुर्जर-प्रतिहार वंश को छ भीक राजवंश काल चंदेळ र।जवंश चंद्रगुप्त द्वितीय (गुप्त) चंद्रगुप्त मीर्थ चालुस्य राजवंश (बदामी) चालुक्य राजवंश (क्रव्याणि) च लुक्य राजवंश ( वेंगी ) चाहमान राजवश चुत्छव्या प्रथ चेदि वंश काक चोळ राजवश काळ चौलुक्य राजवंश काल जातक समाजस्थिति काळ दीवनिकाय ग्रंथ धर्मसूत्र प्रथकाल नंदराजवंश काल नहपाण राजा नारद स्मृति निवंध प्रथकाल पतंजित ग्रंथकार परमार राजवंश काळ पशियन स्वारी पुरायोां का युग पुष्यमित्र शुंग पूर्व मोमांसा ग्रंथ बाईस्पाय अर्थशास्त्र बुद्धनिर्वाण काळ बाह्मण प्रथकान भोज, परमार राजा भोज, प्रतिहार राजा मनुस्मृति

ई० ७७५-१००० ई० पू० १९०-६० ई० ९००-१२०० 夏0 ま20-868 इ० पु० ३२०-२९५ ई० ५५०-७५० इ० ६७४-३१४० ई० ६१४-१२७० इं द्रादश शतक ई० पूर ४०० ई० ६५०-१२०० ई० ६००-१२०० €0 650-1500 ई० पूर ५०० ई० पू० ४४० ई० पू० ६००-२०० ई० पू० ४००-३२४ ई० १००-१३० ई० ५०० ( श्रं० ) ई० १०००-१६०० ई० पु० १५० ( अ० ) ई० ६५०-१२०० ई० पू० १११ ( अं० ) ई० ४००-८०० ( अ० ) ई० पू० १९०-१६० (अं०) ई० पू० १४० ( अं० ) ई० ८०० ( अ० ) ई० प्० ४८७ ( अ० ) ई० प्० १५००-८०० ( अं० ) ई० १०१५-१०४१ ( सं० ) ई० ८४०-८९० ( ग्रं० ) ई० पु० १०० ( अं० ) महाभारत प्रथकाल महाभारत युद्धकाक मिनंदर राजा मेगॅस्थेनेज मीखरि राजवंश काव मौयराजवंश काळ याज्ञवल्क्य स्मति यादवराजवंश काल युभान क्वांग, चिनी प्रवासी यूनानी राजवंश काछ यीधेय गणराज्य राजंतरंगिया ग्रंथ रामायणप्रंथकारू राष्ट्रकूट वंश काल रुद्रदामन् , शकराजा बिच्छवि गगराज्य वाकारक राजवंश काल वैदिक काल, प्रवंशंह वैदिक काल, उत्तर खंड शक-कुषाण राजवंश काल शाक्य गणराज्य शुंगराजवंश काल शुक्रनीति समुद्रगुप्त राजा सातवाहन राजवंश काल ह्यान राजा हगाम्ब राजा हर्षवर्धन राजा

ई० प्र ३०० ( अं० ) ई० प्० १४०० ( अं० ) ई॰ पू॰ १६०-१४० ई० पु० ३०० ई० ४४०-६०६ ई० प्० ३२०-१८५ ( अ० ) ई० २०० इं० १०६०-१२१० ई० ६२९-६४४ \$0 do 180-60 है प्र १५०-ई० ३५० ई० ११४० ई० प० ५० ई० ७१०-६७७ ई० १३०-१६० ई० पूर ६००-ई० ३५० ई० २५०-५०० हे॰ पू॰ २५००-२००० (isio) है॰ पू॰ २०००-१५०० (अं०) ई० पूर १००-इ० ३०० ई० पूर १०० ई० पू० १८४-७५ ई० ८०० (अं०) ई० ३३०-३७५ ई॰ पू॰ २००-ई० २०० हुं पूर् ५१ ( भं ) ई॰ पू० २५ ( अ० ) ह्रं ६०६-६४८

# संचिप्त-ग्रंथ-नाम-सूची

श्रथं. भर्थशास्त्र, कौटिस्य कृत अ वे. भयर्ववेद ब. स. रि. अर्के ऑलॉ जिंकल सर्वे ऑफ ंडिया, पॅन्युअल रिपोर्ट ब. स. वे. इं. अक्ने अलिक सर्वे अलि वेस्टर्न इंदिया भापस्तंब धर्मसूत्र आ. घ. सु. बा. श्री. स्. श्रापस्तंब श्रीतसृत्र इं. अ इंडि. अंटि. इंडियन ऑटिनवेरी डे. हि. का. इंडियन दिस्टॉरिकक कॉर्टर्ली डं. म. प्रे. इन्स्किप्शन्स फ्रॉम मदास प्रेसिडेन्सी, रंगावार्य द्वारा संपादित, तीन भाग, ईिखयट हिस्टरी श्रॉफ इंडिया श्रॅज टोल्ड बाय हर भीन हिस्टो-रियन्स. इक्टियट और डौसन द्वारा संपादित ऋ. वे. ऋग्वेद Ų. į. एविद्याफिया इंडिका पि. इंडि. V. 5. प्रविग्राकिया कर्नाटका पे. बा. पेतरेय बाह्यग €I. e. काउक सहिता गौ. घ. स. गौतम धर्म सूत्र ब आ, हि, रि. सो. जर्नक ऑफ दी आंध्र हिस्टॉरिक्ळ रिसर्च सोमायटी ज. ए. सो. बे जर्नेक ऑफ दी प्रियाटिक सोसायटी क्रॉफ देंगाल ज. बॉ. बॅ. सॉ. ए. सो. जर्ने अफ दो बाँबे बँच ऑफ दी सॅयक प्शियाटिक सोसायटी ब. रॉ. ए. स. जनंब ऑफ दी शॅयक एशियाटिक सोसायटी

3118

WI.

जे. मा. ते. ब्रा. ते. सं. पं. बा. पू. भी. बृ. उप. बी. घ. स्. बी. श्री. सू. भांडारकर, सूची म नि. म. भा. मे. ज. स. इ. राज. शब्दकूट राष्ट्रकूटों का इतिहास व. घ. स् वा. सं. श. प. ब्रा হ্ম. সা. सी. इ. इ.

सी. इं. प. रि.

जैमिनीय ब्राह्मण
तैनिरीय ब्राह्मण
तिन्रीय संहिता
पंचविंचा ब्राह्मण
पूर्वमीमांसा
बृहदारण्यक स्पनिषद्
बोधायन धर्म सुन्न

बोधायन श्रोत स्त्र लिस्ट भॉफ ब्राह्मी इन्स्कीप्यान्स अ फ नॉदेने इंडिया मिडिसम निकाय महामारत मेमॉयर्स भॉफ दि अर्केश्रॉलॉजिक्ट सर्वे ऑफ इंडियो

राष्ट्रकूटाज भंद देशर टाइम्स,

वशिष्ठ धर्मसूत्र वाजसनेयी सहिता

राजतरगिणी

शतपथ बाहाण

सीथ इंडियन इन्स्क्रिपधन्स् , हुक्ट्श द्वारा संपादित सीथ इंडियन प्विमेकी रिपोट्<sup>र</sup>स

### आधार भूत ग्रंथः संस्कृत, प्राकृत न पाली

ऋग्वेड यजुवेंद भथवंवेद काठक संहिता तैत्तिरीय संहिता पेतरेय बाह्यण शतपथ बाह्मण पंचविंश ब्राह्मण तैतिरीय ब्राह्मण बृहद्राययक उपनिषद् आपस्तंब धर्मसूत्र गौतम धर्मसूत्र विशय धर्मसूत्र बौधायन धर्मसूत्र विष्णु धर्मसूत्र FIRTU महाभारत मनुस्मृति याज्ञवद्वय स्मृति नारद स्मृति

कौटिकीय धर्थशास्त्र, शामशास्त्री द्वारः संगदित कामंदकीय नीतिसार नीटकठ-राजनीतिमयुख मित्र मिश्र, राजनीतिप्रकाश शक्रनीति व्यमिषुराग मार्कंडेय प्राया दीव निकाय चुलुबाग दिब्यावदान जातक आचारांग स्त्र भशाक के शिकालेख प्रतिज्ञायौगंचरायण मृब्छ्कटिक रघुवंश माळविका शिमित्र पं वतंत्र राजतरंगियो कथामहित्यागर

#### अंग्रेजी अंथ

Books on Hindu Polity.

K. P. Jayaswal, Hindu Polity, Calcutta, 1924, (First Edition).

J. J. Anjaria, The Nature and Grounds of Political Obligation in the Hindu State, Longmans, Green and Co. 1935.

H. N. Sinha, Sovereignty, in Ancient Indian Polity, London, 1938.

Beni Prasad, Theory of Government in Ancient India, Allahabad, 1927.

Beni Prasad, The State in Ancient India, Allahabad, 1928.

A. K. Sen, Studies in Ancient Indian Political Thought, Calcutta, 1926.

N. C. Vandyopadhyaya, Development of Hindu Polity and Political Theories, Calcutta, 1927.

N. N. Law, Aspects of Ancient Indian Polity, Oxford, 1921.

N. N. Law, Inter-state Relations in Ancient India, Calcutta, 1920.

S. V. Visvanathan, International Law in Ancient India, Longmans, Green and Co., 1925.

D. R. Bhandarkar, Some Aspect of Ancient Indian Polity, Benares, 1929.

V. R. R. Dikshitar, Hindu Administrative Institutions, Madras, 1939.

V. R. R. Dikshitar, Mauryan Polity, Madras, 1932.

R. C. Majumdar, Corporate Life in Ancient India, Calcutta, 1932.

R. K. Mookerji, Local Self Government in Ancient India, Oxford, 1920.

U. Ghosal, A History, of Hindu Political Theories, Calcutta, 1923.

U. Ghosal, Hindu Revenue System, Calcutta, 1929.

U. Ghosal, History of Public Life in Ancient India, Calcutta, 1944.

L. V. Rangasvami Aiyangar, Some Aspects of Ancient Indian Polity, 2nd Edition, Madras, 1935.

#### Epigraphical Works.

Epigraphia Indica. Indian Antiquary.

Epigraphia Carnatica, Edited by Rice, Bangalore.

South Indian Inscriptions, 5 Vols., edited by Hultzsch.

South Indian Epigraphical Reports, Published by Madras Government annually.

Fleet, Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. III, (Gupta Inscriptions), Calcutta, 1888.

Hultzsch, Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. I, (Ashoka Inscriptions) Oxford, 1925.

V. Rangacharya, Inscriptions from Madras Presidency, 3 Vols. Madras 1919.

Archaeological Survey of India, Annual Reports.

#### General Works.

Maccrindle, Invasion of India by Alexander the Great, West Minister, 1896.

Maccrindle, Ancient India as described by Megasthenes, Arrian etc. Calcutta, 1906.

T. Watters, On Yuan Chwang's Travels in India, London, 1904.

Elliot and Dowson, History of India as told by her own historions, Vols, I-III.

Rhys Davids, Dialogues of the Buddha.

A. S. Altekar, Rashtrakutas and their Times, Poona 1932.

A. S. Altekar, Education in Ancient India, 1943. Benares.

A. S. Altekar, Position of Women in Hindu Civilisation, Benares, 1938.

A. S. Altekar, Village Communities in Western India, Bombay, 1927.

R. Fick, Social Conditions in North-Eastern India at the time of the Buddha, tr. by S. K. Maitra, Calcutta, 1920.

R. C. Majumdar, History of Bengal, Calcutta, 1943.

R. C. Majumdar and A. S. Altekar, The Age of the Vakatakas and the Guptas, Lahore, 1946.

K. A. Nilkantha Shastri, Studies in Chola History and Administration, Madras, 1932

R. N. Mehta, Pre-Buddhist India, Bombay, 1939.

Macdonel and Keith, Vedic Index of Names and Subjects, London, 1912

## वर्णानुक्रमणिका

सूचना-संख्या पृष्ठ-संख्या निर्देशक है

(四)

अन्पटलिक १३७

अचावाप १११

अमहारिक १५१

श्रंगरच्क १५०

अतिहिक्त कर १०३

धयर्ववेद में राज्यविषयक उल्लेख १-२

अधर्म युद्ध ्१५-६

अधिकाश्मिहरार १७३

अधिकारियों की सर्ती १११

अनुप्रह १३

अंतर-राष्ट्रीय संबंध, २१४-५ युद्ध-घोषणा २१६-२२०, युद्धकाळ में

२२१, शांतिकाल में २२१-३

अंत्यज्ञ, २४५

भ्रम्धक वृध्यि गणराज्य ७७

अमारय, मालमंत्री १२१

भमात्य परिषद्, मित्रमंदल से नोचे। ११

भ्रम्बष्ट राणः।इय ७७

अर्जुनायन राणराज्य ७५

अर्थशास्त्र, रसका काळ विषय और कर्ता, प.७, रसमें निर्दिष्ट पूर्वग्रंथ

कार २-३

अशोक की मंत्रिपरिषद १२३

अरवपति १४१

अहस्तच्चेष का तत्व ३४

(आ)

श्राक्रमण की अनुनति २१५-६

भाजुवशिकता, अधिकारियों में, १२६

भांतरिक स्वायत्तवा, सामंतीं को २२६-७

भाष्रवृक्षा स्वामितव २१०

आयब्यय विभाग १४४-६

आयुधागाराध्यद १४२

श्रावसधिक १५०

भारगयाधिकृत १४४

(夏)

इन्द्र, अंथकार २

(8)

उत्तरकुरु, २०

उत्तरमद्र, २०

उपसामंत, २२६

डर, ग्रामसभा १७३

उशनस्, ग्रंथ €ार, ३

(玉)

ऊसर मृमि का स्वामित्व २०६

(汞)

ऋग्वेद में राज्यविषयक डल्लेख १

(आ)

औद्रंगिक १४४

(事)

कञ्जुकिन् १४१ कन्या और राजपद ५३ कमळवर्धन का निर्वाचन ४१ टि. कम्बोज गगाराज्य ७५

कर, वैदिक काल में, १८७-६; कर-व्यवस्था के मूल सिझांत १९०-१, २४३; करविमुक्ति के कारण १६१-२ विविध कर, १६४-७

करियाक १६६ कारवायन, ग्रंथकार ३ कानून, बनाने का अधिकार १०६-८ कामंदक नीतिसार ६ कारुकर २०३ कुणिद, गणराज्य, ७४ कुमारामाश्य १५१ कुषाया राजाओं के पूर्वजमंदिर ४७ कूटयुद्ध, २१६-२२० केन्द्रीय कोकसमा, गणराज्यों में, ७६-८७, नृपतंत्र में ११, वैदिक युग में, ६१-६ केन्द्रीय सरकार, उसके द्वारा शांतादि सरकारों का निरोत्तण, १३७-सहद होने की आवश्यकता२४७-= कोड्पाल, १४२ कोषाध्यस्, १२१

कोषविमाग, १४४

कौटिरय — उसके द्वारा पूर्व झंधकारों का उन्नेख २-३ कौयपदंत, ग्रंथकारक, ३ कौयडोपरथ, गयाराज्य ७५ कौस्क, १६६ कौद्धिम, गयाराज्य, ७४ च्चा, एक रती १११ च्चिय, ब्राह्मयोंकी भपेचा डनकी स्थित ३१-२, उनका धर्म, २१६ चुद्रक माजव संघ, २०, ६९-७० खनाना का स्वामित्व, २०६१०

स्रनक परिसारक, १४६ स्रान विभाग, १४७, स्रानोंपर,कर,२०४ स्रनका स्वामित्व, २०९ स्रारवेळ, और पौरजानपद सम्रा, ६६ (ग)

गयातंत्र, ससके अस्तिस्व के प्रमाण

६९-७०, प्रजासत्ताक या या न,
१७०, १, ससके बासक प्रायः

द्वित्रय ७२; वेदकाल मे ७३;
पंजाब मे ७४, सिंच-राजपुताना मे
७८-७६, सत्तर विद्वार और गोरखपुरमे, ७९; उसकी शासनपद्वित,
७९-८८; केन्द्रीय सभा और दसके
अधिकार, ६०-३; ससमे वाद्विवाद
और दक्षवंद्र), ८२-४; वाद्विवादपद्धित, ९५; ससका मंत्रिमंडल
६६; ससमें वशैक्यभावना ६५-६;
कैसे नष्ट हुए ८६-७,२३१-४,
२६६-४०।

गियाकाध्यत १४६ ग्रमकाळीन शासनपध्दति २३६-७ गोभध्यत्त १४४ गोकुलिक १४४ गोपाल राजा, उसका निर्वाचन ४०. गोविकतंन, एक रत्नी १।१ गोव्यच्छ, एक रत्नी १११ गौरिवारस प्रंथकार २ ग्रामपंचायत, और सुखिया १६८-७०, उसपर केंद्रीय सरकार का नियं-त्रण, ६७,१८१-६; ससका विक स १७१-२: उसके अधिकारोंमें वृद्धि २३७; चोक देश में १७४-४; उत्तर भारत में १७७; कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात में १७८: गुप्त काल में १७२-३; उपसमितियाँ १७६: उनके समासदों की योग्य-ता और जुनाव १०४-५: उनके विविध अधिकार १७**⊏-**⊏३. २४२; छनके आमदनी के स्रोत ् १८२-=३, कार्यवाही का प्रकार, १८३-८४; सफलता के कारया \$ - 585

प्राप्तमहत्त्वर १७३ प्राप्तमहाजन १७१ प्राप्तमुख्या १६८-७० प्राप्तम्बस्य १६८-७० प्राप्तमस्या और मुख्या १६८-७० इसके समासदों की संस्था १७१; इसकी समा और अधिकार १७२, १८३-८५ (日)

घोटमुख , प्रंथकार ३

(ㅋ)

चक्रवतिंपद २४६-७ चारायण, मंथकार ३ चिकिस्सापथक, १४३ चुंगी १४७,२०२-३

चुनान, बोकसमाके सभासदें। का ९५ ग्राम पंचायतें। के सभासदें। का १७४-६

चोरी, उसकी हानि के लिये राज्य की जिस्मेदारी १०३-४, १४९

चोरोद्धरिणक १४९

( ज)

जंगळ का स्वामित्व २१० जनशाव्य, २१-१,२३१ जन्मन् ७ जनकि गणराज्य ७५

जानपद धर्म, रुढव्यवस्थार्थे,का**नुन नहीं** ९९-१००

जिला पंचायत १६० जिला शासन ११ ६-६७ तदा, एक रत्नी ११९ तहसीळ शासन १६१-२ त्रिगर्तपट गयाराज्य ७१

(引)

दंबकि गणराज्य ७१ दंबनायक १४२ दंबपाशिक १४५ दशापराधिक १४६ बानपति १५० दामिया गयाराज्य ७५ दिविकाय की अनुमति २१४-८ दीव्यनिकाय, राज्योत्पति पर ११-१६ दुर्गापास १४२० दुर्गाच्यच्च १४२ दुर्गाच्यच्च १४२ दुर्गाच्यच्च १४२

२२२; डनकी ब्रवस्यता २२३ देवपुत्र ५७, २३५ देवशित्व, राजाका ५५-६; ब्रन्यदेशीं से ६०

देशधर्म, रुटस्यवस्थाएँ, कान्त नहीं, १६-१००

दौरा, निरीचणार्थ १२७-८ द्वांतिक १४७ द्वारपाक १४०-१४२ द्वेराज्य १६,२३४

(日)

धर्मनिगडित राज्य २६-३२ धर्ममहामास्य १२०,१५० धर्मयुद्धनियम, २१६-२२० धर्मरत्युष ६१ धर्मसंवर्धन, राज्य का उद्देश्य होने

से परियाम २७-८ धर्मांकुंश १२१ धर्मासनाधिकरण १४८ अब १४१

\_ ( न )

नमक कर २०४ नागरिक, उनकी श्रेषी ३८, उनमें से २५

विशेषाधिकारी ६८, और विदेशी

३६ और समानाधिकार ६०-२

नाडू १६६

नारदस्मृति और स्वर्णयुग १३

निरीचण दौरा १६०-८

निस्शर्थ दूत २२२

नीतमयूल १०

तृप, देखो राजा

नौसेना १४६

न्यायकरणिक १४८

न्याय दानाधिकार, प्रामपंचायतों के

१७६-८० न्याय विभाग १४८ न्यायाध्यत्त १४८

नवविधान; मारतका और प्राचीन भारतीय शासनवद्घति; राजाओं की कोकसभाधीत होने की आव-वयकता २४१-२; ग्रामपंचायतीं वे विस्तृत श्रीकार व उरवन्त २४२ -३; ध्यवसायों को अधिक स्वतंत्र ता २४४; जन्मसिद्ध विशेषाधिकार का निभूतन २४५; सुरह केंद्रीय सरकार की शासक्यकता २४७

वंचमण्डली १७२ वंडित धर्ममंत्री १२०, १४६-४०, २१४-७

पण्याध्यद्ध १४७ परवाष्ट्रमंत्री ११६ पराशर्, अंगकार ३

परिमितार्थदूत २२२ पश्रपालन पर कर २०४ पाटिलपुत्र का शासन १६६-७ पाश्चिति निर्दिष्ट गणराज्य ७१ पाधक १५१ पाळागळ, एक रत्नी १११ पिशुन, एक ग्रंथकार ३ प्रापंचायत १६४-६ पुरवाळ १६३ पुरशासन १६३-४ पुरुकुत्स राजा, अर्धरेव १६ पुरोहित, इसका राज्यशासन पर असर ३१-२,११६-७ उसका मंत्रिमंदलमें स्थान ११०; इसका कार्य ११६-७ प्रस्तपाळ १६३

वोबिटिक्छ एजंट २२४-५

वीरजानपदसभा, न रामायण में ९७-मः व स्मृतियों में, ११-१००; न मृब्बुकटिक में १०३, उसके तथा-कथित अधिकार १०२-४; शिका-हेलां में धनुहिङ्खित १०४-६

प्रतिनिधि, एक सन्नी ११८

प्रतिनिधि,प्रभुराज्य का नियंत्रक २२४-४;

सामर्तो के २२४ प्रतिनिधि पद्धति २३=, २४१ प्रतिहार १५० प्रधान मंत्री ११८ प्रमाता १४५

प्रभुराज्य वैदिक काल में एसडे सामंती से सबध २३४-२; इससे सामती मण्डल पद्धति २१६-७ कर्मा 💯

का नियत्रंण २२४-२९ प्राव्विवाक १२०,१४८ प्रांतीय शायन १५४-७ प्रावेशिक विभाग १४३-४ प्रादेशिक सरकार १४७

बिक १८८ बहदंत, एक ग्रंथकार ३ बहुधान्यक, यीधेयों की शास्त्रा ७ ह बुद्ध का गणों को उपदेश १४० बुनकरों पर कर २०४ ब्रह्मगुरु गणगाउच ७५ ब्रह्मा, एक प्रंथकार २ 🔧 🦠 🚴 बाह्मण, डनका राज्यपर असर ३०.२

चुत्रियों की अपेदा हमकी स्थित ३१-२; उनकी कानूनी सहक्रियतें ४०-१, २४५; करों से विस्कि १९२-: उनको मन्नि संहक से संख्या ४१

सहाइवपति १४१ मागधुक् १८८ अकि १४१-५४

सनोपात्तप्रत्याय २०५

भृतिकर, उनका दर १९४६ उसवे लूट १६६; भनाज में या नगद में 184-७; न चुकाने के बिये फब

भमित्वामित्व १९८-२०१

(म)

मताधिकार ८०-१;६५;२३८ महगणगाज्य ७६;१४४ मधुक वृष्य स्वामित्व २१०

मंत्री, सनका महत्व १० द-११० उनकी
योग्यता १२४-६ सनके अधिकार
११४-६ उनमें कार्य विमाजन
११६ सनके परिषद् की कार्यप्रणाकी १२२-४ सनके राजाजाओं
का फेर-विचार १२३-४ उनका
राजा पर प्रमाव १२९ ३२ उनकी
नियुक्ति १२८-६; विमागाध्यत्ती
से प्रवक् १३९, सनमें प्राहाणों
की संख्या १२८ कुळ मंत्रियों की
संख्या ११४-५ विविध मंत्रियों के
विमाग ११६-२१; सनके दर्शक
१२८ वैदिक युग में ११०११
ऐतिहासिक युग में ११२-३,

मंदिर संपत्ति प कर १९३-४

मयौदा धुर्य १४२

महत्तर १७३

महत्तर १७३

महत्तम १७३

महत्तम १७३

महत्तम १७३

महाजपटिकक १३६

महाजनसंमत, प्रथम शाजा १३

महाप्रचंदद्दनायक ११६, १४१

महाप्रचीहार १४०

महाप्रचीहार १४०

सहाभारत, शांतिपर्व में राज्यशास्त्र प्रणेताओं का उल्लेख २, उसमें चर्चित राज्यशास्त्रविषय ४ राज्योत्पत्ति पर ११ और तृपनिर्वा-

महामात्र १५१ महामास्य १२० महामुद्राध्यत्त १४४ महाव्यृहवित १४१ महाश्वपति १४१ महासंधिविप्राहकः। १६; १४० महासेनापति १४१ मास्य न्याय १२ मालमंत्री १२१; १४४ माछव गणराज्य २१, ७६.७ मित्र २४ South Starte Land मद्राषिप १४० मोकवळ १४२ मौर्ययुग शासनपद्धति २३३ ९४ युक्त ६ युद्धकारण २१४-११६ युद्धमंत्री ११९ युवराज, उसकी शिखा ४२; रतिमंडक में ११७

यूनानी इतिहासकार और गर्या तंत्र ६१-७० वौधेय गणराज्य ७५-६

(₹)

रज्जुक १४७-म रणमांबागाराधिप, १४२ रत्नी ११०-र रबकार, पुकरानी १११ त्याधिपति १४१ राजकि १४१ राजज्योतिषी १४१ राजनीतिकांड १० राजनीतिमकांश १० राजमहक्तिमाग १४० गानवैद्य १४१ शुक्रा, उसके पद की उत्पत्ति ४६-७ इसकी निर्वाचन प्रथा ४८-५१ उसके अधिकार व प्रतिष्ठा ४९-६ उसका देवत्व ४६-६०, २४१ धर्मरहा ६६९ प्रजासेवक ६२ प्रजायाती या विश्वस्त इर उसके अधिकारी का नियंत्रण

£\$ 0; 288; 288 राज्य, असके अत्वतांपर विचार ११-६, के प्रकार १७-११, इनके संव २०, संस्मितित राज्य प्कात्मक २१ जनहितकारी संस्था, न इमनकारी २२ इसके अंग २३ भाषिक्य, धमेंक्य कहाँ तक ऐत्य के लिये बावश्यक २६, उसके हहेश्य २७ द कहां तक धर्म निगहित था ७ उसका कार्यदेवत ३३-६७ और व्यक्तिगत स्वतंत्रता ३५ ३६ उसके मति कतंव्यों के बाधार ४४-५ उसके कानून बनाने का अधिकार १६६-८ उसके भागके स्रोत १९०-२०६: दसका ध्यमका

दौरा २११-१३ उसका स्थार्यः कोष २१३-१ राज्यशास्त्र के निर्माता २, उसके मीकिक अंथों के उत्तरकाळ के अभाव ७-६

राज्यसंघ २१ गाज्यापहरण ११७-८; २२८ रामचंद्र पत, अमात्य १० रामायया और नृपनिर्वाचन ४९-५० और पीरजानपद समा ९७-द

रानी, उसके अधिकार १४; रिनमंड व मे १११ शष्ट्र, एक राज्यविमाग १५७ रुद्रवर्मा ४०-१, ७६ रूसो १२ के जिल्हें २२४-५

किरह्वि गयाराज्य २१, ७८-२ लप्त अंथ, राज्यशास्त्र पर २-४ लेखक १३५-६ काँक, र ज्योखित पर १४-१४ बोक्समा, केंद्रीय ६२-६; प्रादेशिक १५८; जिलेमें १६०, तहसील में १६३; पुर्त में १६५-७

(a) वर्णं व्यवस्था, इसका शासन पद्धति पर शसर ३०-२, २४५ वस्त्राध्यद्ध १४६ वाणिज्यविभाग १४७ वातव्याधि, एक मंथकार रेक्ट्राइकार

वारिक १६४ विकेंद्रीकरण का कारण व परिणास २४२ विजिगीषु को आक्रमण की अनुमति २१५-७

विदय, विद्वस्तमा ६२ विदेशियों की स्थिति व अधिकार ३९-४० विदेशियों की स्थिति व अधिकार ३९-४० विद्रोह की अनुमति ८, ६४ विधवाओं के उत्तराधिकार २११ विधिनियम-बनाने के अधिकार १०६-८ विनयस्थितिस्थापक १२०;१४० विभागाध्यन्त, विविध, सनके कार्यं

कीर नाम १३६-५०
विरत्नस्, प्रथम राजा १२
विवीताध्यद्ध १४४
विश् १७-८; २३१
विश्पति २३१
विषयपति १५९-६१
वृद्धस्थामिग्व २१०
वृत्तलेखक १३८
वृश्चित गणराज्य ७१
वैदिक शासन, पद्धति २३१-२
वैराज्य १८-२०, ७३
व्यय, राज्य का २११-३
व्ययकरण, महामान्न, १४६
व्यवसाय, राज्यद्वारा चलाये जाने वाले

(श)

शककुषाया राज्यपद्धति २३५ शक्तिसंतुकन २१६-७ शास्य गणराज्य ७८
शासनकार्यांकय १३६-६, २३४-४; इसका निरीक्षण और नियंत्रण कार्यः
१३८-; उसके संदेशवाहक १३८
शासन संस्थाओं के प्रकार १७-२१
शासनहर दूत २२२
शिरोरक्षक १४०
शुक्रनीति १-१०
शुक्रवाध्यक्ष १४७
शुक्रां पर अन्याय, २४५
शीक्ष्रिक २०२
श्रमणसहासाय १२०; ११०
श्रोत्रिय और कर १९२-३

(P)

षष्ठाधिकृत १४५

(स)

सचिवायन तंत्र १३० व्यक्त संदेशवाहक १३८ सस प्रकृति २१-५ सर्होग राज्य २३

सभा, वैदिक ११-२; अग्रहार ग्राम की १७३-४

समय, राज्यन्यवस्थायें, कानून नहीं १००-१

समाहती १८८

समिति, वैदिककाळीन कॅद्रीय छोक-समा ९०-३; उसके अधिकार ६५; उसका तिरोधान २३३ २४१

उसका तिरोधान २३३, २६१

संभारप १४० समिक्ति कुटुन पर्दात व राज्योत्पत्ति १६ संमिक्ति राज्य २१ रमार्, उसका सामतो पर नियंत्रण २१४-६; इस पर सामंती का प्रमाब २२८ सहस्रति सिद्धान्त १४ सामत, उनके प्रसुराज्य से संबंध, वैदिनकाल में, २१४-५; उनकी श्रीचा २२३ ४; हनपर सम्राट् का नियंत्रण २२४-८, २४६-७ साम्राज्य का स्वरूप २१७-१८, २४६-७ साहणीय १४२ सीमाक्मकर १४३ सीमाप्रदाता १४१ सुराकर २०४ स्राध्यत् १४६ सुलेमान २१८, २२४ स्वर्गाध्यच १४७

स्त, रितमंडक में १११
स्त्राध्यक् १४६
सेनापति, रितमंडक में १११, १४१
सेनाविभाग १४१-३
सोधगेहाभिप १५०
रित्रयाँ और राज्य संचालन ४३-४
स्थायी कोष २१०-१
स्वदेशाभिमान ४२-४४
स्वराट् ७३
स्वराज्य १=

इट्रपति १४७ इपं राजा और निर्वाचन २०१ इस्यम्बद्ध १४१ हिरयम सामुदायिक १४५ हाँडस, राज्योत्पत्ति पर १४१४,

# शुद्धिपत्र

á <b>a</b>	पंक्ति	গয়ুৱ	गुढ
8	3	के	की
3	8	की	451
9	Ę	हा	हो
9	•	पघानता	प्रधानता
=	9	वक	सेवक
8	१०	आये	आर्थ
१२ पा	द्दिपणी-२, पंकि-२	शज्यं	राज्यं
39		ব	च
99	<b>?)</b>	घमें गौव	धर्मेणैव
१६	२४	वर्णन	वर्णन
१७	शीर्षपंक्ति से	३ निकाछिए	
36	8	संस्था	संस्थाएँ
१५	२६	स्वराज्य	साम्र इय
28	१०	राज्म-सीमा	राष्ट्रय-सीमा
28	२०	दा	वो
28	१८	सयुक्त	संयुक्त
58	२१	शौय	शोय
२३	<b>88</b>	प्रकृतियाँ	प्रकृतियाँ
28	पाद्दिपणी १	विभानों	विमानों
३०	२०	न्नाह्मणां	्त्रह्मणां
34	Ę	सुनगरित	्रुखगठिव

१ स्वरमाला के टाइप घिसे हुए होने के कारण बहुत जगह वे ठोक से नहीं उठे हैं। उन सबका समावेश इस शुद्धिपत्र में नहीं किया गया।

58	पंक्ति	भशुद्ध	शुद्ध
39	२	उडाकर	उठाकर
39	8	यूग	पूरा
77	88	परदेशिया	परदेसियों
80	28	बरन	वरन्
80	28	<b>च्यवस्था</b>	ञ्यवस्था
3)	२८	प्रयत्न	प्रयत्न ।
79	38	वृत्ति	वृत्ति
४२	8	स्राय	साथ
४३	२२	तिरोध	विरोध
77	पाद्टिप्वणी १	९०० १३९-१६०	प्रु १५९-१६०
48	2	बढ़े	बड़े
४६	२०	मस्तिक	मस्तिष्क
40	१०	देवी	दैवी
XS.	१८	वड़े	बड़े
<b>£8</b>	१४	स्कार	संस्कार
FX	१८	के	की
६६	<b>२</b> ४	निमंत्रण	नियंत्रण
६८	۷	यीघेय	यौवेय
37	ዓ	या ज्ञातियाँ	<b>ज्ञा</b> तियाँ
६९	वाद्दिप्वणी-१	<b>मॅक्</b> क्रिं <b>ड</b> ल	२ मॅक्किडढ
90	२५	पारिषद	परिषद
"	,,	हाय	हाथ
98	ર	वग 💮	वर्ग
७२	१३	माने	याने
७३		मेग)स्थीन	मेगास्थोनोस
ত৪	ेपाइटिप्रणो-१ ंपंक्ति-२	ैरा <b>ड्यायेव</b>	वैराडगायैव
७५	8	पार्श्व	परव
હ્ય	4	अपनी	अपना
30	१७	<b>जिनको</b>	জিল্ <b>ড</b> ী
1	Brief to the State of Williams	AND AND AND PROPERTY OF A SECOND	Line to the same to the same and

	पृष्ठ	पंचित	धशुद्ध	शुद्ध
	99	१९	(Repulic)	(Republic)
	ww	26	माने	याने
		वादटिप्पजी-२	लेक	<b>छे</b> ख
	८२		वो	जेप जो
	66	१४ १६	तोक वोक	जा जोग
	99	पंक्ति		
	88	याक <b>२</b> २	<b>ब</b> शुद्ध छोड़े	शुद्ध छोड़
	93		छाड़ स्परि	डपर
	९३ ९६	<b>8</b>	परिवतित	परिवर्तित
			फरब	the second
	99	पादि टप्पणी-२ पंक्ति-२	मृत मृत	<b>फरक</b>
	१०२	88	च्यानिक	मूड वैधानिक
	१०२	ž.	प्रकर	प्रकार
	१०३	१३	मृच्यक्रटिक	मृच्यक <b>िक</b>
	१०३		ने	के के
	800	28		
	308	28	परामश गोविकतन	परामर्श गोबिकतेन
	888	₹ <b>X</b>		
	१२०	88	<b>घंसें महामात्य</b>	धर्ममहामात्य
-	850	<b>??</b>	० स्थापक,	स्था,पक
	850	<b>₹</b> १	सर्व	स्व ः
	१२८	१५	केंद्रिय	केन्द्रीय
	१२९	१६	चुपरि	ऊपर
	१३२	\$\$	शैच्या	शंच्या
	१३३	K	<b>क्तु</b> त्वशाळा	कर त्वशाली
	880	१९	'सभाप'	'संभारप'
	888	হা) গ্ৰণিক	1	<u>ዓ</u> ]
	486		राज <sup>ै</sup> च	राजवैद्य
	885	पाव्हिप्पणी दो के नोचे		3
	880	86	मुनाफा खोरीको	मुनाफाखोरी की
	( ) ( )	२५॥		

**अ**शुद्ध

58

50	14 44	O. W	20
886	पाइटिप्पग्री पं. ३	'आसाम में सप्तम सर	ही में; ए. ई. भा ११.
			पृ. १०७' पही
	पं ४, 'इं. अँ भा	१६. पृ. २०८; इं, सं भा	. ४. पृ. १६०, मा. १०
			प्र. ४७-९' पढो
388	शीर्षपंक्ति		१८९
१४९	88	जिमेदारी	जिम्मेदारी <b></b>
१५०	8	कारवाई	कार्याई
१४१	3	देवात्तर	देवोत्तर
१६१	88	हाता	होता
१६१	१७	मनुका ४	मनुका ४
१६४	Ę	'हिता	संहिता
१६४	१६	₹ .	पुर
१६७	पाद्टिप्पणी-१	Work	Works
१७३	, पाद्दिप्पणी-८ पंक्तिः १	कदि चोल	दि चोड
१७८	२६	<b>म</b> मि	भूमि
168	· 8	खद्वाने	खुदवाने
266	8	वैदक	वैदिक
269	6	पाषण	पोषण
१९१	ધ	भलना	भूखना
१९३	फूटनोट-४	રે. સ.	इ. म.
१९६	२०	<b>भ</b> मिकर	भूमिकर
१९६	२३	विवरणो	विवरण
२०९	3	व्यधिकशां	अधिकांश
288	२६	वैदक	वैदिक
२१७	फूटनोट-१	शहीत प्रतिमुक्तस्य	गृहीतप्रतिमुक्तस्य
<b>२२</b> १		यातयात	यातायात
\$50	8	समाट	सम्राद्
"	<b>88</b>	<b>चतक</b>	<b>च</b> नके े
२३०	- १४	निःपक्ष	निष्पक्ष

88	पंक्ति	D. 1900 - Value 1	
		अशुद्ध	शुद्ध
२३०	२३	क्म	क्रम
२३३	Ę	विकासित	विकवित
99	१२	का। दर्जी	का दर्जी
२३४	२८	कालिय	कोलिये
२३४	28	का	वहा ।
२३४	२५	8	थे
२३६	₹७	जंगलें ।	जंगतों
२३७	२२	दु:ध्परिणाम	दुष्परिणाम
२३९	१३	सुयाग्य	सुयोग्य
२४०	थन्तिम	वघातिक	वैधानिकः
२४१	35	निसंत्रित	नियंत्रित
२४२	88	परिपार्टिका	परिपादी का
79	१९	इसके	इसकी
9)	२३	प्रतिनिधी	प्रतिनिध <u>ि</u>
२४४	अन्तिम	का	को को
२४७	88	बोक	बोग
<b>3</b> 3	२४	था	या

## प्रस्तुत ग्रंथकार के अन्य ग्रंथ

1.	Towns and Cities in Gujarat & Kathiawar: 1926	o. Ot	t of pt
2.	Village Communities in Western India, 1927	"	"
3.	Rashtrakutas and their Times, Oriental		
	Book Agency, Poona 2	Rs.	8-8-0
4.	Education in Ancient India, 3rd Edition		
	(in Press ) Nandkishore Bros. Benares.	Rs.	4-8-0
5.	Position of Women in Hindu Civilisation,		
	Culture Publication House, Benares Hin	du	
1	University, New D/2 1938	Rs,	7-0-0
6.	Silaharas of Western India, Publishers		
	as above, 1936	Rs.	1-0-0
7.	Benares and Saranath: Past and Present,		
	Publishers as above	Re.	1-4-0
8.	Hindu Scriptures and Social Reform 1931		
	Publishers as above		0-4-0
9.	The Age of the Vakatakas and the Guptas,		
-	Motilal Benarasi Das, Lahore,		
	now Benares, ) 1946	Rs.	8-8-0
	In Press		

10. State and Government in Ancient India

11. Catalogue of the Gup coms of the Bayana
Hoard, with 36 Pates.

12. Ancient Indian Numismatics, with about 200 Plates.

